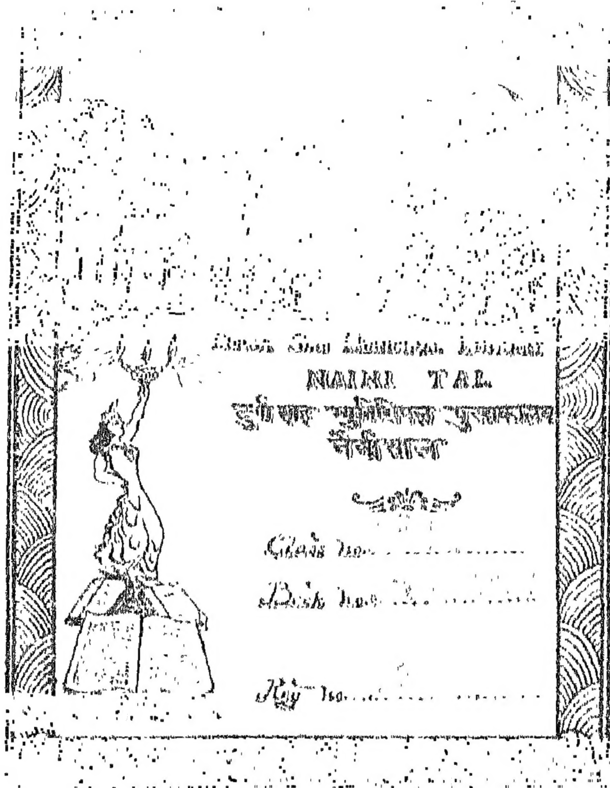

NAINI TAL
नैनीताल
Class No.
Book No.


सुमित्रानंदन पंत

काव्य कला और जीवन दर्शन

संपादिका

शचीरानी गुर्टू एम० ए०

लेखिका 'साहित्य दर्शन', 'कला दर्शन', 'जगत की महान्
महिलाएं', '[illegible] [illegible]', संपादिका 'महादेवी वर्मा—
काव्यकला और जीवन दर्शन',
'हिन्दी के आलोचक'

१९५१

आत्माराम एण्ड संस

पुस्तक-प्रकाशक तथा विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस,
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
दिल्ली

मूल्य ६)

मुद्रक
रामाधार
नया हिन्दुस्तान प्रेस, दिल्ली

प्राक्कथन

पंत की कविता का पाट बड़ा गहरा है। विकास-क्रम की दृष्टि से उनकी समग्र काव्य-कला को मुख्यतः यों रक्खा जा सकता है।

१. प्रारम्भ में अर्थात् 'वीणा' से 'गुंजन' तक उनकी कविता का मूल-भाव प्रकृति-प्रेम एवं ऐन्द्रिय उल्लास है, जिसमें वस्तु-सत्य के साथ-साथ आत्म-सत्य के समन्वय का प्रयास है।

२. 'गुंजन' के बाद 'युगांत' से आगे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' तक कवि की अनुभूति और जिज्ञासा-वृत्ति अधिक सजग और सचेष्ट हो उठी है। उसके भावोन्माद का अब प्रौढ़ विकास हुआ है और उसकी चिंतासरणि भाव-जगत् में पैठने की अपेक्षा वस्तु-जगत् में अधिक खुलकर विचरण करती है।

३. 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में कवि का सूक्ष्म-चेता मन मार्क्सवादी भौतिक संघर्षों से ऊबकर अध्यात्मवाद की ओर मुड़ा है।

४. और 'युगपथ', 'उत्तरा' आदि उसकी इधर की कृतियों में आत्मोन्मुख मनोभूमि अर्थात् उसके अवचेतन मन के साथ ऊर्ध्वमुखी वृत्तियों का समाहार है, जहाँ उसकी अंतर्भेदिनी दृष्टि स्थूल-तथ्यों पर उतराती हुई सूक्ष्म-सत्यों में रम गई है।

पंत की आरम्भिक कृतियों 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'गुंजन' आदि में कोमल भावानुभूति एवं रागात्मिका वृत्ति का प्राधान्य है। प्रकृति-जगत् और सौन्दर्य-जगत् के मध्य जो झलमल-झलमल आलोक-रेखा कवि को खिंची दीखती है उसी स्निग्ध, तरल तार में उसकी अनगिनत भावनाएँ गुँथी हुई हैं। प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में वह घण्टों बैठा अनुराग की उषः-आभा में अपने प्राणों के अणु-अणु को रस-विभोर करता रहा है और उसकी चिंतन शक्ति का सशक्त आधार अंतरिक्ष-पथ में किन्हीं दुरन्त, मोहमयी, अपार्थिव सूक्ष्म प्रक्रियाओं द्वारा उद्वेलित होता रहा है। कवि ने लिखा है, "पर्वत-प्रदेश के निर्मल चंचल-सौन्दर्य ने मेरे जीवन के चारों ओर अपने नीरव सौन्दर्य का जाल बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के भीतर बर्फ की ऊँची, चमकीली चोटियाँ रहस्य भरे शिखरों की तरह उठने लगी थीं, जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चँदोवे की तरह आँखों के सामने फहराया करता था। कितने ही इन्द्र-धनुष मेरी कल्पना के पट पर रंगीन रेखाएँ खींच चुके थे, बिजलियाँ बचपन की आँखों को चकाचौंध कर चुकी थीं, फेनों के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिए

वहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाशचुंबी सौन्दर्य मेरे हृदय पर एक महान् संदेश की तरह, एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह तथा एक विराट् व्यापक आनन्द, सौन्दर्य तथा तपःपूत पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था।"

कवि के समक्ष प्रकृति हर मोड़ पर नए-नए रूपों में आ खड़ी हुई है। आरम्भ में उसके अन्तर्देश का उन्माद और उल्लास प्रकृति की सौन्दर्य-श्री से मुखरित होकर काव्य-धारा में प्रसरित होता है। उसके काव्य-सृजन के मूल-तत्व सत्यं-शिवं-सुन्दरम्, जो उसके प्राणों में औत्सुक्य जगाते हैं, उस समय 'सुन्दर' से अधिक प्रभावित हैं। स्नेह और अनुराग भरे मीठे सपने, हृदय की मधुर सिहरन और किसी अज्ञात रूपसी का बिखरा रूप उसकी उद्भ्रांत चेतना को विमूर्च्छित करता रहा है। वातायन-पथ से उठने वाली शीतल, स्निग्ध, सौरभश्लथ समीर की हलकी-हलकी थपकियाँ, चतुर्दिक् बिखरी दृश्यावली, अवनि-अम्बर की अथाह सुषमा और जीवनमय उन्मद राग कवि की अरूप वृत्तियों से तद्रूप होकर उसके अंतर्बाह्य को एक विचित्र झंकृति से भर देती है और वह तन्मय होकर गा उठता है—

"मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार,

जिसके चरणों में पला ताल,
दर्पण सा फैला है विशाल।"

कुछ समय तक कवि का चिंतन इस हद तक प्रकृति में तदाकार हो गया है कि वह उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म धड़कन सुना करता है। प्राकृतिक-सुषमा में शराबोर उसका हृदय लहराता है और उसका सुख-दुःख, श्वास-सौरभ, विचार-भावनाएँ, यहाँ तक कि अपने अस्तित्व तक को वह उसमें विलय कर देना चाहता है। न जाने कब के, कहाँ के अमूर्त, अलक्ष्य, उलझे हुए सूत्र उसके अवचेतन मन में घनीभूत होकर प्रकृति की छाया-पथ में बिखर जाते हैं कि वह हठात् दूरत्व, पार्थक्य की कुहेलिका चीरकर उसके सीमाहीन सौन्दर्य में खो जाता है। प्रभात का धूसर आलोक और बाल-रवि की रश्मियों से रंजित प्रकृति का उन्मुक्त प्रसार तथा पक्षियों की मधुर ध्वनि अंतःप्रेरणा के क्षणों में उसकी सूक्ष्मतम अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर लेती है, जिसमें विभोर अंतर्भूत आनन्द की पूर्णता में उसका मूक स्वर उद्बुद्ध हो उठता है—

"स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग-कुल की कल-कण्ठ हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर
न जाने अलस पलक दल कौन
खोल देती तब मेरे मौन !"

समीरण का प्रत्येक हृत्कंपन जब अगाध जल को क्षुब्ध करता हुआ बुलबुलों को बिखेर देता है तो किसी अपरिसीम, अनवद्य रूपराशि की स्मृतियों को झकझोरती हुई लहरें चुपचाप कवि को अज्ञात संकेत करके बुलाती हैं—

"क्षुब्ध जल-शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथकर फेनाकर
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन ?"

यहाँ तक कि पंत की सूक्ष्म, सौन्दर्यग्राही वृत्ति छाया जैसी अरूप वस्तु में भी रमती है—

"किस रहस्यमय अभिनय की तुम
सजनि ! यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है
किस विचित्रता का संसार !"

किन्तु 'गुंजन' में भौतिक यथार्थताओं से टकराकर कवि की किशोर भावना का सौन्दर्य-स्वप्न जैसे विशृंखल हो गया। अपनी अनुभूति की अनुपयोगिता से आहत होकर उसने अपने चिन्तन का क्षेत्र विकसित कर लिया और प्रकृति के माध्यम से असीम चेतन तक पहुँचने की जो एक अव्यक्त, अज्ञात लालसा उसके हृदय के भीतर कहीं छिपी थी उससे हठात् विमुख होकर जीवन के अशेष विफल-पथ पर वह सक्रिय निर्देशों की खोज में निकल पड़ा। छाया-वन की नीरव सघनता से आवृत्त उसकी सूक्ष्म-चेतना, जो भोर की अरुणिमा, सन्ध्या के धुन्ध और उच्च पर्वतों-शृंगों पर छीजते बर्फ़ की श्वेतिमा में रमना अधिक पसन्द करती थी, जो 'प्रत्येक हरी हरी पत्ती के हिलने में एक लय; प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम' और हरियाली की छोटी से छोटी फुनगी को छूकर आत्म-विभोर हो जाती थी, वह यथार्थ के आग्रह से मानव के निरन्तर भाव-जगत् की ओर उन्मुख हुई।

"जीवन की लहर लहर से
हँस खेल खेल रे नाविक !"

कवि ने जीवन की सूक्ष्मता में पैठकर उसके चिरन्तन स्वरूप को हृदयंगम करने का प्रयत्न किया।

"महिमा के विशद जलधि में
हैं छोटे छोटे से कण,
अणु से विकसित जग-जीवन
लघु अणु का गुरुतम साधन।"

कवि सौन्दर्य-स्रष्टा से जीवन-द्रष्टा हो गया। उसकी कलात्मक चेतना विकसित होते होते प्रकृति के माध्यम से मानवात्मा में प्रविष्ट हुई और इन्हीं से अन्तर्भूत रूप-व्यापारों ने उसके हृदय पर मार्मिक प्रभाव डाल कर उसके भावों का प्रवर्त्तन किया। 'ज्योत्स्ना' में कवि ने लिखा—

"न्योछावर स्वर्ग इसी भू पर
देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन बन्धन !"

ज्यों ज्यों उसकी दृष्टि लोकोत्तर भाव में पैठती गई, त्यों-त्यों कवि सौंदर्य-लोक से हरी-भरी, ठोस पृथ्वी पर उतरता गया, यों मार्क्सवाद के भौतिक संघर्ष में उसकी वृत्तियाँ कभी न रमी। 'युगान्त,' 'युगवाणी,' 'ग्राम्या' में युग-जीवन और मानव-व्यक्तित्व प्राणान्वित हो उठा है। कवि छायावाद की सघनता से सामूहिक सुख-दु:खों एवं जीवन-वैषम्य में झाँकने को उत्सुक है—

"मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान प्रेत औ' छाया से रति।"

चिरपीड़ित मानवता के स्नेहिल स्पर्श से उसमें नीरव क्रान्ति जगी और उसने जीवन का अधिक व्यापक और चिरन्तन स्वरूप आंका।

"मिट्टी से भी मटमैले तन
फटे, कुचैले, जीर्ण वसन—

× × ×

कोई खण्डित, कोई कुण्ठित
कृशबाहु पसलियाँ रेखांकित

टहनी सी टाँगे, बड़ा पेट
टेढ़े मेढ़े विकलांग घृणित
× × ×
लोटते धूलि में चिर परिचित !"

किन्तु कवि की कोमल आत्मा अधिक दिन तक इस बौद्धिक स्वीकृति से आश्वस्त न हो सकी। भौतिक संघातों से ऊबकर वह पुनः चिरन्तन सत्य और कल्पना के समानान्तर शाश्वत सनातन गुणों की ओर आकृष्ट हुआ। कदाचित् भीतरी आध्यात्मिक चेतना का दबाव इतना तीव्र हो गया था कि बाह्य की भौतिक सीमाएँ तोड़कर अन्ततः उसकी इधर की कृतियों में फूट पड़ा। 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में कवि की आत्मा का मुक्त उल्लास, साधना की तल्लीनता और शाश्वत जीवन-जागृति की स्फूर्ति है। उसे जीवन की पूर्णता में स्वर्णिम-आभा और एक नया आलोक फूटता नज़र आता है।

"यह छाया भी है अविच्छिन्न
यह आँख - मिचौनी चिर सुन्दर
सुख-दुख के इन्द्रधनुष रंगों की
स्वप्न-सृष्टि अज्ञेय, अमर !"

'युगपथ', 'उत्तरा' आदि कवि की परवर्ती कृतियों में उसकी आत्म-भाव की परिधि व्यापक होती गई है। जीवन का स्थूल अर्थ, यथार्थता और अनुक्रम मानों मिट गया है, उसके स्तब्ध प्राण किसी अतिमानवी, अलौकिक परिव्याप्ति, किसी अन्तर्भव सत्य से अनुप्राणित हैं। कलाकार और मानव-चेतना में जो सहज विद्रोह उठ खड़ा हुआ था वह तिरोहित हो गया। जीवन के स्थूल पहलुओं से वह आज एक विशाल आत्मा की अन्तर्सांच्ची में रम गया है।

जीवन-दर्शन

निःसन्देह, पंत की संपूर्ण साधना अंततु सूत सत्य के आधार पर पार्थिव जीवन की सूक्ष्म, दार्शनिक परिणति में है। प्रारम्भ में उन्होंने जिन सुनहले स्वप्नों को सँजोया वे जीवन के कठोर तल से टकराकर बिखर गए और पुनः विराट् का स्पर्श पाकर उनके सारे द्वन्द्व, सारे संघर्ष सीमा का व्यवधान मिटाकर सान्त से अनन्त में एकाकार हो गए। कभी प्राणों के उन्मद राग से उनके भीतर का मौन काँप उठा, कभी असम्बद्ध जीवन-प्रयोगों को आत्मसात् करके वे तन्मय हो उठे और कभी उन्होंने अपनी कला की सूक्ष्मता में व्यष्टि-व्यक्तित्व में समष्टि का सामंजस्य दर्शाया। उनके सम्पूर्ण कृतित्व में स्थान स्थान पर

उनकी बाहरी और भीतरी वृत्तियों में उलझाव पैदा हो गया है, लौकिक और आत्मिक जीवन में कशमकश सी रही है। कवि के अन्तर्मन का ऊहापोह कभी अशरीरी, स्वप्नमय, लोकातीत भावनाओं में परिव्याप्त हो गया और कभी बाह्य परिस्थितियों एवं मानव-द्वन्द्वों से उसका अन्तर उद्वेलित हो उठा। कभी उसकी उद्भ्रांत चेतना निस्सीम सुषमा में खोगई और कभी जीवन के व्यापक सामंजस्य के मूक दर्शन में उसने उससे आंखें मूँद ली।

वस्तुतः पंत की सुकोमल अंतर्वृत्तियों में जो कशमकश सी है—वह न सिर्फ़ आन्तरिक, वरन् बाह्य प्रेरणाओं के कारण भी है। साहित्य-क्षेत्र में आलोचकों के जो दो दल हैं, रूढ़िवादी और मार्क्सवादी—उन्होंने समय समय पर अपनी आलोचना से कवि के कोमल मन को झकझोरा है। वह स्वभावतः स्वप्नदर्शी होते हुए भी कुछ अन्तः-प्रेरणा और कुछ प्रगतिशील आलोचकों के प्रबल आग्रह से प्रगतिशील बना, किन्तु दूसरे आलोचकों के दल ने उसे स्वप्नदर्शी ही बने रहने की प्रेरणा दी। कवि का सरल मन अनेक स्थलों पर द्विविधाग्रस्त सा हो उठा है और उसकी निर्भ्रान्त धारणाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाई है। कवि द्वारा अपने व्यक्तित्व और कला की आलोचना, जो उसने स्वयं की है, पढ़ने से हमारे कथन की पुष्टि हो जाती है और मननपूर्वक पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि पर वाह्य-प्रेरणाओं का दबाव अपेक्षाकृत अधिक रहा है, यहाँ तक कि वह अपने जीवन और कृतित्व की आलोचना भी उस तटस्थता से न कर सका, जैसी कि एक आत्म-जागरूक कलाकर को करनी चाहिए। आलोचनाओं को पढ़ते हुए हमें ऐसा बार बार खटका है जैसे पंत जी ने अपने आलोचकों की आलोचना पढ़कर अपनी आलोचना लिखी हो। कदाचित् यह उनके मन की सरलता अथवा अधिक कोमल-वृत्ति के कारण हो उनमें अपनी आलोचना करते हुए कहीं कहीं आत्मश्लाघा का भाव आ गया है जैसे 'मैं शर्मीला और जनभीरु था' 'मैं प्रकृति को एकटक निहारा करता था' अथवा ऐसा ही भाव व्यंजित करने वाले अन्य वाक्य कि मैं यह था—वह था उसी के समकक्ष हैं जैसे कोई आत्म-जिज्ञासु, जीवन-द्रष्टा के मुख से यह कथन अशोभनीय है, 'देखो, मैं कितना सुन्दर हूँ।'

कहना न होगा कि 'वीणा' से 'उत्तरा' तक आते आते कवि ने एक गहरे पाट को लाँघा है। आज वह अनेक चक्करदार मोड़ों से निकल कर अपने अभीप्सित पथ पर आ गया है। अब उसे किधर मुड़ने की प्रेरणा होगी—इसे कौन बता सकता है।

× × ×

ऊपर हमने संक्षेप में कवि की मूल प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराया है। प्रस्तुत ग्रंथ में उनकी काव्य-कला और जीवन-दर्शन पर विभिन्न विद्वानों ने अपने

अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। इधर प्रायः पंत की कृतियों को लेकर दो प्रमुख विचार धारा के आलोचकों में खींचातानी भी रही है। प्रस्तुत संग्रह में डॉक्टर रामविलास शर्मा का लेख मार्क्सवादी विचारधारा के आलोचकों का प्रतिनिधित्व करेगा।

कुछ वर्षों से यह विवाद का विषय रहा है कि साहित्य में चिरंतन सत्य की अभिव्यक्ति अधिक अभिप्रेत है अथवा तात्कालिक सामाजिक समस्याओं का ही चित्रित किया जाना। आज जब रोटी का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है और जीवन-यापन की विभीषिका लपलपाती जिह्वा से रक्त चूँस रही है तो उससे सर्वथा मुँह फेरकर कोई कैसे उदासीन हो सकता है। किन्तु यह भी कैसे संभव है कि पेट की भूख ही सब कुछ है और आत्मा की भूख कुछ नहीं। कैसे कोई सामाजिक समस्याओं में ही परितोष पाकर निस्सीम सुषमा और प्रकृति के अनंत वैभव से आँखें मीचकर जी सकता है। साहित्य में सदैव से दोनों की कांक्षा रही है, दोनों ने अधिकार माँगा है, दोनों समानान्तर लीकों पर देखा गया है।

पंत की कविता शाश्वत-सत्य और युग-सत्य की सफल अभिव्यक्ति है। उन्होंने प्रकृति की रंगीनी में दिव्य, चिरंतन विराट्-रूप का दर्शन किया है, साथ ही सामाजिक जीवन की समस्याओं पर भी दृष्टि-निक्षेप किया है। अतएव उनके काव्य को हम चिरंतन सौंदर्य-बोध और युग-बोध का निगूढ़ सामंजस्य कह सकते हैं।

अन्त में, हम अपने उन सभी साहित्यिक बन्धुओं के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने प्रस्तुत संग्रह के लिए लेख देकर अपनी उदारता और सौजन्य का परिचय दिया है। विशेष रूप से भाई प्रभाकर माचवे ने अपने सत्परामर्श और श्री राहुल सांकृत्यायन, बच्चन, दि० के० बेडेकर और शमशेरबहादुर सिंह के लेख भेजकर इस पुस्तक को सुन्दर रूप देने में हमारी सहायता की है। उनकी मैं विशेष कृतज्ञ हूँ।

७/२३ दरियागंज, दिल्ली
शिवरात्रि, २००७ सम्वत्

शचीरानी गुर्टू

सूची



श्री सुमित्रानन्दन पंत

आपकी, पुस्तक सहित अभिनंदन,
[illegible] को, मित्र का हृदय!
[illegible] अभिनन्दन और का
[illegible] यह [illegible]?
आज [illegible] [illegible]!

हे [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible],
[illegible] [illegible]
आज [illegible] [illegible]!
[illegible] और [illegible] राम —
ॐ श्री राम हरे राम
श्री राम हरे राम!

[illegible]

सुमित्रानन्दन पन्त

मैं और मेरी कला

पंत की विराट-चेतना प्रारम्भ में अपने भीतर के उच्छ्वसित सौन्दर्य को प्रकृति में आरोपित करके किसी अप्रज्ञात छवि की मधुमयी विस्मृति को रहस्यमय रंगों से अंकित करने में लीन रही है, किन्तु उनकी विभिन्न अन्तर्वृत्तियाँ किस प्रकार क्रमशः अपने प्रेरक आधारों और जीवन की यथार्थताओं के अनुरूप विकसित होती गई हैं इसका दिग्दर्शन प्रस्तुत लेख में पंत के अपने शब्दों में करिए।

जब मैंने पहले लिखना प्रारम्भ किया था तब मेरे चारों ओर केवल प्राकृतिक परिस्थितियां तथा प्राकृतिक सौंदर्य का वातावरण ही ऐसी सजीव वस्तु थी जिससे मुझे प्रेरणा मिलती थी। और किसी ऐसी परिस्थिति या वस्तु की मुझे याद नहीं जो मेरे मन को आकर्षित कर मुझे गाने अथवा लिखने की ओर अग्रसर करती रही हो। मेरे चारों ओर की सामाजिक परिस्थितियां तब एक प्रकार से निश्चल तथा निष्क्रिय थीं, उनके चिर-परिचित पदार्थ में मेरे किशोर मन के लिए किसी प्रकार का आकर्षण नहीं था। फलतः मेरी प्रारम्भिक रचनाएं प्रकृति की ही लीला-भूमि लिखी गई हैं। पर्वत प्रान्त की प्रकृति के नित्य नवीन तथा परिवर्तनशील रूप से अनुप्राणित होकर मैंने स्वतः ही जैसे किसी अंतर्विवशता के कारण पक्षियों तथा मनुष्यों के स्वर में स्वर मिलाकर, जिन्हें तब मैंने 'विहग बालिका' तथा 'मधुबाला' कहकर संबोधन किया है, पहले पहल गुनगुनाना सीखा है।

मेरी प्रारम्भिक रचनाएँ 'वीणा' नामक संग्रह के रूप में प्रकाशित हुई हैं। इन रचनाओं में प्रकृति ही अनेक रूप धरकर चपल, मुखर नूपुर बजाती हुई अपने चरण बढ़ाती रही है। समस्त काव्य-पट प्राकृतिक सुन्दरता के धूप-छाँह से बुना हुआ है। चिड़ियाँ, भौंरे, झिल्लियाँ, झरने, लहरें आदि जैसे मेरे बाल-कल्पना के छाया-वन में मिलकर वाद्य-तरंग बजाते रहे हैं।

'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना
कहाँ कहाँ हे बाल विहंगिनी, पाया तूने यह गाना।'

अथवा

'आओ सुकुमारि विहग बाले,
निज कोमल कलरव में भरकर अपने कवि के गीत मनोहर
फैला आओ वन-वन, घर-घर, नाचे तृण तरु पात।'

आदि गीत आपको 'वीणा' में मिलेंगे जिनके भीतर से प्रकृति गाती है—

'उस फैली हरियाली में कौन अकेली खेल रही मां वह अपनी वयबाली में!' अथवा छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया, बाले तेरे

बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन'......आदि अनेक उस समय की रचनाएँ मेरे प्रकृति विहारी होने की साक्षी हैं।

जिस प्रकार प्रकृति ने मेरे किशोर हृदय को अपने सौंदर्य से मोहित किया है उसी प्रकार पर्वत प्रदेश की निर्वाक् अलंघ्य गरिमा तथा हिमराशि की स्वच्छ शुभ्र चेतना ने मेरे मन को आश्चर्य तथा भय से अभिभूत कर उसमें अपने रहस्यमय मौन संगीत की स्वरलिपि भी अंकित की है। पर्वत श्रेणियों का वह मौन संदेश मेरी प्रारम्भिक रचनाओं में विराट् भावनाओं अथवा उदात्त स्वरों में अवश्य नहीं अभिव्यक्त हो सका है, किन्तु मेरे रूप-चित्रों के भीतर से एक प्रकार का अरूप सौंदर्य यत्र-तत्र अवश्य छलकता रहा है, और मेरी किशोर दृष्टि को चमत्कृत करने वाले प्राकृतिक सौंदर्य में एक गम्भीर अवर्णनीय पवित्रता की भावना का भी अपने आप ही समावेश हो गया है।

'अब न अगोचर रहो सुजान
निशानाथ के प्रियवर सहचर अंधकार स्वप्नों के यान,
तुम किस के पद की छाया हो किसका करते हो अभिमान'

अथवा

'तुहिन बिंदु बनकर सुन्दर, कुमुद किरण से उतर-उतर
मा, तेरे प्रिय पद पद्मों में अर्पण जीवन को कर दूं
इस ऊषा की लाली में'

आदि पंक्तियों में पर्वत प्रदेश के रहस्यमय अंधकार की गंभीरता और वहाँ के प्रभात की पावनता तथा निर्मलता एक अंतर्वातावरण की तरह अथवा सूक्ष्माकाश की तरह व्याप्त है। 'वीणा' की रचनाओं में मेरी अध्ययन अथवा ज्ञान की कमी को जैसे प्रकृति ने अपने रहस-संकेत तथा प्रेरणा-बोध से पूरा कर दिया है। उनके भीतर से एक प्राकृतिक जगत् का सहज उल्लास तथा अनिर्वचनीय पवित्रता फूटकर स्वतः काव्य का उपकरण अथवा उपादान बन गई है

'वीणा' के बाद की रचनाएँ मेरे 'पल्लव' नामक संग्रह में प्रकाशित हुई हैं। पल्लव काल में मुझसे प्रकृति की गोद छिन जाती है। 'पल्लव' की रूप रेखाओं में प्राकृतिक सौंदर्य तथा उसकी रंगीनी तो वर्तमान रहती है, किन्तु केवल प्रभावों के रूप में,—उसने वह सान्निध्य का संदेश लुप्त हो जाता है।

'कहो हे सुन्दर विहग कुमारि,
कहाँ से आया यह प्रिय गान।'

अथवा

'सिखा दो ना हे मधुप कुमारि
मुझे भी अपना मीठा गान ।'

आदि

पल्लव काल की रचनाओं में विहग, मधुप, निर्झर आदि तो वर्तमान हैं, उनके प्रति हृदय की ममता ज्यों की त्यों बनी हुई है, लेकिन अब जैसे उनका साहचर्य अथवा साथ छूट जाने के कारण वे स्मृति चित्र तथा भावना के प्रतीक भर रह गए हैं। उनके शब्दों में कला का सौन्दर्य है, प्रेरणा का सजीव स्पर्श नहीं। प्रकृति के उपकरण राग-वृत्ति के स्वर बन गए हैं, वे अकलुष ऐन्द्रयिक मुग्धता के वाहन अथवा वाहक नहीं रह गए हैं। वीणाकाल के प्राकृतिक-सौन्दर्य का सहवास पल्लव की रचनाओं में भावना के सौन्दर्य की माँग बन गया है, प्राकृतिक रहस्य की भावना ज्ञान की जिज्ञासा में परिणत हो गई है। 'वीणा' की रचनाओं में जो स्वाभाविकता मिलती है वह 'पल्लव' में कला-संस्कार तथा अभिव्यक्ति के मार्जन में बदल गई है। बाहर का रहस्यमय पर्वत-प्रदेश आंखों के सामने से ओझल हो जाने के कारण एक भीतरी रहस्यमय प्रदेश मन की आंखों को विस्मित करने लगा है। अब भी 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश' वाला पर्वत-का दृश्य सामने आता है, पर उसके साथ सरल शैशव की सुखद स्मृति-सी एक बालिका भी मनोरम मित्र बनकर पास ही खड़ी दिखाई देती है। बाल-कल्पना की तरह अनेक रूप धरने वाले उड़ते बादलों में हृदय का उच्छ्वास और तुहिन बिन्दु-सी चंचल जल की बूंदों में आँसुओं की धारा मिल गई है। प्रकृति का प्रांगण छाया-प्रकाश की वीथी बन गया है, उसके भीतर से हृदय की भावना अनेक रूप धारण कर विचरण करती हुई दिखाई पड़ती है। उपलों पर बहुरंगी लास तथा भंगिमय भृकुटि-विलास दिखाने वाली निश्चल निर्झरी अब सजल आंसुओं की अंचल-सी प्रतीत होती है। निश्चय ही 'पल्लव' की काव्य-भूमिका से वीणाकाल का पवित्र प्राकृतिक सौन्दर्य 'उड़ गया अचानक लो इधर, फड़का अपार वारिद के पर' के सदृश ही विलीन हो जाता है। उसके स्थान पर 'अवशेष रह गए हैं निर्झर' शेष रह जाते हैं। उस पवित्रता का स्पर्श पाने के लिए हृदय जैसे छटपटा कर प्रार्थना करने लगता है—'विहग बालिका का मा मृदुस्वर, अर्ध खिले वे कोमल अंग, क्रीड़ा कौतूहलता मन की, वह मेरी आनन्द उमंग'—'अहो दयामय, फिर लौटा दो मेरी पद प्रिय चंचलता, तरल तरंगों-सी वह लीला, निर्विकार भावना-लता !'

'पल्लव' की अधिकांश रचनाएँ प्रयाग में लिखी गई हैं। १६२१ के असहयोग आन्दोलन के साथ ही हमारे देश की बाहरी परिस्थितियों ने भी जैसे

हिलना डुलना सीखा है। युग-युग से जड़ीभूत उनकी वास्तविकता में सक्रियता तथा जीवन के चिन्ह प्रकट होने लगे। उनके स्पन्दन, कंपन तथा जागरण के भीतर से एक नवीन वास्तविकता की रूप-रेखाएं मन को आकर्षित करने लगीं। मेरे मन के भीतर वे संस्कार धीरे-धीरे संचित होने लगे, पर 'पल्लव' की रचनाओं में वे मुखरित नहीं हो सके। न उसके स्वर उस नवीन भावना को वाणी देने के लिए पर्याप्त तथा उपयुक्त ही प्रतीत हुए। 'पल्लव' की सीमाएं छायावाद की अभिव्यंजना की सीमाएं थीं, वह पिछली वास्तविकता के निर्जीव भार से आक्रांत उस भावना की पुकार थी, जो बाहर की ओर राह न पाकर 'भीतर' की ओर स्वप्न सोपानों पर आरोहण करती हुई युग के अवसाद तथा विवशता को वाणी देने का प्रयत्न कर रही थी। और साथ ही काल्पनिक उड़ान द्वारा नवीन वास्तविकता की अनुभूति प्राप्त करने की चेष्टा कर रही थी। 'पल्लव' की सर्वोत्तम तथा प्रतिनिधि रचना 'परिवर्तन' में विगत वास्तविकता के प्रति असंतोष तथा परिवर्तन के प्रति आग्रह की भावना विद्यमान है। साथ ही जीवन की अनित्य वास्तविकता के भीतर से नित्य सत्य को खोजने का प्रयत्न भी है, जिसके आधार पर नवीन वास्तविकता का निर्माण किया जा सके। 'गुंजन' काल की रचनाओं में नित्य सत्य पर जैसा मेरा दृढ़ विश्वास प्रतिष्ठित हो गया है।

'सुन्दर से नित सुन्दरतर, सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे, सुन्दर सुन्दर जग जीवन'

आदि रचनाओं में मेरा मन परिवर्तनशील अनित्य वास्तविक के ऊपर उठ कर नित्य सत्य की विजय के गीत गाने को लालायित हो उठा है और उसके लिए आवश्यक साधना को भी अपनाने की तैयारी करने लगा है। उसे यह भी अनुभव होने लगा है कि 'चाहिए विश्व को नव जीवन!' और वह इस आकांक्षा से व्याकुल भी रहने लगा है। 'ज्योत्स्ना' में मैंने इस नवीन जीवन तथा युग परिवर्तन की धारणा को एक सामाजिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न कि[illegible] जिज्ञासा तथा अवसाद के कुहासे निखर कर 'ज्योत्स्ना' का जगत जीवन के प्रति एक नवीन विश्वास, आशा तथा उल्लास लेकर प्रकट होता है। 'युगांत' में मेरा वह विश्वास बाहर की दिशा में भी सक्रिय हो गया है और विकास का भी हृदय क्रांतिवादी हो गया है। 'युगांत' की क्रांति भावना में आवेश है और है एक मनुष्यत्व के प्रति संकेत। अनित्य वास्तविकता का बोध मेरे मन में पहले परिवर्तन और फिर क्रांति का रूप धारण कर लेता है। नित्य सत्य के प्रति आकर्षण नवीन मानवता के रूप में प्रस्फुटित होने लगता है। दूसरे शब्दों में बाहरी क्रांति की अभावात्मकता की पूर्ति मेरा मन नवीन मनुष्यत्व की भावात्मक देन द्वारा करना चाहता है। 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र हे, त्रस्त

ध्वस्त है शुष्क शीर्ण' द्वारा जहां पिछली वास्तविकता को बदलने के लिए ओजपूर्ण आह्वान है, वहाँ 'कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर पल्लव लाली' में पल्लव-काल की स्वप्न-चेतना द्वारा उस रिक्त स्थान को भरने के लिए आग्रह भी है।

'गा कोकिल ! बरसा पावक कण !
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बन्धन'

के साथ ही 'हो पल्लवित नवल मानवपन' 'रच मानव के हित नूतनमन' भी मैंने कहा है। यह क्रांति भावना जो अब साहित्य में प्रगतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी है मेरी ताज, कलरव आदि युगांतकालीन रचनाओं में विशेष रूप से अभिव्यक्त हो सकी है और मानववाद की भावना 'युगांत' की 'मानव' 'मधुस्मृति', आदि रचनाओं में। 'बापू के प्रति' शीर्षक मेरी उस समय की रचना गांधीवाद की ओर झुकाव की द्योतक है, जो 'युगवाणी' में भूतवाद तथा अध्यात्मवाद के प्रारम्भिक समन्वय का रूप धारण कर लेती है। 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में मेरी क्रांति की भावना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित ही नहीं होती उसे आत्मसात् करने का भी प्रयत्न करती है।

'भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान,
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान'

अथवा

'मुझे स्वप्न दो, मन के स्वप्न—आज बनो तुम फिर नव-मानव'

'संस्कृति का प्रश्न,' 'सांस्कृतिक हृदय' आदि उस समय की अनेक रचनाएँ मेरी उस सांस्कृतिक तथा समन्वयात्मक प्रवृत्ति की द्योतक हैं। 'ग्राम्या' मेरी सन् १९४० की रचना है जब प्रगतिवाद हिंदी साहित्य में घुटनों के बल चलना सीख रहा था। आज के दिन प्रगतिवाद जिस प्रकार वर्गयुद्ध की भावना के साथ दृढ़

'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है। नवीन सांस्कृतिक संगठन की रूप-रेखा तथा नवीन मान्यताओं का आधार क्या हो, इस सम्बन्ध में मेरे मन में ऊहापोह चल ही रहा था कि इसी समय मैं श्री अरविंद के जीवन-दर्शन के संपर्क में आ गया और मेरी ज्योत्स्ना काल की चेतना एक नवीन युग प्रभात की व्यापक चेतना में प्रस्फुटित होने लगी जिसको मैंने प्रतीकात्मक रूप से स्वर्ण-चेतना कहा है। और मेरा विश्वास धीरे-धीरे और भी दृढ़ हो गया कि नवीन सांस्कृतिक आरोहण इसी नवीन चेतना के आलोक में संभव हो सकता है, जो मनुष्य की वर्तमान मानसिक चेतना को अतिक्रम कर उसे एक अधिक ऊर्ध्व, गंभीर तथा व्यापक धरातल पर उठा देगी। और इस प्रकार आने-वाली क्रांति केवल रोटी की क्रांति, समान अधिकारों की क्रांति ही न होकर जीवन के प्रति दृष्टि-कोण की क्रांति, मानसिक-मान्यताओं की क्रांति तथा सामाजिक तथा नैतिक आदर्शों की भी क्रांति होगी। दूसरे शब्दों में भावी क्रांति राजनीतिक, आर्थिक क्रांति तक ही सीमित न रहकर आध्यात्मिक क्रांति भी होगी, क्योंकि वस्तु जगत के प्रति हमारे ज्ञान का स्तर हमारी आध्यात्मिक धारणा के सूक्ष्म-स्तर से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, और वर्तमान युग की विशृंखलता को नवीन मानवीय सामंजस्य देने के लिए मनुष्य की अन्नप्राण-सम्बन्धी चेतनाओं का बहिरंतर रूपान्तर होना आवश्यक तथा अवश्यम्भावी है, जिसे मैंने 'स्वर्णकिरण' में इस प्रकार कहा है:—

'सस्मित हो गई धरती, बहिरंतर जीवन'

शिवचन्द्र नागर

पंत का व्यक्तित्व : एक रेखाचित्र

तरुण लेखक श्री शिवचन्द्र नागर की लेखनी से पंत का व्यक्तित्व मुखर हो गया है। प्रस्तुत लेख में कवि पंत के जीवन-दर्शन के सामंजस्य और संतुलन पर भी प्रकाश डाला गया है।

पता नहीं क्यों, मेरे लिये 'कला' और 'सौन्दर्य' अलग-अलग अर्थों वाले शब्द होने पर भी, पर्यायवाची शब्द से हो गये हैं। इसी प्रकार कलाकार को सुन्दर होना ही चाहिये, इस बात को भी मेरे मन ने एक विश्वसनीय सत्य के रूप में ग्रहण कर लिया है। मैंने लिओनार्दो दा विंची, गेटे, बायरन, शेली और कीट्स के सुन्दर होने की बात सुनी भी है और पढ़ी भी हैं। रवीन्द्रनाथ टाकुर भी सुन्दर थे, और इसी प्रकार सहज रूप में मेरा यह विश्वास हो गया है कि वाल्मीकि, भवभूति और कालिदास भी सुन्दर रहे होंगे। लगता है, पंत जी भी कलाकारों की उस सौन्दर्य परम्परा को पूरा करते हैं।

आज से सात आठ वर्ष पहले 'पल्लविनी' में छपे हुए पंत जी के चित्र को देखकर अनायास ही पंत जी की नकल करने का मोह उत्पन्न हो गया था। मुझे आज भी याद है कि कालिज में कवि-दरबार के दो दिन पहले से ही मैं अपने बालों में तेल डालना छोड़ देता था, परिणाम यह होता था कि वे भुरभुरे होकर हलके-हलके सुनहरे हो जाते थे, पर फिर उन्हें घुंघराले बनाने का असफल प्रयास चलता रहता था। 'पल्लविनी' के चित्र को देखकर मैं अपनी वेशभूषा सँवारता और फिर कवि-दरबार में अपने सिर के बिखरे हुए बालों की ओर संकेत कर गीत पढ़ता:—

'घने लहरे रेशम से बाल।
धरा है मैंने सिर पर देवि,
[illegible] वर्गिक शृंगार।'

इन घने लहरे रेशम से [illegible] कवि से मेरी प्रथम भेंट 'एडल्फी हाउस' में श्री बच्चन जी के घर पर हुई। कमरे में थोड़ी ही देर की प्रतीक्षा के उपरान्त द्वार पर टंगे हुए नीले पर्दे को हटा कर भीतर से एक व्यक्ति कोट-पैंट पहने हुए बाहर आया। जिस तस्वीर से मेरा परिचय था उसमें और इस व्यक्ति में मुझे ऐसा लगा कि समय ने अपनी छाया छोड़कर बहुत कुछ अन्तर डाल दिया है, पर फिर भी उस छाया के पीछे छिपी हुई रेखाओं को परखने में मुझे देर नहीं लगी। उस व्यक्ति के माथे पर पड़ी हुई लहरीली, चमकीली और बलखाती लटों

को देखकर मेरा पुराना परिचय सामने आ खड़ा हुआ और उसी के आधार पर मेरे हाथ प्रणाम के लिये उठ गये। व्यक्ति के सौम्य मुख पर मुस्कान दौड़ गई और पतले खिंचे हुए ओठों से धीमे और कोमल स्वर फूट पड़े, "कहिये।"

मैंने कहा, "कुछ नहीं केवल आपको देखने की लालसा थी।" मैंने उन्हें फिर एक बार देखा, उनका रंग बहुत अधिक गोरा नहीं था, पर उनके 'क्लीन शेव्ड' चेहरे की रेखायें बड़ी ही आकर्षक थीं। उनके नेत्र बड़े ही भाव-पूर्ण, एक हलकी आभा से ओत-प्रोत तथा स्वप्निल थे, उनकी नासिका जैसे प्रत्येक वस्तु के आंतरिक तत्वों को जानने में समर्थ हो इस प्रकार सुन्दर और नुकीली थी। वे अधिक न तो स्थूलकाय ही और न सूक्ष्मकाय ही थे, पर स्वस्थ लगते थे। उनकी ऊंचाई लगभग पांच फुट तीन इंच के आस-पास होगी और उनकी उम्र पैंतालीस के आस पास होने पर भी पैंतीस से अधिक नहीं लगती थी। आश्चर्य की बात यह थी कि उनके शरीर की कोमलता पर अभी उम्र ने अपना कोई गहरा चिन्ह नहीं छोड़ा था और सचमुच उनके हाथ और उन हाथों की अंगुलियां बड़ी ही कोमल-कोमल और शरीर के अनुपात में कुछ लघु-लघु भी लगती थीं। स्वर्णाभा की छाया लिये हलके काले बालों में कहीं कहीं श्वेत बाल अपनी विजय पताका फहरा कर अपने अस्तित्व की घोषणा करना चाहते थे, पर उनके बालों में व्याप्त एक प्रकार की चमक ने उन्हें अपने में डुबो कर परास्त कर दिया था। इस प्रकार सौम्यता, सुन्दरता और कोमलता की सामंजस्यमयी रेखाओं से बनी थी वह मूर्ति। निस्संदेह इस मूर्ति का सौंदर्य लिओनार्दो दा विंची या बायरन का-सा स्त्रियों के मन को झकझोर देने वाला और उन्हें पागल बना देने वाला उत्तेजनात्मक सौंदर्य नहीं था, बल्कि शेली का-सा शांत सौम्य और दिव्य सौंदर्य था—कुछ-कुछ वैसा ही जैसे शरद-चाँदनी में तैरने वाले धवल मेघखंडों का सौंदर्य।

सुन्दर शरीर के लिये वेशभूषा वास्तव में गौण ही [illegible] है। सुन्दर व्यक्ति को देखकर उसकी वेशभूषा पर अधिक ध्यान नहीं जाता, पर स्त्रियाँ इस विषय में स्वभाव से ही सूक्ष्म-द्रष्टा होती हैं। एक दिन एक चाय-पार्टी समाप्त होने के उपरांत मेरी एक परिचित महिला ने मुझे बताया कि "देखो तो, पंत जी पैंट पर खुले गले की कमीज़ पहनते हैं।" इससे पहले कभी भी मेरा ध्यान इस ओर नहीं गया था पर तदुपरांत मैं पंत जी की वेशभूषा पर ध्यान देने लगा और कुछ दिनों के बाद मुझे लगा कि महादेवी जी की हँसी की तरह पंत जी की वेशभूषा असाधारण है। कुल मिलाकर इनकी वेशभूषा में कुछ न कुछ ऐसा अवश्य रहता है कि जो उन्हें सब के बीच रहने पर भी सहज ही सबसे अलग कर दे।

गर्मियों में साधारणतया ये पाजामा-कुर्ता तथा पैंट और कमीज पहनते हैं, धोती पहने हुए मैंने इन्हें कभी नहीं देखा। जाड़ों में 'लैदरकोट' या 'ओवर कोट' के साथ इनकी 'नाइट कैप' खूब फबती है। 'स्लीपिंग गाउन' में सोफे पर बैठे हुए पंत जी मुझे विशेष सुन्दर लगे हैं, चश्मा लगाने पर इनके चेहरे की सुन्दरता और भी बढ़ जाती है। पंत जी के पास चश्मे भी कई हैं--एक गोल्डन फ्रेम का, एक टारटाइजशैल का तथा एक हलके नीले शीशों वाला। तीनों प्रकार के चश्मों का ये विभिन्न अवसरों पर उपयोग करते हैं। इनकी विविध वेषभूषाओं से मेरा ऐसा विश्वास हो गया है कि फैशन के विषय में कुशल-से-कुशल दर्जी भी इनसे कुछ न कुछ सीख ही सकता है।

पंत जी की वेशभूषा की-सी ही मौलिकता इनके वस्तुओं के नामकरण करने की रुचि में मिलती है। ये अपने ढंग के बड़े ही कलात्मक नाम रखते हैं। रेडियो में पहुँचने पर इन्होंने वहां के कई कार्यक्रमों को सर्वथा नवीन नाम दिये हैं जैसे प्रभात के समय प्रसारित होने वाली गीत-योजना को 'ज्योतिस्पर्श' तथा ऐसे ही कुछ और नाम जैसे 'चयनिका', 'युगेक्या' इत्यादि।

स्वभाव से पंत जी बड़े ही निश्छल और सरल हैं, बात को घुमा फिरा कर कहना नहीं जानते। जैसा सोचते हैं वैसा स्पष्ट कहते हैं, मिलने पर कभी आपसे काफी बातें करते रहेंगे, पर कभी पहले ही कह देंगे कि अभी मुझे अमुक काम है। पांच मिनट ही बात कर सकूंगा, या मुझे अभी नहाना है, पूजा करनी है या भोजन करना है, इत्यादि इत्यादि। कुछ व्यक्ति जो चालाकी को व्यवहार-कुशलता की संज्ञा देते हैं शायद इन्हें अव्यवहार कुशल कहें पर मैं तो इसे पंत जी की सरलता ही कहूँगा। इसी प्रकार इनके स्वभाव में राजनीतिज्ञों की सी गुटबन्दी और कूट-चक्रों वाली प्रवृत्ति का लेश भी नहीं। इनके स्वभाव के दूसरे दो गुण इनकी सात्विकता और अंतःशांति भी हैं। कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि उनके भीतर कोई बड़ी भारी कटुता हो, या कोई गहरी व्यथा, निराशा अथवा असंतोष की रेखा हो और या अपने भीतर किसी ज्वालामुखी को छिपाये बैठे हों। मैं तो जब कभी भी उनसे मिलकर लौटा हूँ ऐसा ही लगा है कि जैसे किसी आश्रम-वासी संत के संपर्क का सौभाग्य प्राप्त हो गया हो।

पंत जी के स्वभाव में पहाड़ी झरनों का-सा विद्रोह, तीव्रता तथा मुखरता नहीं, बल्कि फूलों के बीच बहने वाली मंदसरिता की-सी गंभीरता, समरसता और दृढ़ता है। संघर्ष के बीच वह भी बही है पर रास्ते के पत्थरों को तोड़कर नहीं, बल्कि उन्हें डुबो कर या उनसे बच कर। पंत जी के जीवन का संघर्ष निस्संदेह झंझा में उन विशाल वृक्षों की भांति नहीं रहा जो अपनी [illegible] के कारण वन-

प्रांतर और उप-प्रांतर को गुंजा देते हैं और कभी कभी प्रायः उतनी ही मुखरता के साथ टूट कर गिर भी पड़ते हैं, बल्कि उस ललिता की भाँति रहा है जो झंझा के हाथों से झकझोर दी जाने पर भी अपने भीतर के रस और कोमलता से सदैव परास्त ही करती आई है।

पंत जी दूसरों की प्रशंसा करते हुए अघाते नहीं और निंदा की कीचड़ उछाल कर अपने को पंकिल नहीं करते, पर साथ ही अपने पर हुए आघात का शिष्ट उत्तर देने में नहीं चूकते। इनका स्वभाव उस मिली हुई वीणा के कोमल तारों की भाँति है कि जो न तो कठोर असंयत, और अकुशल अंगुलियों के आघात के लिये तैयार रहते, पर जो कुशल अंगुलियों में सामंजस्यमय स्पर्श पाने पर कर्ण-कटु स्वरों की ही सृष्टि करते। कोमलता, शिष्टता और मिष्टता इनके स्वभाव के तीन मिले-जुले रंग हैं, जो पहले परिचय में ही आगन्तुक के मन पर अपनी गहरी छाया छोड़ देते हैं।

पंत जी लड़ते तो शायद ही कभी किसी से हों, किसी से बहुत अधिक असंतुष्ट होने पर उसके प्रति उदासीनता ही इनके क्रुद्ध मन की चरम अभिव्यक्ति समझिये।

खूब और घंटों जमकर बातचीत करते रहना पंत जी का स्वभाव नहीं है। प्रायः इनकी बातचीत के विषय, साहित्य समाज और तात्कालिक राजनीति ही होते हैं। अपने संबंध में या दूसरों के संबंध में व्यक्तिगत बातचीत बहुत कम करते हैं या बिल्कुल नहीं करते। बातचीत में अंग्रेजी शब्दों का व्यवहार मुक्त भाव से स्वाभाविक रूप में होता है और बीच बीच में पंत जी की हलकी हलकी व्यंजनात्मक मीठी चुटकियां भी चलती रहती हैं।

बातचीत के साथ साथ पंत जी के अंग-प्रत्यंग का संचालन उसे और भी प्रभावोत्पादक बना देता है। अतः नृत्यकार उदयशंकर जी की तरह पंत जी का अभिनयात्मक ढंग से बातचीत करना केवल सुनने की ही वस्तु नहीं, बल्कि देखने की भी वस्तु है। अपने अभिनय से कभी कभी वे दर्शक को खूब हँसा भी देते हैं। मुझे याद है, एक दिन वे कालाकाँकर के एक बनिये की बात बता रहे थे जिससे प्रेरित होकर उन्होंने एक कविता भी लिखी है। वे बता रहे थे कि वे महाशय मिलने पर कितने उच्चादर्शों की बातें किया करते थे, पर वे ही दूकान पर सौदा तौलते समय खट से डंडी मार देते थे। पंत जी द्वारा बनिये के डंडी मारने का अभिनय देखते ही बनता था। उस दिन पंत जी ने बनिये के डंडी मारने की नकल उतार कर खूब ही हँसाया। तब से मेरा विश्वास हो गया है कि पंत जी विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की भांति सफल अभिनेता होने के साथ साथ रंगमंच का संचालन भी बड़ी ही कुशलतापूर्वक कर सकते हैं।

संस्कृत में मंद स्मिति से लेकर अट्टहास तक हँसी की आठ श्रेणियां बताई गई हैं, पर पंत जी की हँसी मुझे तो लगता है शायद ही कभी छठी श्रेणी को पार कर पाती हो, नहीं तो साधारणतया इनकी हंसी मंदहास तक ही सीमित रहती है।

संगीत और पंत जी

पंत जी को काव्य का स्वाभाविक वरदान प्राप्त होने के साथ-साथ संगीत का शास्त्रीय ज्ञान भी प्राप्त है। इनके बहुत से गीतों की सृष्टि संगीतात्मक राग-रागनियों के आधार पर हुई है। प्रायः निराला जी की तरह ये भी अपने गीतों को राग-रागनियों में बाँधकर सुनाते हैं। पंत जी जब अपनी कविता सुनाते हैं तो श्रोताओं तथा दर्शकों को काव्य, संगीत और अभिनय की त्रिवेणी में अवगाहन के-से सुख का अनुभव होता है। पर पंत जी के लिये कोमल भावों का अभिनय जितना स्वाभाविक है परुषता अथवा कठोरता का अभिनय उतना ही अस्वाभाविक।

बातचीत के बीच या कविता की भूमिका में कुछ समझाते हुए किसी-किसी वाक्य के अन्त में पंत जी को प्रश्नवाचक 'ऐं ?' 'या ठीक है न?' कहने की आदत है। दोनों शब्दों का उच्चारण पंत जी ऐसे कोमल लहजे में करते हैं कि जैसे अपने अन्तर की सारी कोमलता उसमें उड़ेले दे रहे हों। मुझे याद है एक बार प्रयाग विश्वविद्यालय के यूनियन हॉल में जब वे अपनी कविता आरंभ करने वाले थे, तो बोले, "अच्छा अब मैं आपको एक गीत सुनाऊँ ?— क्यों बंध गये प्राण प्राणों से !—ऐं"...... तो पंत जी के अतिशय कोमलता-वाही 'ऐं' कहने के ढंग पर लड़के मुस्करा उठे थे और लड़कियाँ लजा गई थीं।

कवि मिल्टन ने कहा कि कवि होने के लिये कवि का जीवन एक काव्य होना चाहिये। इस दृष्टि से देखा जाय तो पंत जी वास्तविक अर्थ में कवि हैं और इनका जीवन काव्य है। यहीं तक नहीं, पंत जी अपने चारों ओर की परिस्थितियाँ तथा जन-समाज में भी ऐसा ही काव्य-रूप चाहते हैं कि उसके हृदय से काव्य का उत्स प्रवाहित हो सके। पंत जी सामंजस्य में जीवित रहने वाले प्राणी हैं। सामंजस्य और संतुलन के बिगड़ जाने पर ही विकृति का जन्म होता है। पंत जी विकृत परिस्थितियों को तनिक भी नहीं सह सकते, यही कारण है कि पंत जी अस्त-व्यस्त कमरे में नहीं बैठ सकते, अंधेरे में अकेले या ऊबड़-खाबड़ भूमि पर नहीं चल सकते, गंदे तथा कुरूप आदमियों से अधिक बात नहीं कर सकते, कोई बड़ा ही भयावह, करुण या बीभत्स दृश्य नहीं

देख सकते, हत्याओं, कूटचक्र तथा वासनात्मक चित्रणों से भरे उपन्यास नहीं पढ़ सकते।

सामंजस्य से ही सौन्दर्य की सृष्टि होती है। पंत जी सौन्दर्य में ही जीवित रहते हैं। वे सौन्दर्य-द्रष्टा भी हैं और सौन्दर्य-स्रष्टा भी। उनके प्राणों में सौंदर्य का अगाध सागर लहरें मारता है। काव्य के माध्यम से वे उसे जन-समाज की शिराओं में प्रवाहित करना चाहते हैं। यह तो रही आन्तरिक सौंदर्य की बात, पर बाह्य-जगत् में भी ये निरन्तर सौंदर्य के संपर्क में रहना चाहते हैं, पर वहां उनके भीतर का दार्शनिक इन्हें उसमें लिप्त नहीं होने देता। इन्होंने स्वयं अभी अपने एक गीत में लिखा है—

'मैं सुन्दरता में स्नान कर सकूं प्रतिक्षण
यह बने न बंधन'

प्रेम को भी ये एक विराट् भावना के रूप में ही स्वीकार करते हैं, बंधन के रूप में नहीं। जो इनके स्वप्नों को सीमित कर दे, भावों को संकीर्णता की परिधि में जकड़ दे और इनकी उड़ान को पंगु कर दे, ऐसा कोई भी बंधन इन्हें स्वीकार नहीं। कदाचित् यही कारण है कि इन्होंने विवाह का बंधन स्वीकार नहीं किया। नारी की अतुल ममता, स्नेह और प्यार की विभूतियों का कोमल संपर्क न मिलने पर भी, नारी के प्रति इनके मन में कोई संकीर्णता या कटुता उत्पन्न नहीं होने पायी, बल्कि उसके प्रति निरंतर इनके मन में सम्मान के भाव ही रहे हैं।

सुख-दुःख के प्रति पंत जी का दृष्टिकोण एक शुद्ध दार्शनिक का-सा दृष्टिकोण है। सुख में बहुत अधिक प्रसन्न नहीं होते, दुःख में बहुत अधिक आकुल भी नहीं। कदाचित् इसीलिये पंत जी के सम्बन्ध में यह जानना कि वे किससे प्रसन्न हैं और किससे अप्रसन्न असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

प्रकृति और पंत

प्रकृति के साथ पंत जी का सम्बन्ध सदैव एक चिर-युवा प्रेमी का-सा रहा है, लगता है प्रकृति के प्रत्येक वर्ण और गन्ध का इन्हें सहज ज्ञान है और ये फूल और तितलियों से लेकर हिमाचल, बादल, इंद्रधनुष, सीपी और सागर सभी के रहस्यों को भली भाँति जानते हैं। गिरि के आंचल से फूट-फूट कर बहने वाले निर्झरों, सरिताओं तथा उनके रंगीन चिकने उपलों से उनके मन और प्राणों का अटूट सम्बन्ध रहा है। वर्षों तक उनकी पलकें गिरि-प्रांतर में खिलने वाली ऊषा के आलोक में खुली हैं, और रंगीन संध्या की छवि को भी उन्होंने अपने प्राणों में उतारा है; आज प्रकृति के उस रूप से दूर होने पर भी उसके

प्रति उनकी ममता वैसी ही बनी हुई है। एक दिन मैंने पंत जी से पूछ लिया कि आपको अपनी कौन-सी कविता सबसे सुन्दर लगती है ? तो बड़े ही सहज भाव से बोले—'बहुत पुरानी होने पर भी मुझे अपनी 'संध्या-तारा' कविता बहुत पसन्द है।'

वास्तव में प्रतिभा अपने प्राणों का रस है जो किसी भी माध्यम से चेतनामयी आलोक सृष्टि का निर्माण कर सकता है। कुछ व्यक्ति इन माध्यमों को अपने से बाहर समाज में खोज लेते हैं और कुछ अपने ही भीतर। प्रथम प्रकार के व्यक्तियों की प्रतिभा बाह्यमुखी होती है, और दूसरे प्रकार के व्यक्तियों की अंतर्मुखी। पंत जी की प्रतिभा अंतर्मुखी है। वे बाहर की बातों की अपेक्षा अपने में ही अधिक डूबे रहते हैं, यही कारण है कि वे बाहर की बहुत सी अनावश्यक बातों को भूल भी अधिक जाते हैं।

पंत जी प्रधानतः तो कवि ही हैं, पर इन्होंने काव्य के अतिरिक्त कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं और कुछ रंगमंच के योग्य नवीन टैकनीक को लिये हुये सुन्दर एकांकी नाटक भी लिखे हैं। और अब 'क्रमशः' नामक उपन्यास भी लिख रहे हैं। उनकी पुस्तकों में लिखी हुई कुछ विवेचनात्मक भूमिकायें भी आलोचना की दृष्टि से सुन्दर हैं।

हिन्दी में 'खड़ी बोली' के रूप को सँवारने में पन्त जी का विशेष हाथ रहा है। इन्होंने अपनी लेखनी से भाषा में नई जान डाल दी, इनके स्पर्श से जैसे शिलारूप अहिल्या फिर प्राणवान हो उठी हो। हिन्दी के अतिरिक्त पन्त जी को संस्कृत, बँगला और अँग्रेज़ी का विशद ज्ञान है। वैसे इनकी स्थानीय बोली (लोकल डाइलेक्ट) पहाड़ी है।

पंत जी और तीन महापुरुष

पन्त जी अपने जीवन और साहित्य में तीन महापुरुषों से बहुत अधिक प्रभावित हैं! वे महापुरुष हैं—महात्मा गांधी, विश्व-कवि रवीन्द्र तथा योगिराज अरविंद। महात्मा गांधी की सत्य और अहिंसा को इन्होंने, लगता है, अपने जीवन व्यापार और व्यवहार में उतार लिया है, रवीन्द्रनाथ के सौंदर्य-दर्शन को अपने प्राणों और योगिराज अरविंद के [illegible]। एक दिन बात करते करते इन्होंने स्वयं कहा था—"मैं योगी अरविंद से सचमुच बहुत अधिक प्रभावित हूँ; उन्होंने पूर्व (ईस्ट) को पश्चिम (वेस्ट) के सामने 'इंटरप्रेट' करने का महान् कार्य किया है। उनके चिंतन का ढंग इतना मौलिक है कि उनकी भाषा का अनुवाद भले ही हो जाय पर भावों का अनुवाद पूर्णरूप से बहुत कठिन है।" इनके अतिरिक्त पन्त जी की वाल्मीकि तथा कालिदास के प्रति भी बड़ी ममता

नहीं। अपने देश की विराट् सँस्कृति तथा संस्कृत के विशाल साहित्य वैभव पर इन्हें विशेष गर्व है।

सभी सत्य सापेक्ष्य होते हैं। इस देश के अध्यात्मवाद ने केवल आंतरिक जगत् को ही सत्य मान लिया और बाह्य-जगत को मिथ्या। मार्क्सवाद ने इसी सत्य को बिल्कुल उल्टा सिद्ध कर दिया। पंत जी कहते हैं कि दोनों के समन्वय से ही जन-कल्याण हो सकता है। जिस प्रकार भौतिक-जगत् में विकास के अनेक स्तर हैं वैसे ही आंतरिक चेतना की अनेक आलोकमयी परतें।

पूजा

पंत जी ईश्वर जैसी कोई सत्ता तो नहीं मानते, पर एक व्यापक दिव्यता में उनका विश्वास है। एक दिन मैं उनसे सुबह नौ बजे के आस पास मिलने गया, वे उसी समय नहाकर आए थे। दो तीन मिनट बातचीत करने के उपरांत बोले, "अब मैं पूजा करूँगा।" मैं एकदम आश्चर्य में डूब गया। मैंने सोचा कि शायद पंत जी भी किसी देवी-देवता की पुष्प अक्षत और चन्दन चढ़ाकर तथा घंटी बजाकर पूजा करते हों। मैंने पूछ लिया—

"आप किसकी पूजा करते हैं ?" पंत जी बोले—"पूजा किसी की नहीं, मैं नहाने के बाद 'मेडीटेशन' (ध्यान) करता हूँ।" तब मैंने उसका अर्थ यह लगा लिया था कि पंत जी निर्गुण भक्ति करते हैं, पर 'मेडीटेशन' का वास्तविक अर्थ मैं यहाँ के स्थानीय 'अरविंद पाठ-चक्र' की एक दो बैठकों में भाग लेने पर ही जान पाया, जिससे मैं यह समझा कि पंत जी के प्रतिदिन के 'मेडीटेशन' का अर्थ अपनी समस्त चेतना का केन्द्रीकरण कर उसमें दिव्यता की अनुभूति प्राप्ति होती है।

पंत जी के साहित्य विकास की एक लम्बी कहानी है, पर थोड़े में हम यह कह सकते हैं कि इनके साहित्य का विकास निरंतर सीमितता से व्यापकता की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर तथा व्यष्टि से समष्टि की ओर जा रहा है। 'वीणा' के तारों में अपनी किशोर कल्पना को उलझाने वाला, तथा 'ग्रंथि' में अपने प्राणों में समेटी हुई तीव्र व्यथा की गांठें खोलने वाला कवि, 'पल्लव', 'गुंजन' 'युगवाणी' 'युगान्त' और 'ग्राम्या' का लम्बा मार्ग पार कर आज अपनी ऊर्ध्व-चेतना से 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्णधूलि' की दिव्य आलोकमयी भूमिका पर पहुंच गया है—जैसे हिमाचल के प्रांगण में खेलने वाली रजत-रेखा-सी सरित्-धार धीरे धीरे महानद बनकर महासमुद्र में मिल गई हो।

स्वप्नद्रष्टा तो पंत जी आज भी वैसे ही हैं; जैसे आज से बीस वर्ष पहले थे, पर आज उनके स्वप्नों में एक महान् अन्तर आ गया है। आज से बीस

वर्ष पहले के स्वप्न उनकी जीवन-सरिता में उठने वाले रंगीन बुद्बुदों की भांति थे, पर आज वे समस्त विश्व को अपनी भुजाओं में समेटने वाले इन्द्रधनुष की तरह हैं। निस्संदेह आज के पन्त, कवि की अपेक्षा दार्शनिक अधिक हो गये हैं। पर पन्त का दर्शन शंकराचार्य का-सा शुष्क ज्ञान का पिटारा नहीं, बल्कि उपनिषदों का-सा काव्यमय दर्शन है। जैसे उपनिषदों का दर्शन छोटी-छोटी सुन्दर कथाओं में समाहित है, वैसे ही पन्त जी का दर्शन भी यथार्थ जीवन और जगत् से ली हुई वास्तविक घटनाओं में पिरोया गया है।

सामंजस्य

पन्त जी बाह्य-जगत् और आंतरिक चेतना में सामंजस्य चाहते हैं। वे यंत्र और जीवन का समन्वय चाहते हैं। उनका कहना है कि भौतिक तत्त्वों में दिव्य तत्त्वों के समावेश से ही जन-जीवन कल्याणमय हो सकता है। यही पन्त की रामराज्य की कल्पना है, और यही है उनका स्वर्णिम् स्वप्न। इसी स्वप्न को सत्य का रूप देने के लिये पन्त जी ने 'लोकायन' नामक संस्था की स्थापना की है। पंत जी इस संस्था द्वारा युग-चेतना तथा लोक-चेतना के स्तर को उठाना चाहते हैं। उसका परिष्कार चाहते हैं। पन्त जी का विश्वास है कि लोक-चेतना के परिष्कार करने के लिये रेडियो भी एक उत्तम माध्यम है।

कभी कभी वे यह सोचकर कि हमारे जन-जीवन का संतुलन और सामंजस्य बिगड़ गया है, क्षुब्ध भी हो उठते हैं। एक दिन मैंने अपने एक कार्टूनिस्ट मित्र के विषय में बातें करते हुए कहा कि इनसे परिचय होने पर एक बड़ा भारी भय यही है कि ये कार्टूनिस्ट हैं। पन्त जी सुनकर तुरन्त बोल उठे, "इस युग में हम सभी कार्टून जैसे हैं।" उनके कहने का आशय यही था कि हममें और युग में सामंजस्य नहीं।

अठारह वर्ष की किशोरावस्था से व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख के रंगीन और कोमल सपनों से अभ्यस्त आंखें, आज एक विश्वव्यापी सुख और शान्ति के विराट् स्वप्न को सँजो रही हैं; अपने ही जीवन के सौरभ में डूबे हुये और परिमल में भीगे हुए पंख, जो केवल तितलियों और फूलों के सौन्दर्य को ही अपनी दृष्टि में भर पाते थे, आज एक विराट् सौन्दर्याकाश का अवगाहन करने लगे हैं। कवि के स्वप्न हिमालय की छाया में पले थे—या वे आज उसके गगन-चुम्बी शिखर पाना चाहते हैं।

इनकी तरल, स्निग्ध जीवन-ज्योति को कई बार झंझाओं से जूझना पड़ा है, पर बड़े ही हर्ष और उल्लास की बात है कि उन सबके बीच

से होकर आज वह प्रकाश के युग-पथ पर अपनी आलोक रश्मियां बिखेर रहे हैं। इनकी अमर चेतना का प्रदीप निरंतर नवीन आलोक से युग-युग तक जलता रहे और उस आलोकमयी छाया में खड़े होकर उस अमर चेतना के चलते फिरते प्रतीक रूप व्यक्ति पन्त की संवर्द्धना और अभिनन्दन के अवसर हमारे जीवन में बार बार लौटें, बार बार लौटें, यही कामना है।

बच्चन

सुमित्रानन्दन पंत : एक संस्मरण

स्मृति की रेखाएँ, जो मानस-पटल पर गहरी खिंच जाती हैं, वे कभी मिटने नहीं पातीं। एक कलाकार की भावनाएँ जब दूसरे कलाकार की भावनाओं से टकराती हैं तो अनिर्वचनीय कोमलता की सृष्टि होती है। बच्चन की सरल, किन्तु विदग्ध शैली में पंत की स्वभावगत विशेषताएँ, जिन्हें लोग जानने को उत्सुक रहते हैं। उभर कर कितनी सजीव और रोचक हो गई हैं।

बच्चन

सुमित्रानन्दन पंत : एक संस्मरण

तरुण लेखक श्री शिवचन्द्र नागर की लेखनी से पंत का व्यक्तित्व मुखर हो गया है। प्रस्तुत लेख में कवि पंत के जीवन-दर्शन के सामंजस्य और संतुलन पर भी प्रकाश डाला गया है।

व्यक्ति से मेरा परिचय भी था। यदि देवता भूले नहीं; और भुलक्कड़ वे खूब हैं, तो बरजोर सिंह ने मुझपर अच्छा रंग जमाया था।"

अब पंत जी पचास के निकट पहुँच चुके हैं और जब मैं उनकी पचीस बरस पहले की तस्वीर याद करता हूँ तो अक्सर मेरे दिमाग में उर्दू का एक शेर चक्कर कर जाता है—

'मैंने पूछा अब कहां है आपका हुस्नो जमाल,
हँस के बोला वह सनम शाने ख़ुदा थी, मैं न था।'

लेकिन पचास बरस की उम्र के लोगों में—इसमें आप चाहें तो औरतों को भी शामिल कर सकते हैं—अगर आप पन्त जी को खड़ा कर दें तो आज भी मैं उन्हें उनकी सुन्दरता के लिए सबसे ज्यादा नंबर दूँगा। थोड़े दिन हुए एक विदेशी चित्रकार ने उनसे कहा था कि यदि आप योरुप में होते तो आपको केवल 'मॉडेल' बनाने के लिए लोग हज़ारों रुपये देने को तैयार होते। पन्त जी के बालों में अब वह सुनहलापन नहीं है, वे भूरे और सफेद भी हो चले हैं पर आज भी वे घुँघराले हैं और कंघी के क्षणिक स्पर्श से इच्छित आकार-प्रकार से उनके सिर पर शोभायमान हो जाते हैं। पन्त जी को इन बालों से बड़ा मोह है। लोगों से बातचीत करते, चलते-फिरते उनकी उँगलियाँ उन्हें ठीक करने में व्यस्त रहती हैं। और इन बालों की सुन्दरता के लिए वे नाई के ऋणी नहीं हैं! अपने जीवन में नाई को उन्होंने बहुत कम ही पैसे दिये होंगे। अपने बाल वे खुद काटते-छाँटते हैं जैसे अपनी कविता की पंक्तियों को। सरस्वती के भूतपूर्व सम्पादक पण्डित देवीदत्त शुक्ल कहा करते थे कि पन्त जी के बालों में भी कवित्व है।

चेहरे का रंग उनका बहुत दब गया है पर नाक-नक्शे में अन्तर नहीं आया। बल्कि मैं तो यों कहूँगा कि बढ़ती उम्र के साथ जीवन के अनेक संघर्षणों के समाप्त होने, अनेक गाँठों के सुलझने और जग-जीवन के अनेक प्रश्नों और समस्याओं पर संतोषजनक निर्णय पर पहुँचने के स्निग्ध भावों ने उनके चेहरे को एक ऐसी प्रांजलता दे दी है जिसे फोटोग्राफ में भी देखा जा सकता है।

शरीर को मैं उनके सुन्दर नहीं कहूँगा। व्यायाम उन्होंने कभी नहीं किया, हाँ धीरे-धीरे एकाध मील घूमने का उन्हें शौक है। चार मील फी घंटे की चाल से जो न चल सके, उसके साथ चलना मेरे लिए सबसे बड़ी सज़ा है। पन्त जी के साथ मुझे यह सज़ा बहुत बार भुगतनी पड़ी है। साथी उन्हें घर से निकलने पर जरूर चाहिए। साथी न मिलने पर घर के सामने की दस-बारह गज़ जमीन पर भी लौट फिर करके वे अपने घूमने का कोटा पूरा कर लेते हैं।

कपड़े अब भी वे अपनी विचित्र काट-छाँट के पहनते हैं। जिस दर्जी की शामत आयी होती है वही उनके कपड़ों को सीने के लिए फँसता है। पैंट को छोड़कर शायद ही कोई ऐसा कपड़ा हो जिसमें उन्होंने कुछ परिवर्तन नहीं किया। उन्हें कपड़े सिलने को देते हुए मैंने देखा है—देखो, इसको यहाँ से ऐसा काटो कि यहाँ से ढीला हो, यहाँ से फिर ऐसा गोल आये, फिर यहाँ से ऐसा आड़ा आये आदि आदि। कई बार कपड़ों का ट्रायल होता है तब जाकर उन्हें अपनी पसंद की चीज़ मिलती है। यह मानना पड़ेगा कि उनकी पसंद और उनके डिज़ाइनों में सुरुचि और सुविधा दोनों का ख्याल रहता है। अगर पन्त जी राजनीतिक नेता होते तो गांधी टोपी और जवाहर जैकेट के समान पन्त-कुर्ता और पंत कोट तो जरूर चल पड़ते। संस्कृतमयी हिन्दी का आंदोलन अगर कभी प्रबल वेग से चला तो संभव है लोग पन्त-कुर्ते और पन्त-कोट को अपना लें। मैं कविवर को सलाह दूँगा कि वे अपने डिज़ाइनों को पेटेंट करा लें।

उनकी कविता पर उनके व्यक्तित्व की छाप है ही, पर उसकी बात आज मैं नहीं कर रहा हूँ। और भी जो कुछ उनका है या जो उनके संपर्क में आता है उसपर वे अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ना चाहते हैं। उन्होंने कभी घर नहीं बनवाया, फर्नीचर नहीं जुटाया, कमरे नहीं सजाये, बाग़ नहीं लगाया, मगर मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि ऐसे अवसर उन्हें मिलते तो हर एक चीज़ पर उनके व्यक्तित्व की छाप अवश्य रहती। मानी और प्रचलित वस्तुओं को उनका मन स्वभावतया नहीं ग्रहण करता, करता भी है तो उनमें कुछ परिवर्तन करके, कुछ संशोधन करके। 'लोकायन' का विधान बनाते समय इसका मुझे विशेष आभास हुआ। पदाधिकारियों को उन्होंने ऐसे-ऐसे नाम दिये जिन्हें पहले सुना नहीं गया था। सभापति और उपसभापति को उन्होंने 'लोकपति' और 'लोकव्रती' नाम दिया। प्रचलित 'मंत्री' को उन्होंने 'लोकसखा' कहा। कोषाध्यक्ष बहुत दिनों से चल रहा है, उन्होंने अपने विधान में उसे 'निधि पति' माना। इस प्रवृत्ति का एक उत्कट उदाहरण दूँ। नाम तो कोई अपना नहीं रखता, जो नाम माता पिता दे देते हैं उसी को लेकर चलता है। पंत जी ने स्वयं अपना नामकरण किया। गत वर्ष उनके बड़े भाई श्री हरदत्त पंत, मेरे मेहमान थे। उन्होंने बताया कि पंत जी का दिया हुआ नाम था गोसाईंदत्त पंत, और दो भाइयों के नाम थे रघुवरदत्त पंत और देवीदत्त पंत। श्री हरदत्त पन्त के कोई बिहारी मित्र थे सुमित्रानन्दन सहाय; उनके पत्र अक्सर आया करते थे, बस गोसाईंदत्त जी को यह नाम पसंद आ गया और उन्होंने अपने को सुमित्रानन्दन कहना शुरू किया।

इसको मैं अपना सौभाग्य और भगवान् की कृपा समझता हूँ कि पंत जी

लम्बे-लम्बे अरसे तक आकर मेरे पास ठहरे। इस समय मैं उनके सत्संग, वार्तालाप अथवा मधुर कविता पाठ की बात नहीं सोच रहा हूँ। यह सब तो चलता ही रहता था। पन्त जी को अपने घर में रखना एक अच्छे डॉक्टर को घर में रखना है। और मेरे ऐसे बाल बच्चे वाले गृहस्थ जिनके यहाँ आये दिन दुःख-बीमारी लगी ही रहती है ऐसे साथी की महत्ता भली भाँति समझ सकते हैं। किसी बच्चे को कोई तकलीफ़ हुई, उन्होंने देखा और बता दिया यह रोग है, घबराने की बात नहीं; फलाँ दवा दे दो। कई बार 'नीम हकीम खतरे जान' को याद कर मैंने डॉक्टर को भी बुलवाया, पर हर बार डॉक्टर की वही राय और दवा की तजवीज़ हुई जो उनकी थी। और कई बार उनकी दवा से मुझे जो आराम मिला वह डाक्टर की दवा से भी न मिला था। एक दाँत के डॉक्टर ने अपनी मूर्खता से मेरा अच्छा मज़बूत दाँत निकाल दिया। दर्द बहुत दिनों से था, पंत जी भी कह रहे थे कि क्या दन्त मोह में पड़े हो, निकलवा डालो। जब इंजेक्शन का प्रभाव समाप्त हुआ तो मारे दर्द के प्राण जाने लगा। पंत जी ने एक दवा मँगाकर दी, और फौरन मेरा दर्द जाता रहा। मैं सोचने लगा कि आखिर डॉक्टर ने वह दवा क्यों नहीं बतलायी। इसी प्रकार मेरी पत्नी को भी कई बार उनकी बतायी दवाओं से फ़ायदा हुआ। पन्त जी लम्बे अरसों तक दिल्ली के डा० जोशी के यहाँ ठहरते थे, शायद यह ज्ञान उन्होंने वहीं से प्राप्त किया। अपने स्वास्थ्य का पंत जी ध्यान रखते हैं और कब किस समय उन्हें कौन दवा खानी चाहिये इसे वे जानते हैं। दो-चार दवाएँ उनकी अलमारी में पड़ी रहती हैं, कोई सुबह उठते ही खाने की है तो कोई खाना खाने के आधा घंटा पहले, तो कोई सोने के पूर्व। गोकि दवाखाने की याद ज़रा आपको कम ही रहती है। अक्सर खाने की मेज़ पर दो-तीन कौर खाने के बाद उन्होंने कहा है—हाय, दवा खाना तो भूल ही गया। दवाओं को खत्म करने में जो मैंने उन की सहायता की है, आशा है वे याद रक्खेंगे। सब स्वादिष्ट दवाओं में, चाहे वे किसी भी मर्ज़ की हों, मैं अपना हिस्सा लगा लेता था।

पिछले बार जब वे बम्बई से मेरे यहाँ आये तो उनके पास काले मुनक्कों की एक बोतल थी। इसे वे शाम को सोने से पहले खाते थे, सुबह उठते ही शहद में मिलाकर एक हल्दी-सी पीली दवा खाते थे। उन्होंने मुझसे कहा कि बम्बई में श्री नरेन्द्र शर्मा के गुरु हैं, उन्होंने यह मुनक्के मंत्राभिषिक्त करके दिये हैं, थोड़े मुनक्के रहते ही इसमें और मुनक्के मिला देने से मत्र का असर ज्यों का त्यों नये वालों में भी आ जायगा। मुनक्के, और मैं खाने से चूक जाऊँ यह असम्भव है। कई बार हिम्मत की कि मैं भी इन मुनक्कों का मज़ा लूँ पर हर बार पंत जी ने कहा, बाबा, यह मंत्रित मुनक्के हैं तुम्हें नुकसान कर सकते हैं।

बस, मैंने डर के मारे उन्हें छोड़ दिया। पता नहीं मुनक्के सचमुच में मंत्राभिषिक्त थे या पंत जी ने उन्हें मुझसे बचाने के लिए ऐसा कह दिया था।

पर मंत्र-तंत्र में पंत जी का विश्वास है। जन्म-पत्र देखना भी जानते हैं, और उसमें जीवन की गति-विधि बतला सकते हैं। ग्रहों के अनुसार मूंगा मोती, नीलम आदि पहनने से जो लाभादि होते हैं इसके भी कायल हैं। किसी किसी को बताते भी सुना है कि तुम मूँगा पहनो तो तुम्हारे लिए फलदायक होगा, तुम्हारे लिए मणि उपयुक्त है, तुम्हारा पत्थर नीलम है आदि। और हाथ तो बहुत अच्छा देखते हैं—हालांकि देखने के पहले यह जरूर कह देते हैं कि मुझे कुछ आता नहीं। दूसरों को जो उन्होंने बताया उसमें कितना ठीक उतरा यह तो मुझे नहीं मालूम, पर मेरा हाथ देखकर उन्होंने जो बताया सब ठीक उतरा। १९४० में उन्होंने मेरा हाथ देखकर कहा था कि १९४२ में तुम्हारी शादी होगी। और वैसा ही हुआ। अब हाथ देखकर वे कहते हैं कि तुम्हारे जीवन में दो स्त्रियाँ और आएँगी और उनके कारण तुम्हें नाम और धन मिलेगा। यह सुनकर मेरी पत्नी को चिंता हो गयी है। शायद उसे समझाने के लिए यह कह देते हैं कि वे दोनों वृद्धाएँ हैं।

पत्र-पत्रिकाएँ उनके पास ढेरों आती हैं। प्रायः उनको उलट-पुलट कर नीचे डाल देते हैं—कहते हैं, कूड़ा! लोग क्यों इतना लिखते हैं, इतना छापते हैं और सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि इतना खरीदते हैं। उनकी आलमारी पर मैंने केवल 'हिमालय' और 'प्रतीक' की प्रतियां सुरक्षित देखी हैं। इससे अधिक यत्न से वे रखते हैं दो और पत्रिकाएँ—ये हैं श्री अरविंद आश्रम से निकलने वाली 'अदिति' और 'एडवेंट'। मगर एक ऐसी पत्रिका है जिसके लिए वे बहुत उत्सुक रहते हैं और जिसकी एक-एक पंक्ति वे पढ़ते हैं—कहीं-कहीं रेखांकित भी करते हैं। लोग अवश्य ही यह जानने के लिए उत्सुक होंगे कि यह कौन सी पत्रिका है जिससे पन्त जी इतनी रुचि के साथ पढ़ते हैं—यह है बंगलौर से निकलने वाली एक ज्योतिष पत्रिका—जिसमें महीने भर के ग्रहों की स्थिति के फलाफल पर विचार रहता है। फिर बतलाते हैं कि इस महीने मुझे कितनी यात्रा करनी पड़ेगी, कैसा स्वास्थ्य रहेगा, किन किन से क्या कष्ट मिलेंगे, किनसे होशियार रहना चाहिए, और इसी तरह की बहुत-सी बातें।

पुस्तकें तो शायद वही पढ़ते हैं जो लोग उन्हें भेंट स्वरूप भेज देते हैं। वी० पी० उनकी केवल अरविंद आश्रम के प्रकाशन की आती है। कभी यहाँ कभी वहाँ रहने के कारण उनके पास कोई निजी पुस्तकालय नहीं है। जो किताबें हमेशा उनके साथ रहती हैं—उनमें शब्दसागर, आप्टे के संस्कृत अंग्रेजी कोष और कालिदास के कुछ ग्रंथ हैं जैसे शकुंतला और रघुवंश।

रघुवंश * वे सस्वर पढ़ते हैं और उसका अर्थ भी बतलाते हैं और इसमें काफ़ी रस लेते हैं। मुझे कई बार उनसे रघुवंश सुनने का अवसर मिला है। इधर अरविंद की रचनाओं की ओर उनका विशेष अनुराग हो गया है और उनका संपूर्ण साहित्य उनके पास है।

प्रातः काल नहाने-धोने के बाद वे पूजा भी करते हैं। चारों तरफ़ से किवाड़ बंद कर लेते हैं, कुछ देर बाद निकल आते हैं। एक दिन ऐसे ही द्वार बंद थे, कुछ लोग मिलने आये। मैंने कहा पूजा करते हैं, बैठिए निकले तो बोले, पूजा करते हैं कह दिया था? वे समझेंगे ठाकुर जी की मूर्ति सामने होगी और मैं फूल-अक्षत चढ़ा रहा हूँगा, कहा करो ध्यान कर रहे हैं।

पन्त जी कब और कैसे लिखते हैं इसको जानने के लिए भी लोग उत्सुक होंगे। लिखते मैंने केवल उन्हें दिन को ही देखा है। रात को प्रायः वे काम नहीं करते। तख़्त पर कभी लेटे हुए और कभी बैठ कर लिखते हैं। स्वाभाविक है कि एकांत चाहते हैं। लिखते समय किसी का आना-जाना पास बैठना पसंद नहीं करते। लिखने के दिनों में हर समय विचार-मग्न से रहते हैं खाना-पीना कम हो जाता है। एक भाव-विचार को बहुत तरीक़ों से अभिव्यक्त करते हैं और जल्दी जल्दी सबको लिखते जाते हैं, फिर उनमें से जो पसंद करते हैं उसे अलग लिख लेते हैं। प्रायः जिन कागज़ों पर लिखते हैं उन्हें समस्त संशोधनों, परिवर्तनों के साथ सुरक्षित रखते हैं। भविष्य के खोजियों के लिये यह काफ़ी सिरदर्द का सामान होगा।

रिज़र्व्ड कभी वे रहे भी हों तो अब बिल्कुल नहीं हैं। जो भी उनसे मिलने आता है उससे अपनी सुविधा-असुविधा का ध्यान किये बिना मिलते हैं। सहज संकोची हैं और किसी को भी अप्रिय बात नहीं कहते। बश की बात होने पर किसी को निराश नहीं करते।

स्वभाव ज्यादा दौड़-धूप, सैर-सपाटा करने का नहीं है। यात्रा अकेले नहीं कर सकते। रिक्शे-ताँगे में भी कहीं जाना हो तो किसी को साथ लेना पसंद करते हैं। सड़क पर उन्हें अकेले चलते देखना कठिन है। सदा किसी न किसी के साथ ही रहे हैं। कभी-कभी उन को देखकर मैं सोचता हूँ कि जिस व्यक्ति को साथ की इतनी आवश्यकता थी उसने अपने अकेलेपन की कितनी भारी कीमत दी है।

उनका स्वभाव अधिक बोलने का नहीं है पर अपने व्यक्तिगत जीवन में वे इतने गम्भीर नहीं हैं जितना लोग उन्हें समझते हैं। हास्य और व्यंग की मात्रा उनमें प्रचुर है। जिनके बीच वे निःसंकोच उठते-बैठते हैं वे उनकी सूझ और उक्तियों से परिचित हैं। हँसी-हँसी में कभी वे बड़ी गम्भीर बातें कह जाते हैं। वे

हँसना और हँसाना दोनों जानते हैं—वे अपने पर भी हँस सकते हैं और दूसरों पर भी। उनके हास में कटुता नहीं होती। वे उसी का मज़ाक भी बनाते हैं जो उनका प्रिय होता है—जो उनके निकट होता है। यों उनके मन में सबके लिए आदर का भाव है।

एक दिन मैं किसी बात पर झुँझलाया हुआ था। किसी बात के सिलसिले में कह गया 'कवियों की पूँछ कहीं नहीं है'। पंत जी बोले, 'बाबा जब आदमी के पूँछ नहीं रह जाती तभी वह कवि बनता है।'

मेरे घर में एक नौकर था। उसने चोरी की। मेरी पत्नी ने उसके वादा करने पर कि फिर वह ऐसा काम न करेगा उसे घर में रहने दिया। वे बाहर चली गयीं और नौकर ने फिर चोरी की। मैं बहुत झल्लाया, 'देखिए तेजी को कि चोरों पर विश्वास करती हैं।'

पन्त जी बोले, 'इस पर तो तुम्हें अपने भाग्य को सराहना चाहिए।'

मैंने कहा, 'क्यों?'

बोले, 'अरे चोरों पर विश्वास करने की आदत न होती तो वे तुम्हारे साथ पंजाब छोड़कर कैसे आतीं।'

एक दिन की और बात है, मैं अपनी एक कविता सुना रहा था। पंक्तियाँ आयीं।

'मैं तो केवल इतना ही सिखला सकता हूँ,
अपने मन को किस भाँति लुटाया जाता है।'

पंत जी बोले, 'इसमें तुमने थोड़ा-सा झूट बोला है।'

मैंने कहा, 'कैसे?'

कहने लगे, 'सच कहते तो तुम्हें इन पंक्तियों को ऐसे लिखना था,

'मैं तो केवल इतना ही सिखला सकता हूँ,
औरों के मन को कैसे लूटा जा सकता है!'

कार्तिकी पूर्णिमा की बात है। गुलाबी-सा जाड़ा पड़ रहा था लेकिन पंत जी महाराज चमड़े की जैकेट पहने हुए थे। मैं अपने ठण्डे कपड़ों में था। मैंने कहा 'पंत जी, अचरज है कि पहाड़ी होने पर भी आपको इतनी सर्दी लगती है, मुझे देखिए पहाड़ी तो मैं हूँ।'

पन्त जी बोले, 'तुम पहाड़ी नहीं हो, तुम पहाड़ हो, पहाड़ी मैं ही हूँ।'

शायद ही कोई अवसर उनसे मिलने का होता है जब मुझे उनकी हाज़िर जबाबी का नमूना नहीं मिलता।

अपने स्वभाव और व्यवहार में वे पूर्ण परिष्कृत हैं। उत्तेजना की बात करते शायद ही मैंने कभी उन्हें सुना हो। एक दिन न जाने किसी बात पर मुझसे नाराज़ हो गये, बाद को बहुत दुखी हुए। खाना नहीं खाया। दिन भर उदास रहे और शाम को जब मुझे मना लिया तो उनका मन शांत हुआ। मेरी पत्नी उनके इस गुण पर मुग्ध हैं कि उन्होंने कभी खाने पर इन्तज़ार नहीं कराया, कहीं गये हैं तो ठीक समय पर आ गये हैं, किसी कारणवश रुक जाना पड़ा है तो किसी से कहला दिया है। खाना नहीं खाना है तो पहले से बतला दिया है। मित्रों और परिचितों की भावनाओं का ध्यान तो उन्हें रहता ही है, अपरिचितों की भावनाओं को भी ठेस पहुँचाना उनको गवारा नहीं है। एक दिन हम दोनों ने किसी दूकान से कोई चीज़ खरीदी, मैं लौटाये पैसों को गिनने लगा। बोले, 'क्या पैसे गिनते हो, दूकानदार समझेगा मेरा विश्वास नहीं करते।'

अपने जीवन में वे आदर्शवादी हैं। शायद एक समय सभी आदर्श लेकर चलते हैं पर उससे अपने जीवन का मार्ग प्रशस्त होते न देखकर उन्हें छोड़ बैठते हैं। पंत जी का अनुभव भी शायद यही है कि आदर्शों को लेकर चलने में आजकल की दुनिया में सफलता नहीं मिल सकती। पर असफल होकर भी उन्होंने अभी आदर्शों में आस्था नहीं खोयी।

राहुल सांस्कृत्यायन

हिन्दी के युग प्रवर्तक कवि पंत

हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में पंत का अभ्युदय एक अनोखी घटना है। साहित्य को नया मोड़ देने वाला इतना महान् व्यक्तित्व यदा-कदा पृथ्वी पर जन्म लेता है। पंत एक कलाकार और चिंतक तो हैं ही, उनका सरल, तरल जीवन भी छलछलाती काव्य-धारा की स्निग्धता से ओतप्रोत है। महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा उनकी जीवन की घटनाओं का विश्लेषण, यद्यपि वह कुछ वर्ष पूर्व लिखा गया था, कवि की प्रतिभा के आनुक्रमिक विकास का परिचायक है, जो पाठकों का अनुरंजन करेगा।

श्री सुमित्रानन्दन पंत हिन्दी के युग-प्रवर्तक कवि हैं। 'प्रसाद', 'निराला', 'पन्त', हिन्दी की इन त्रिमूर्तियों में से हैं, जिनमें से हर एक अपना-अपना व्यक्तित्व रखता है। पन्त का व्यक्तित्व केवल कविता में है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वह सिर्फ कविता [illegible] ख खोलते ही उन्होंने कौसानी में जो हिमालय के अनुपम सौन्दर्य को देखा था, हो नहीं सकता था कि उनका कवि-हृदय प्रकृति की मनोहर छटा को क्षण भर के लिए भी भूल जाता। बहुत दिनों तक उन्होंने मानव-सन्तानों का प्रकृति की औरस सन्तान होना अस्वीकार किया। मगर प्रकृति के पुजारी को उसके अपने देवता ने ही बतला दिया कि वैसा समझना ग़लत है। प्रकृति चिरतरुणी, चिरविकासोन्मुखी है, इसीलिए उसका कवि पंत भी सदा विकसित होता रहा। पंत बीसवीं सदी के महान् कवियों में हैं, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन महान कवि होने के साथ-साथ हिन्दी के लिए उनकी एक [illegible] को कोमल और कांत बनाना। एक सच्चे पारखी की तरह पंत ने त्रिकाल से

१९००, मई २१ जन्म (ज्येष्ठ कृष्णाष्टमी ११५७ संवत्), १९०४ शिक्षा-रंभ, १९०७ पहिली तुकबंदी, १९०९ अपर प्राइमरी पास, १९०९-११ घर पर पढ़ाई, १९११-१८ हाईस्कूल (अल्मोड़ा) में, १९१५ पहिली कवितायें, १९१६ साधु बनने की धुन, "कागज़ का फूल" "तम्बाकू का धुँआ" कवितायें "मर्यादा" आदि में छपी कवितायें; १९१७ मिडिल पास, १९१८-१९ जय नारायण हाईस्कूल (बनारस) में, नई शैली की कवितायें; १९१९ मैट्रिक पास, १९१९-२१ म्युर सैंट्रल कालेज (प्रयाग) में, १९२१ कालेज से असहयोग, 'उच्छ्वास" १९२२ "बादल", १९२२-२८ दर्शन में गर्क, १९२६ मंझले भाई की मृत्यु, १९२७ पिता की मृत्यु, १९२९ स्वास्थ्य चौपट, १९३० "मधुवन" की कहानियां, कालाकाँकर में "गुंजन", १९३०-३५ आध्यात्मिक रहस्यवाद पर पूर्ण श्रद्धा, १९३५ नया जीवन, "युगान्त", १९३६-३७ "युगवाणी", १९३८-३९ मार्क्सवादी, "ग्राम्या"; १९४० लोक-संस्कृति के विकास की ओर ख्याल, १९४२-४३ "छाया", "परिणीता", "साधना", 'स्रष्टा", स्वप्न-भंग" आदि नाटक, १९४२ अल्मोड़ा में; १९५० में रेडियो से सहयोग।

मौजदा शब्दों को सेर-छटाँक में नहीं, रत्ती और परमाणुओं के भार में तौल कर उनके मोल को बड़ी बारीकी से आँका, और उसे किसी यूनानी प्रस्तर-शिल्पी की भाँति अपनी छेनी और हथोड़े को बहुत कोमल और दृढ़ हाथों से काटा-छाँटा, उसे सुन्दर भावों के प्रगट करने का माध्यम बनाया। शब्दों के सुन्दर निर्माण और विन्यास में पंत अद्वितीय हैं।

जन्म—अल्मोड़ा से ३२ मील उत्तर, समुद्रतल से साढ़े सात हज़ार-फीट ऊपर उपस्थित कौसानी हिमालय की अत्यन्त सुन्दर उपत्यका है। चीड़ और विशाल बांज (Oak), देवदार और केल से ढँके पर्वतगात्र प्राकृतिक सौंदर्य में कौसानी को अनुपम बनाते हैं। पिछले महायुद्ध से पहले कौसानी में किसी अंग्रेज़ का एक विशाल चाय का बगीचा था। साहिब के मुनीम और लकड़ी के ठेकेदार थे पं० गंगादत्त पंत (मृत्यु १६२७), पं० गंगादत्त सीउनराकोट से आकर यहीं—हच्छीना में बस गए थे। २१ मई, सन् १६०० (जेष्ठ कृष्ण ८ सं० १६५७) में पं० गंगादत्त की पत्नी सरस्वती देवी को चौथा पुत्र पैदा हुआ, जिसके संसार में आने के ६ घन्टे बाद ही मां ने शरीर छोड़ दिया। पिता ने पुत्र का नाम सुमित्रानन्दन पंत रखा। हरदत्त, रघुवरदत्त, देवदत्त जैसे नामों के बाद पिता को अपने सबसे छोटे पुत्र का नाम इतना कवितामय रखने का कारण क्या था?

बाल्य—सुमित्रानन्दन को उनकी फूफी ने पाला। वह अपने भाई के पास कौसानी (हच्छीना) में रहा करती थीं। फूफी का स्वभाव बहुत नम्र था। पंत की सबसे पुरानी स्मृति २॥—३ साल की है। बालक सुमित्रानन्दन अपने भाई के हाथ से एक रस्सी खींच रहा था। भाई ने हाथ छोड़ दिया और सुमित्रानन्दन एक जलती हुई अँगीठी में गिर गया, बुरी तरह झुलस गया। पांच साल की उम्र में मंदिर की स्लेटी खपड़ैल गिरी जिससे पैर के अंगूठे में चोट आयी। पंत को अपने बड़े भाई की शादी भी याद है, जबकि वह नौकर की पीठपर चढ़कर वहाँ गया था। माँ के दूध की जगह बालक सुमित्रानन्दन को मिलिन्स फूड (डब्बे वाले दूध) पर पाला गया था। हच्छीना में जिस जगह पं० गंगादत्त का घर था उसके आसपास दो-तीन मील तक कोई घर या टोला नहीं था। हाँ, साहिब का बंगला एक मील दूर पर था, और बगीचे में काम करने वाले १॥-२ हज़ार कुली वहां पास में रहा करते थे। यद्यपि सुमित्रानन्दन को बदहज़मी की शिकायत ११ साल तक रहती रही, मगर और तरह से स्वास्थ्य अच्छा और शरीर गोल-मटोल था। चचेरे भाई भी कुछ थे मगर सुमित्रानन्दन सदा घरघुस्सा था। राक्षसों की कहानियां, भूतों की कहानियां तो बड़े शौक से वह सुनता ही था, लेकिन उसके लिए सबसे सुन्दर कहानियां थीं बर्फ़ के परियों की। जब बर्फ़ गिर जाती है तो देवदार और चीड़ के सदा हरित पत्रों पर सफेद गोले की

तरह छा कर धरती पर चारों ओर रुपहला फर्श बिछा देती है, उस समय परियां अपने घरों से निकलती हैं, फिर उनका नाच शुरू होता है। सुमित्रानन्दन को इन परियों के देखने का बड़ा शौक था, लेकिन कुछ-कुछ डरता भी था; क्योंकि बुआ और दादी ने कह रखा था कि परियां छोटे-छोटे बच्चों को उड़ा ले जाती हैं। कौसानी में लाल-सफेद रंग के सुन्दर गोल-मटोल पत्थरों की कमी नहीं थी। सुमित्रानन्दन ऐसे पत्थरों को जमाकर फूल-मिटाई से खूब पूजता। घर की स्त्रियों में गाने का शौक था। कभी बहनें गातीं, और कभी दादी देवकी बुढ़ापे के कंपित-स्वर में गुनगुनाती—"माई के मंदिरवा में दीपक बारो"; जिसे सुनकर सुमित्रानन्दन भी गुनगुनाने की कोशिश करता। मकान के पास विशाल देवदारों का उपवन-सा लगा था; उन्हें निहारना और उनसे गिरते पीले चूर्ण को देखना सुमित्रानन्दन को बहुत पसन्द आता था। कौसानी (कत्यूर घाटी) और हिमालय के बीच में कोई व्यवधान नहीं है, और बालक सुमित्रानन्दन हिमालय के रौप्य-शिखरों को प्रातः-सायं सुवर्णमय होते देख बहुत चकित होता था। कौसानी में साधु अक्सर आया करते थे। पं० गंगादत्त पंत साधुसेवी थे। एक बार पूछने पर गंगादत्तजी ने सुमित्रानन्दन के बारे में बतलाया—"यह मेरा सबसे छोटा बेटा है।" साधु ने कहा—"सबसे छोटा या सबसे बड़ा ?" हाँ, सुमित्रानन्दन ने पीछे अपने को सबसे बड़ा बेटा साबित किया। सुमित्रानन्दन को न खेलने का शौक था न कूदने का, न वह लड़ता-झगड़ता था।

शिक्षा—चार-पांच साल का होने पर पिता ने लकड़ी की तख्ती पर मृत्तिका-चूर्ण डाल सुमित्रानन्दन को "श्रीगणेशायनमः" शुरू किया। हच्छीना में एक छोटा-सा स्कूल था, जिसमें चालीस-पचास लड़के पढ़ा करते थे और अध्यापक थे फूफी के लड़के। सुमित्रानन्दन रोज़ स्कूल में जाता। पढ़ने में उसकी दिलचस्पी थी। बड़े भाई अपनी तरुणी पत्नी के मनोरंजन के लिए मेघदूत (हिन्दी) को बड़े राग से गाते थे। सुमित्रानन्दन उसे बड़े ध्यान से सुनता था—छंद को, राग को, अर्थ को, सुमित्रानन्दन को अभी इनके भेद नहीं मालूम थे। भाई के कमरे के बरामदे में पंत का डेस्क था। भाई और छुट्टियों में आये उनके दोस्त इश्किया ग़ज़ल गाया करते थे। सुमित्रानन्दन को ग़ज़ल की लय अच्छी मालूम हुई और उस सात साल की उम्र में उसने भी अपने पीले कागज की कापी पर एक ग़ज़ल लिख डाली। १९०९ में सुमित्रानन्दन ने अपर प्राइमरी दर्जा ४ पास [illegible] के स्कूल दूर थे और नौ साल की उम्र में बाहर भेजना पिता पसंद न करते थे, इसलिए दो साल तक घर ही पर रहते सुमित्रानन्दन पिता और भाई से अँग्रेज़ी पढ़ता। बड़े भाई हरदत्त से सुमित्रानन्दन का बहुत प्रेम था।

११ साल की उम्र में (१९११) सुमित्रानन्दन को अलमोड़ा के गवर्नमेंट हाईस्कूल के चौथे दर्जे में दाखिल कर दिया गया। मँझले भाई रघुवरदत्त उस समय वहीं नवें दर्जे में पढ़ते थे, इसलिए दोनों साथ रहते थे।

बचपन ही से सुमित्रानन्दन को साधुओं के देखने-सुनने का बहुत मौका मिलता था। १९१५ में स्वामी सत्यदेव का व्याख्यान सुना। उन्होंने वहां एक हिंदी पुस्तकालय की स्थापना की, इससे सुमित्रानंदन में हिंदी-प्रेम और देशभक्ति का जोश जगा। सुमित्रानंदन "सरस्वती" और मैथिलीशरण की कविताओं को बड़े शौक से पढ़ा करता। १५ साल की उम्र में अपने फुफेरे भाई को सुमित्रानंदन ने रोला छंद में एक पत्र भी लिखा। १९१६ में एक पंजाबी तरुण साधू अलमोड़ा में आया। उसके सुंदर गोरे शरीर पर रेशमी काषाय और भी सुंदर मालूम होता था। उसके बाहरी वेष-भूषण को ही सुमित्रानंदन ने ज्ञान-वैराग्य का वाह्य रूप समझा। सुमित्रानंदन को यह जीवन सुन्दर मालूम होने लगा। महाभारत रामायण, वैराग्यशतक को वह बड़े चाव से पढ़ने लगा। एक तरफ उसका ध्यान योग, वैराग्य की ओर खिंचा हुआ था और वह पढ़ाई के घंटों को साधू के सत्संग में बिताता था या धार्मिक पोथियों में डूबा रहता, दूसरी ओर साहित्य की ओर उसकी स्वाभाविक रुचि अब जाग उठी थी। १९१६ में [illegible] अखबार' में पंत की पहली कविता छपी। इस समय भारत-भारती [illegible] हरिऔध का— पंत को बहुत पसंद था। साहित्यिक गोविंदवल्लभ पंत के भतीजे श्यामाचरण पंत 'सुधाकर' (१९१६-१७) नाम से एक हस्त-लिखित पत्र निकालते थे। सुमित्रानंदन बराबर उसमें अपनी कवितायें देने लगा। उसके दिल में आत्म-विश्वास बढ़ चला था। इसलिए अपने को ज्यादा साधन-संपन्न बनाने के लिए पंत ने 'छंद-प्रभाकर' 'काव्य-प्रभाकर', आदि के साथ मध्यकालीन कवियों की कृतियों को बड़े ध्यान से पढ़ा। केशवदास उसे कभी पसंद नहीं आये। मतिराम और सेनापति पंत के अत्यंत प्रिय कवि थे। बिहारी की ओर उसकी रुचि गई, जबकि उन्होंने पद्मसिंह की भूमिका को पढ़ा। १९१६ ही में पंत ने अपने 'तंबाकू का धुँआ' को 'अल्मोड़ा-अखबार' में छपवाया था, जिसकी दो पंक्तियां हैं—

"सप्रेम पान करके मानव तुझे हृदय में।
रखता जहाँ बसे हैं भगवान विश्व-स्वामी॥'

धुँआ पंत के लिए स्वतंत्रता का प्रेमी मालूम हुआ। 'सुधाकर' में पंत अपनी कविता देते थे। लेखों और कविताओं पर मित्र मण्डली में खण्डन-मण्डन भी होता रहता था। इलाचंद्र जोशी और श्यामाचरणदत्त पंत कहा करते कि सुमित्रानन्दन तो मैथलीशरण का नक्कालची है। 'सुधाकर' में सुमित्रा-

नंदन उनके आक्षेप का जवाब भी दे देते, लेकिन साथ ही वह अपने मन में उनके आक्षेप को सत्य भी समझते थे, इसलिए उनकी प्रतिभा स्वच्छंद होने की फ़िक्र में रहती थी। इसके लिए वह अधिक से अधिक साहित्य को पढ़ते थे। स्कूल के निबंधों में तो इतने कठिन-कठिन शब्द इस्तेमाल करते थे कि अध्यापक की भी समझ में नहीं आते थे और वह कह दिया करते कि सुमित्रा नंदन हिंदी में ज़रूर फेल होगा।

१९१६ में कविता लिखने में वह बहुत व्यस्त रहा करते और एक-एक दिन में दो-दो कविताएँ लिख डालते थे। 'अलमोड़ा-अख़बार' में छपी उनकी कविता 'कागज के फूल' भी उनमें से एक है। भाई के यहाँ कागज के फूल टँगे रहते थे, उस पर भौंरा भला क्यों आने लगा। इसी को लेकर पंत ने लिखा था—

"कागज कुसुम बता तू छविहीन क्यों बना है।
तू रूप-रंग में तो उपवन कुसुम सदृश है॥"

पंत को ब्रजभाषा में कविता करने का शौक शुरू ही से कभी नहीं हुआ। वह समझते थे कि यह [illegible] का गाना होगा। १९१६-१७ की जाड़ों की छुट्टियों में पंत कौसानी [illegible] और अल्मोड़ा में [illegible] छुट्टियाँ गर्मी की जगह जाड़े में [illegible] पंत ने 'अरुण' और '[illegible]' आदि कविताएँ लिखीं। इसी [illegible] पंत ने 'हार' नाम से एक उपन्यास लिखा, जो छपा नहीं। इसमें तरुण-तरुणी का प्रेम, और तरुण का संन्यासी बन तिलक के कर्मयोग की ओर जाने का चित्रण है—पंत स्वयं वैसा संन्यासी बनने की फ़िक्र में थे और स्कूल की एक साल की पढ़ाई को उसी के लिए स्वाहा भी कर दिया।

१९१७ में पंत ने मिडिल पास किया। छुआछूत का ख्याल पंत को बचपन ही से नहीं था। कौसानी का साहेब बहुत उदार विचार का था। बालक सुमित्रानंदन को वह खूब मानता था। जाने पर लाल मिश्री और मिठाइयाँ देता। उसके ख़ानसामा के हाथ से ख़ाने में किसी ने कोई एतराज़ नहीं किया और छुटपन से ही अण्डा उसके खाद्य में शामिल हो गया। बी० ए० करने के बाद बड़े भाई पाँच साल तक घर ही पर रहे। उनके स्वतंत्र विचारों का प्रभाव पड़ना ही था। इस तरह पुराने ढंग की कट्टरपंथिता में पड़ना पंत के लिए सम्भव नहीं था। लेकिन वैसे पन्त की धर्म की ओर रुचि, कुछ बौद्धिक ढंग की, इस समय ज्यादा थी। आर्यसमाज का उनके ऊपर कुछ असर हुआ था। मूर्ति पूजा की जगह वह योग को ज्यादा अच्छा समझते थे और तिलक का गीता-रहस्य उनकी बाइबल थी।

पहाड़ से बाहर—१९१८ में पंत ने नवाँ दर्जा पास कर लिया था एक भाई भी बनारस (क्वीन्स कालेजिएट स्कूल) में पढ़ रहे थे। जुलाई (१९१९)

में पंत भी स्कूल में भर्ती होने के लिए चले आये, मगर जगह नहीं मिली, इसलिए उन्होंने जयनारायण स्कूल में नाम लिखा लिया। हिन्दू विश्वविद्यालय में कविता की प्रतियोगिता हुई। कागज पेन्सिल ले दो घण्टे में कविता लिख देना था। पंत प्रतियोगिता में सफल रहे।

नवीन कविता—१९१८-१९ का यह स्कूल का आखिरी साल है, जबकि अँधेरे में हाथ-पैर मारती पंत की कविता सरस्वती ने एक नया रास्ता पाया। उन्होंने 'काला बादल' आदि के रूप में एक नई शैली का आविष्कार किया।

"काला तो यह बादल है! कुमुदकला है जहाँ किलकती।
वह नभ जैसा निर्मल है, मैं वैसी ही उज्ज्वल हूँ माँ॥"

—पल्लविनी ३७।

इससे पहले पंत ने कवि रवीन्द्र की कविताओं को पढ़ा था। सरोजिनी की कविताओं ने भी उन पर असर किया। उन्होंने छन्द और भाषा को ज्यादा सजीव और सरस बनाने का प्रथम प्रयास किया। 'प्रिय-प्रवास' का स्टाइल उन्हें पसन्द था। और शब्दों के चुनाव में भी दूसरों की अपेक्षा उसमें ज्यादा परिष्कृत रुचि दिखलाई गई थी। पंत को करुण-रस सबसे ज्यादा प्रिय है। 'प्रिय-प्रवास' के राधारुदन को पढ़ते हुए वे अपने आँसुओं को बहाया करते थे। लेकिन तब भी उस समय तक हिन्दी-काव्य में जिस शैली और भाषा का प्रयोग हो रहा था, वह बेरंग-रूप का चटियल मैदान-सा मालूम होता था। १९१९ में पंत ने मैट्रिक पास किया और दूसरे डिविज़न में बहुत ज्यादा नम्बरों से। अंग्रेजी और अंग्रेजी कविता की ओर उनकी कोई विशेष रुचि नहीं थी। हाँ, बंगला साहित्य के लिये उन्होंने बनारस में बंगला भाषा पढ़ी। इतिहास की विशेष-विशेष घटनाओं को पद्यबद्ध कर के रट लिये थे।

पंत ने इस समय तक प्रसादजी के 'झरना' को पढ़ लिया था, लेकिन बनारस में रहते भी, अभी प्रसादजी से मिले नहीं थे। काशी की पूजा-पाखण्ड पन्त को पसंद न थी। भक्तों के भगवान करीब-करीब लुप्त हो चुके थे। हाँ बनारस के फूलों के गजरे उन्हें जरूर प्रिय मालूम होते थे। राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं थी।

कॉलेज (प्रयाग में)—अब (२१ जुलाई १९२१) को पंत म्योर सेन्ट्रल कालेज (प्रयाग) में दाखिल हो गये—अभी प्रयाग-विश्वविद्यालय परीक्षक विद्यालयमात्र था। संस्कृत, इतिहास, और तर्कशास्त्र उन्होंने अपने लिये विषय चुने थे। नवम्बर में होस्टल में कवि-सम्मेलन हुआ। पंत ने 'स्वप्न' कविता पढ़ी—

"बालक के कंपित अधरों पर,
किस अतीत स्मृति का मृदुहास ?
जग की इस अविरत निद्रा का,
करता नित रह-रह उपहास ?
उस स्वप्नों की स्वर्ण सरित का,
सजनि कहाँ शुचि जन्मस्थान ?
मुस्कानों में उछल-उछल मृदु,
बहती वह किस ओर अजान ?"

—पल्लविनी ३७

विद्वानों ने तरुण कवि के कवित्व की दाद दी, श्रोताओं ने बहुत पसंद किया। अब पन्त नौसिखिये कवि नहीं एक लब्धप्रतिष्ठ कवि हो चुके थे। प्रोफेसर शिवाधार पाँडे सबसे ज्यादा प्रभावित हुए। उन्होंने शेक्सपीयर ग्रन्थावली और लफ़काडियो हर्न की पुस्तकें भेंट कीं। पंत का अब बहुत सा समय साहित्य पढ़ने और कविता लिखने में जाता था। कीट्स और शैली की कविताएँ पंत बहुत पसंद करते थे।

असहयोग—१९२१ आया। पन्त एफ० ए० के आखिरी साल के विद्यार्थी थे। चारों ओर असहयोग की धूम थी। इसी समय महात्मा जी प्रयाग पहुँचे। देवदत्त पंत ने अपने छोटे भाई को इस तूफानी समय में भी कविता और पुस्तकों में डूबे देख एक दिन कहा—"क्या कर रहे हो ? महात्मा जी का दर्शन भी नहीं करने जाओगे ? पन्त महात्मा जी का दर्शन करने आनन्दभवन गये। महात्मा जी ने छात्रों को सम्बोधित करके कहा कि मैं चाहता हूँ कि तुम लोग कॉलिज छोड़ दो। छोड़ने के लिये स्वीकृति देते हुए लोग हाथ उठाने लगे। पंत ने इसके बारे में कुछ भी नहीं सोचा था। राजनीति की गन्ध भी उन्हें नहीं छू पाई थी। लेकिन आ फँसे थे। दुर्भाग्य से महात्मा जी के सामने पहली पाँति में बैठे हुए थे। लाज शरम के मारे हाथ उठाना ही पड़ा। पंत ने कालेज छोड़ दिया। देवीदत्त अपने जहाँ के तहाँ बने रहे। कहने पर उत्तर देते—"दोनों छोड़ देंगे तो घर वाले नाराज होंगे।" पंत कवि के रूप में प्रयाग में प्रसिद्ध भी हो चुके थे, इसलिये वह हाथ को उतने हलके दिल से नहीं गिरा सकते थे।

असहयोग करके एकाध सप्ताह पंत 'इन्डिपेन्डेन्ट' के माईक्लोस्टाईल पर छापने के लिये जाते रहे। इसके बाद उनके लिये फिर राजनीति दूसरे लोक की चीज़ हो गई। उनके असहयोग का असली मतलब हुआ, विश्वविद्यालय की पढ़ाई से संन्यास ले कविता-सरस्वती की एकान्त आराधना।

कवि का पहिला युग—१६२० में ही पंत ने होस्टल के एक कवि-सम्मेलन में अपनी कविता 'छाया' पढ़ी थी। सभापति हरिऔध जी ने खुश होकर माला उनके गले में डाल दी। असहयोग के बाद तीन-चार साल तक प्रो० शिवाधार पाँडे के साथ पन्त का घनिष्ठ सम्पर्क रहा। कालिदास आदि भारतीय कवियों और शेक्सपियर आदि के ग्रन्थों के पढ़ने में ही पाँडे जी ने सहायता नहीं की, बल्कि वह सदा प्रोत्साहन देते रहते थे। सितम्बर १६२२ में पन्त ने 'उच्छ्वास' लिखा और अजमेर में उसे छपाया। शिवाधार पाँडे ने इसे नया युग कहा, कितने ही और विद्वानों ने हिन्दी में इसे एक नई चीज़ बतलाया। साहित्य-सम्मेलन-पत्रिका में किसी ने इसका मज़ाक उड़ाया। 'सरस्वती'-सम्पादक बख्शी जी ने इसे पूरा शब्दाडंबर कहा। उसकी कुछ पंक्तियाँ थीं—

"—बालिका थी वह भी।
सरलपन ही था उसका मान,
निरालापन था आभूपन,
कान से मिले अजान नयन,
सहज था सजा सजीला तन।
रंगीले गीले फूलों से,
अधखिले भावों से प्रमुदित,
बाल्य सरिता के कूलों से,
खेलती थी तरंग सी नित।"

—पल्लविनी (१७४)

दो साल और बीते। पन्त राजनीति से बिलकुल निर्लेप रहे। न राजनीति की पुस्तक पढ़ते न व्याख्यान सुनते। उनका सारा समय साहित्य के लिये था। अप्रैल १६२२ में कायस्थ पाठशाला में कवि-सम्मेलन था। पन्त ने अपनी कविता 'बादल' सुनाई—

"सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत प्राण के भी सहचर,
मेघदूत की सजल कल्पना,
चातक के चिर जीवन धर,

× × +

भूमि गर्भ में छिप विहंग-से,
फैला कोमल, रोमिल पंख,

हम असंख्य अस्फुट बीजों में,
सेते सांस, छुड़ा जड़ पंक,
विपुल कल्पना-से त्रिभुवन की,
विविध रूप धर, भर नभ अंक,
हम फिर क्रीड़ा कौतुक करते,
छा अनन्त उर में निःशंक;

× × ×

उमड़-उमड़ हम लहराते हैं,
बरसा उपल, तिमिर, घनघोर;

× × +

कभी हवा में महल बनाकर,
सेतु बाँध कर कभी अपार,
हम विलीन हो जाते सहसा,
विभव भूति ही से निःसार।
हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि-वसन, वसुधा के मूल॥"

—पल्लविनी—३५

'उच्छ्वास' पर विरुद्ध सम्मति देने वाले बख्शी जी इसे सुन कर बहुत प्रसन्न हुए। आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव के साथ वह पन्त के पास गये। बधाई दी। फिर कई कवितायें सुनीं। बख्शी जी ने अब (१६२२) पन्त जी की कविताओं को आग्रह पूर्वक छापना शुरू किया। इस समय पन्त पर दुःखवाद और करुणा का ज़बर-दस्त प्रभाव था। ठोस दुनिया उनकी आँखों से ओझल थी। सिर्फ मानस जगत् उनके सामने रहता था। घण्टों लेटे रहते। समझते यह पृथ्वी ठोस क्या है, यह तो हलके दबाव को ही बरदाश्त नहीं कर सकती।

"दुःख"-"दुःख"—दुःख के भारे पन्त का हृदय विदीर्ण होना चाहता था। धर्म की भूल भूलैयों से वे गुजर चुके थे, इसलिये वह सांत्वना नहीं दे सकता था। पन्त अब वेदान्त के चक्कर में आये। समझने लगे शायद यहाँ सांत्वना मिले। उपनिषद, रामकृष्ण, विवेकानन्द और रामतीर्थ के ग्रंथों को बड़ी श्रद्धा से पढ़ने लगे। टाल्स्टाय के 'मेरा धर्म और उसके अनन्त पाप के सिद्धान्त' ने भी दिल को

थोड़ी देर खींचा, लेकिन जहाँ वेदान्त सत्य, शिव, सुन्दर का ख्याल दिमाग में भरना चाहता था, वहाँ टालस्टाय सभी जगह पाप ही पाप दिखलाना चाहते थे। बुद्धि किसी निश्चय पर नहीं पहुँच रही थी। दिल में एक तरह का तूफ़ान आया हुआ था। बाबू भगवानदास के ग्रंथों से कुछ मनोविज्ञान की तरफ रुचि हुई। फिर पश्चिमी लेखकों के ग्रंथ पढ़े। काण्ट बहुत पसन्द आया, उसने बुद्धि को कुछ कुण्ठित करने में काम दिया। हेगेल भी रुचिकर मालूम हुआ, लेकिन दोनों का द्वन्द्व जब सामने आया, तो दर्शन से मन कुछ उदासीन हो गया।

इसी समय (१६२४) में पूरनचन्द्र जोशी से सम्बन्ध हुआ। वह एक दूसरी दृष्टि को सामने रखने लगा। लेकिन मन की अशान्ति कम नहीं होती थी। उस समय पूरन बहुत समझा भी नहीं सकता था, क्योंकि वह अभी कट्टर गाँधीवादी थे। हाँ जब वह मार्क्सवादी हो गये, तो उनकी बातें ज़रूर नयी मालूम होने लगीं। भौतिकवाद पर बातें होती, लेकिन पन्त हमेशा परमार्थ मूल और परमार्थ सत्, सनातन रहस्य ढूँढ़ने की कोशिश करते। वह हरेक बात को वैयक्तिक दृष्टि से देखते।

१६२६ में मँझले भाई मर गये। उन्होंने बहुत भारी कारबार शुरू किया था। कारबार की देखभाल में उतना ख्याल नहीं था और ऊपर से अँधा-धुंध खर्च। ६२००० रुपये का कर्ज़ छोड़कर मरे थे। पिता ने जायदाद बेचकर कर्ज़ को अदा किया, लेकिन अगले साल (१६२७) में वह भी चल बसे। परिवार का सारा आर्थिक ढाँचा टूटकर गिर पड़ा। पहले पन्त को पैसों की कभी कमी नहीं होती थी। अब एक ओर यह भीषण आर्थिक परिवर्तन और दूसरी तरफ दिमाग़ी परेशानी। १६२६ के आते-आते चिन्ता के बोझ ने पन्त के स्वास्थ्य को चौपट कर दिया। उस समय एक फ़ारसी के विद्वान् की सहायता से इण्डियन प्रेस के लिये वह उमर ख़ैय्याम की रुबाइयों का अनुवाद कर रहे थे। दो बजे दिन की गर्मी में बाहर निकले। लू लग गई। १४-१५ दिन बहुत कष्ट में रहे।

उस समय दिल्ली वाले डा० जोशी भरतपुर में रहते थे। वह सम्बन्धी भी लगते थे। पन्त उनके पास पहुंचे। डा० जोशी ने परीक्षा की और पूर्ण विश्राम करने की सलाह दी। डा० जोशी ने यह भी कहा कि अगर आहार-विहार का ध्यान न रखोगे, तो तपेदिक को सरपर आया ही समझो। उन्होंने मांस खाने के लिये जोर दिया। पन्त १४ साल से मांस छोड़े हुए थे। अब मांस खाना शुरू किया और तीन मास तक डा० जोशी ही के पास रहे और उनका वज़न ६८ पौंड से १३६ पौंड हो गया।

१६३० के शुरू में पन्त बिजनौर में चचेरी बहन के पास चले आये और

अप्रैल तक वहीं रहे। यहीं उन्होंने कुछ कहानियाँ लिखी जो 'मधुवन' के नाम से प्रकाशित हुईं।

स्वास्थ्य के अच्छे होने के साथ पन्त का दुःखवाद भी कम होने लगा और जल्दी ही वह पूर्ण आशावादी बन गये।

आशावाद—आशावादी पन्त अल्मोड़ा में थे, जिस समय गांधी जी भी वहाँ आये। यहीं पन्त की राजा कालाकाँकर और कुँवर सुरेशसिंह से (१९३०) में भेंट हुई। राजासाहब के साथ पन्त धारूपुर चले गये। वहाँ राजा साहब का एक पुराना महल था। राजा साहब उस समय स्वयं सेवकों के संगठन में लगे हुए थे। पंत का निराशावाद यद्यपि घट गया था, मगर अब भी उनकी दुनिया ठोस नहीं थी—कल्पना किसी चीज को ठोस नहीं रहने देती। वह हरेक चीज़ को विकृत करके दिखलाती थी और जागते भी स्वप्न देखने-सा मालूम होता था। स्वयं सेवक उन्हें बिलकुल नंगे और गन्दे, कुरूपतम दिखलाई पड़ते। हरेक गति उनके अणु-अणु को हिला देती। उनके पैर उखड़ते से मालूम होते थे, और वे खेमे के बाँसों को पकड़ कर खड़े हो जाते। उन्हें थूक और गन्दगी जहाँ-तहाँ पड़ी दिखलाई पड़ती, और वह उसे हटा देना चाहते। इतना जरूर वह समझने लगे थे कि गन्दगियाँ हटाई जा सकती हैं। पूरनचन्द जोशी की बातें अब उनके मन में याद आने लगीं, और वे धीरे-धीरे कल्पना-जाल से मुक्त होने की कोशिश करने लगे। अब उन्होंने मार्क्सवाद की पुस्तकें पढ़नी शुरू की। शायद गांवों में न गये होते, तो यह पढ़ने की रुचि न होती। इस समय उन्होंने जो कविताएँ लिखी थीं, उनमें 'गुंजन' एक है (फरवरी १९३२)

"वन-वन, उपवन—
छाया उन्मन-उन्मन गुंजन,
नव-वयके अलियोंका गुंजन!
रुपहले, सुनहले आम्र बौर,
नीले, पीले औ' ताम्र भौंर,
रे गंध-अन्ध हो ठौर-ठौर
उड़ पाँति-पाँति में चिर-उन्मन
करते मधुके वनमें गुंजन।
बनके विटपों की डाल-डाल
कोमल कलियों से लाल-लाल,

फैली नव-मधु की रूप ज्वाल,
जल-जल प्राणों के अलि उन्मन
करते स्पन्दन, करते गुंजन ।
अब फैला फूलों में विकास,
मुकुलों के उरमें मदिर-वास,
अस्थिर सौरभसे. मलय-श्वास,
जीवन-मधु-संचय को उन्मन
करते प्राणों के अलि गुंजन ।"

—जोत्स्ना से—

पन्त ने जीवन में एक नई आशा और उमंग पाई । तीन चार साल तक वह मार्क्सवाद और रूसी लेखकों के ग्रन्थों को पढ़ते रहे । रहस्यवाद ने पूरी तौर से पिण्ड तो नहीं छोड़ा, लेकिन मार्क्सवाद ने अन्तस्थल तक अपना प्रभाव जरूर डाला । भौतिकवाद को कोरा यांत्रिक जड़वाद समझ कर जो उन्हें कुछ विरक्ति-सी आती थी, वह मार्क्सवादी भौतिकवाद के "गुणात्मक-परिवर्तन" से जाती रही ।

युगान्त—अब पन्त का जीवन एक नया जीवन था । कितने ही समय तक उन्होंने कलम पर अंकुश रखा । उनको डर था, कि कहीं पुरानी बातें उलटकर न आने लगें । १९३४-३५ में उन्होंने जो कविताएँ लिखीं, वह 'युगान्त' के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं । फिर उनकी सरस्वती 'युगवाणी' के रूप में फूट निकली । इस समय की इसी नाम की कविता है—

"युग की वाणी,
हे विश्वमूर्ति, कल्याणी !

रूप रूप बन जायँ भाव स्वर,
चित्र-गीत झंकार मनोहर,
रक्तमांस बन जायँ निखिल
भावना, कल्पना, रानी !
युग की वाणी !

आत्मा ही बन जाय देह नव,
ज्ञान ज्योति ही विश्व-स्नेह नव,
हास, अश्रु, आशाऽकांक्षा
बन जायँ खाद्य, मधु पानी !
युग की वाणी !

स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव,
स्वर्ग मानसी ही भौतिक भव,
अन्तर जग ही बहिजगत
बन जावे, वीणापाणि, हे !
युग की वाणी।
सर्व मुक्ति हो मुक्ति तत्व अब,
सामूहिकता ही निजत्व अब,
बने विश्व-जीवन की स्वरलिपि
जन जन मर्म कहानी।
कवि की वाणी !"

—युगवाणी १४

इस "युग" के आरम्भ ही में पन्त ने 'पुरान' को रास्ता खाली करने के लिये कहा था—

"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त ध्वस्त ! हे शुष्क जीर्ण !
हिमताप पीत, मधुवात भीत,
तुम वीतराग, जड़ पुराचीन !!
निष्प्राण विगत युग ! मृत विहंग !
× × ×
च्युत अस्त-व्यस्त पंखों से तुम
झर झर अनंत में हो विलीन !"

—पल्लविनी २४१

पुरान के ध्वंस से नवीन के निर्माण का संदेश देते पंत की "युगवाणी" कहती है—

"रिक्त हो रहीं आज डालियाँ,—डरो न किञ्चित्,
रक्तपूर्ण, मांसल होंगी फिर, जीवन रंजित।
जन्मशील है मरण, अमर-मर-मर कर जीवन,
झरता नित प्राचीन, पल्लवित होता नूतन।
पतझर यह, मानव जीवन में आया पतझर,
आज युगों के बाद हो रहा नया युगान्तर।
बीत गये बहु हिम, वर्षातप, विभव पराभव,
जग जीवन में फिर वसंत आने को अभिनव।"

—युगवाणी २४

अपनी "ग्राम्या" (१९३८-३९) में नये जीवन नये संसार का चित्रण करते कवि लिखता है।

"जाति वर्ण की, श्रेणि वर्ग की, तोड़ भित्तियाँ दुर्धर।
युग-युग के बंदीगृह से मानवता निकली बाहर।"

—ग्राम्या १२

पन्त ने निराला के युगप्रवर्त्तक कवि-शिल्प के लिए अपने उद्‌गार इस प्रकार प्रकट किये हैं—

"छंद बंध ध्रुव तोड़, फोड़ कर पर्वत कारा
अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी कविता-धारा
मुक्त, अबाध, अमंद, रजत निर्झर-सी निःसृत,—
गलित, ललित आलोक-राशि, चिर अकलुष अविजित!
स्फटिक शिलाओं से तूने वाणी का मंदिर,
शिल्पि, बनाया,—ज्योति-कलश निज यश का धर चिर।"

—युगवाणी ९२

१९४० से पन्त ने फिर हिमालय की गोद का आश्रय लिया है, वह अल्मोड़ा रहते हैं। जन-नृत्य और जन-संगीत का चिरतरुण कलाकार उदयशंकर, लोक संस्कृति और "युगवाणी" के कलाकार को अपनी ओर खींचने की क्षमता रखता है। उदयशंकर और पन्त दोनों ने जनता की शक्ति को समझा है। लेकिन जिस वातावरण में वह अबतक रहे हैं और अब भी हैं, उसमें वह शक्ति का उपयोग कर सकेंगे इसमें भारी सन्देह है। पन्त में तो और भी सन्देह है, क्योंकि रहस्यवाद का खोल तोड़ कर अब भी वह अण्डे से बाहर नहीं आये हैं, इसीलिए आत्मा और पुरानी दुनियाँ के सामने आते ही उनकी मानसिक विश्लेषण शक्ति जवाब दे देती है। पन्त की कविताओं में ऐसे अनेक उदाहरण पाये जाते हैं, जिनमें वह भूल-भुलैयों में पड़कर दिग्भ्रान्त हो जाते हैं और उनकी बुद्धि अंधेरे में हाथ-पैर मारती दीख पड़ती है। यह सब होते हुए भी पन्त का विकास रुका नहीं है। मकड़ी के जाले की तरह उनके मन ने एक अवास्तविक किंतु मोहक दुनिया पैदाकर दी है। हम बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे कि कब इस दुनिया से उनका पिण्ड छूटता है। पहाड़ी भाषा—जो कि उनकी मातृभाषा है—की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। हाँ, पहाड़ी गीत की स्वर-माधुरी और भाषा की कोमलता उन्हें आकर्षित जरूर मालूम करती है। कत्यूरी राजाओं के युद्ध गीत अब भी अल्मोड़ा के गाँवों में गाये जाते हैं, और वह भी उन्हें सरस बनाते हैं। नाट्य-कला के महत्त्व को भी अब वे विचारों के प्रचार में बहुत उपयोगी समझने हैं।

पन्त की सबसे बड़ी देन हिन्दी-काव्य-साहित्य के लिए है, सुन्दर शब्द-विन्यास [illegible] शैली।

विनयमोहन शर्मा

पन्त की बहिर्मुखी साधना

पन्त न जाने कितने उतार-चढ़ाव, आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन और मानसिक-ऊहापोहों के पश्चात् अपनी अन्तर्जिज्ञासा की साधना जगा सके हैं। उनकी स्वप्निल दृष्टि जीवन कुहर को चीर कर अब भौतिक यथार्थताओं से आ टकराई है, किन्तु उनमें विश्वास का आग्रह कम, कल्पना का उलझाव अधिक है। विद्वान् लेखक ने अपनी संघटित और सामूहिक शक्ति द्वारा बाह्य-प्रक्रियाओं के साथ-साथ कवि के सूक्ष्म-अंतर्भावों के उद्घाटन का भी प्रयास किया है।

छायावाद-युगकी प्रसाद, पन्त और निराला त्रयी प्रसिद्ध है। 'प्रसाद' ने 'माया' (नारी), 'पन्त' ने 'प्रकृति' और 'निराला' ने 'पुरुष' के प्रति अधिक अभिलाप व्यक्त किए और इस प्रकार आधुनिक हिन्दी-कविता में विविधता के दर्शन कराये हैं। आज हम 'पन्त' की काव्य-साधना के एक रूप की विवेचना करना चाहते हैं। पन्त की अभी तक बारह कविता-पुस्तकें हमारे सम्मुख आ चुकी हैं। उनका रचना-काल की दृष्टि से यह क्रम है—(१) वीणा (१६१८), (२) ग्रन्थि (१६२०) (३) पल्लव (१६२२-२६), (४) गुंजन (१६२६-३२), (५) युगान्त (१६३५), (६) युगवाणी (१६३७-३६), (७) ग्राम्या (१६४०), (८) स्वर्ण-किरण (१६४७), (६) स्वर्ण-धूलि (१६४८), (१०) मधुज्वाल (१६४८), (११) युगपथ (१६४६) और (१२) उत्तरा (१६४६)। इनके अतिरिक्त कवि ने इन्हीं संग्रहों में से चुनकर दो रचना-संग्रह और संपादित किये हैं, जो 'पल्लविनी' और 'आधुनिक कवि' नाम से प्रकाशित हुए हैं।

पन्त के किशोर कवि में प्रकृति के मार्ग से परोक्षसत्ता के प्रति कुतूहल का भाव जाग्रत होता है परन्तु आयु व परिस्थिति के साथ-साथ उसकी भावना में भी परिवर्तन होता जाता है। अतः हम कवि की 'वीणा' में अरूप सत्ता का, 'ग्रन्थि' में रूप-जगत का—विशेषतः नारी रूप का—'पल्लव' में प्रकृतिका, 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में समाज (वाद) का, 'स्वर्ण-किरण' व 'स्वर्ण-धूलि' में अवचेतन मन का तथा 'उत्तरा' में अवचेतन मन का आत्मोन्मुख-विकास-स्वर सुनते हैं। कवि ने अपनी किशोरावस्था की मनोभूमिका प्रतीक संख्या ४ में इस प्रकार चित्रांकन किया है—'जब मैं छोटा सा चंचल भावुक किशोर था, प्रकृति मेरे हृदय में मीठी स्वप्नों से भरी हुई चुप्पी अंकित कर चुकी थी जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले शब्दों में बज उठी थी। मेरे मन में बरफ की ऊँची चमकीली चोटियाँ रहस्य भरे शिखरों की तरह उठने लगी थीं, जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चन्दोवे की तरह आँखों के सामने फहराया करता था और सर्वोपरि हिमालय का आकाशचुम्बी सौन्दर्य मेरे हृदय पर एक महान् सन्देश की तरह एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह एक व्यापक विराट आनन्द, सौन्दर्य तथा तपःपूत पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था।" यह किशोर मनोवृत्ति, जिसने परोक्ष को झाँकने

की जिज्ञासा उत्पन्न की थी, शीघ्र ही प्रकृति की ओर सघन हो गई और फिर प्रकृति से व्यष्टि में (नारी) केन्द्रित हो गई। पर यह अवस्था भी अधिक समय तक न रही। वह व्यष्टि से समष्टि तथा समष्टि से पुनः व्यष्टि के अभ्यन्तर की ओर उन्मुख है। दूसरे शब्दों में स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से पुनः स्थूल की ओर उसकी गति हो रही है। हेगल का कहना है कि कवि संसार के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर आत्मानुभूति प्राप्त करता है और उस अनुभूति को अपनी प्रवृत्ति (Mood) के अनुसार व्यक्त करता है। पन्त का कवि, यदि हम अंग्रेजी शब्द का प्रयोग करें, तो कह सकते हैं Moody है—लहरी है। प्रारम्भ में ऐसा लगता है जैसे उसे आत्मा का स्वर सुन पड़ा हो; फिर जैसे प्रकृति ने उसे मौन निमंत्रण दे बुला लिया हो। वह अन्तर्मुखी से बहिर्मुखी बना, पर जब किसी के घने, लहरे रेशम के बाल का सौन्दर्य उसे उलझाने लगा तो वह सर्वथा मानवीय रूप का गायक बन गया—

"तुम्हारे रोम-रोम से नारि !
मुझे है स्नेह अपार।
तुम्हारा मृदु उर में सुकुमारि !
मुझे है स्वर्गागार।
तुम्हारे गुण हैं मेरे गान
मृदुल दुर्बलता, ध्यान,
तुम्हारी पावनता, अभिमान
शक्ति पूजन सम्मान,
तुम्हीं हो स्पृहा, अश्रु औ हास
सृष्टि के उर की साँस"

और भी,

तुम्हारी आँखों का आकाश,
सरल आँखों का नीलाकाश।
खो गया मेरा खग अनजान,
मृगेक्षिणि ! इनमें खग अज्ञान !"

परन्तु जब नारी के प्रेम से, जैसा कि ग्रन्थि में प्रतिध्वनित है, कविको निराशा होती है, वह 'प्रसाद' के समान व्यष्टि के मोह को त्याग कर समष्टि-प्रेमी बन जाता है और जब उसे अनुभव होता है कि व्यक्ति के आत्मिक विकास के बिना समाज का विकास सम्भव नहीं है तब वह पुनः व्यक्ति अथवा आत्मवादी बन जाता है। इस समय वह मानसिक प्रवृत्ति के इसी धरातल पर है—वह भौतिक

एवं आध्यात्मिक जीवन के समन्वय के लिये आतुर दीखता है। उसका विश्वास है कि इसी समन्वय में मानव की पूर्णता निहित है। कवि आत्मा को 'मानव-मन' का परिष्कृत रूप मानता है, उसकी पृथक् सत्ता में उसका विश्वास नहीं है। तभी वह कहता है—

आज हमें मानव मन को करना आत्मा के अभिमुख।'

यहां यह बात स्मरण रखना चाहिये कि पन्त की आध्यात्मिकता धार्मिक भूमि पर स्थित नहीं है। वह मनोवैज्ञानिक है। उन पर विवेकानन्द का प्रभाव अमिट रूप से पड़ा है। इसीलिए वे अद्वैतवाद के मूल सिद्धांत विभिन्नता में एकता (Unity in diversity) के दर्शन करते हैं। पाश्चात्य मानववाद भी अद्वैतवाद के इसी सिद्धान्त की प्रतिध्वनि है। पन्त की 'ज्योत्स्ना' में यही मानववाद है, जिसका विकास 'युगान्त के बाद 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में विशद रूप से हुआ है। इनकी रचना के समय कवि पर मार्क्सवादी सिद्धांतों का प्रभाव पड़ रहा था। साथ ही वह देश में क्रान्ति उपस्थित करने वाले गांधीवाद के प्रति भी आकृष्ट था। मार्क्सवाद जहाँ भौतिक संघर्ष में आस्था रखता है, गाँधीवाद ठीक उसका विरोधी है। वह भीतरी संघर्ष द्वारा सुधार चाहता है। मार्क्सवादवर्ग-युद्ध का पक्षपाती है और गांधीवाद-वर्ग युद्ध की अपेक्षा वर्ग समझौते का समर्थन करता है। पन्त ने वर्ग-युद्ध को मान्यता नहीं दी, गांधीवाद के समान ही उसमें उन्होंने स्थायी शान्ति के चिन्ह नहीं देखे। पन्त वास्तव में मार्क्सवाद और गाँधीवाद में समन्वय स्थापित करना चाहते थे, परन्तु दोनों का दृष्टिकोण इतना विभिन्न है कि समझौता असम्भव प्रतीत होता है। पन्त ने जिस समय छायावाद से विदा लेनी चाही, यह वक्तव्य 'आधुनिक कवि' में प्रकाशित किया, 'छायावाद इसलिये अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिये उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौंदर्य-बोध, नवीन विचारों का रस नहीं रहा। वह काव्य न रह कर अलंकृत संगीत बन गया। हिन्दी-कविता छायावाद के रूप में ह्रास युग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षा सम्बन्धी स्वप्नों, निराशाओं, संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगी; व्यक्तिगत जीवन संघर्षों से क्षुब्ध होकर पलायन के रूप में सुख-दुःख, आशा-निराशाओं में सामंजस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष तत्त्व के रूप में प्रतिस्थापित होने लगी।' मार्क्सवादी प्रभाव का ही यह परिणाम था कि पन्त यह भी कहने लगे थे कि 'वाह्य परिस्थितियों के बदलने से सांस्कृतिक चेतना में परिवर्तन होता है।'—"मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उनकी वस्तु-परिस्थितियों से निर्मित सामाजिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब है।" परन्तु सन् १६४४ के बाद से ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी यह धारणा परिवर्तित हो गई—

"समाजिक जीवन से कहीं महत् अन्तर्मन !"

जैसा कि ऊपर कहा गया है, कि कवि अब बाह्य परिस्थितियों को बदलने की अपेक्षा पहले मानव-मन की [भीतरी] परिस्थिति में परिवर्तन आवश्यक समझता है। कवि के इस पविर्तित दृष्टिकोण पर अरविन्द की आत्मविकासवादी साधना का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस तरह हम देखते हैं कि पन्त का कवि गत्यात्मक (Dynamic) है। भीतरी और बाहरी परिस्थितियों से सतत प्रभावित होता रहता है। "मैं अपने युग, विशेषतः देश की प्रायः सभी महान् विभूतियों से किसी न किसी रूप में प्रभावित हुआ हूं। 'वीणा', 'पल्लव' काल में मुझ पर कवीन्द्र-रवीन्द्र तथा स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव रहा है, युगान्त एवं बाद की रचनाओं में महात्मा जी के व्यक्तित्व तथा मार्क्स के दर्शन का। किन्तु इन सब में जो एक परिपूर्ण एवं सन्तुलित अन्तर्दृष्टि का अभाव खटकता था उसकी पूर्ति मुझे भी अरविन्द के जीवन दर्शन में मिली।... .इस अन्तर्दृष्टि को मैं इस विश्व संक्रान्ति काल के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा अमूल्य समझता हूँ।'

महात्माजी ने जिस प्रकार सत्य के प्रयोग किये थे उसी प्रकार सम्भवतः पन्त भी हिन्दी कविता क्षेत्र में अपनी प्रवृत्तियों का प्रयोग प्रकाशित करते दृष्टिगोचर होते हैं। उनके कौन-से प्रयोग स्थायित्व प्राप्त करेंगे, यह काल के गर्भ में है, परन्तु यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि किशोर कवि पन्त लक्षणात्मक अभिव्यक्ति रखते हुए भी अधिक प्रासादिक हैं और प्रौढ़ कवि पन्त अभिधामूलक अभिव्यक्ति में भी अधिक दुरूह है। उनकी आधुनिकतम कवितायें अव्यक्त मन के उच्च स्तरों का ज्ञान कराना चाहती हैं। इससे आत्मा के अन्तः सौंदर्य से परिचय प्राप्त होता है और मन की अनेक प्रकार की वृत्तियाँ, संकीर्णतायें और दुर्बलतायें दूर होती हैं। 'उत्तरा' में कवि ने लिखा है—'एकता का सिद्धान्त अन्तर्मन का सिद्धान्त है, विविधता का सिद्धांत बहिर्मन तथा जीवन के स्तर का; दूसरे शब्दों में एकता का दृष्टिकोण ऊर्ध्व दृष्टिकोण है और विभिन्नता का समदिक् विविध तथा अविभक्त होना जीवन सत्य का सहज अन्तर्जात गुण है। इस दृष्टि से भी ऐसे किसी विश्व-जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती, जिसमें ऐक्य तथा वैचित्र्य संयोजित न हो।" इस कथन में भी कवि का बाहरी और भीतरी योग लक्षित है। कवि ने आदर्श और वस्तुवादी दृष्टिकोणों में केवल धरातल का ही भेद माना है और उन धरातलों को परस्पर अविच्छिन्न रूप में जुड़ा हुआ भी अनुभव किया है। सत्यं, शिवं सुन्दरं संस्कृति तथा कला का धरातल है, भूख और काम प्राकृतिक आवश्यकताओं का। संस्कृति को कवि ने हृदय की शिराओं में बहने वाला मनुष्यत्व का आधार माना है। ग्राम्या में सांस्कृतिक समस्या की ओर कवि ने इशारा किया है। उससे कवि की मानसिक उथल-पुथल का थोड़ा-बहुत आभास मिल

जाता है। कवि विवेकानन्द के सारगर्भित कथन—'मैं यूरोप का जीवन सौष्ठव तथा भारत का जीवन दर्शन चाहता हूँ।''—को अपने युग के अनुरूप चरितार्थ करना चाहता है। युग मानव आध्यात्मिक, मानसिक और भौतिक संचय को 'परस्पर संयोजित' कर सके, यही कवि का स्वप्न प्रतीत होता है।

ग्रन्थि, पल्लव, गुञ्जन, युगान्त के पश्चात् युगवाणी और ग्राम्या में कवि के दृष्टिकोण में जो परिवर्तन हुआ है, उसी की यहां समीक्षा की जाती है। यह काल मार्क्सवाद के अध्ययन का काल था। इसीलिये कवि ने बाह्य परिस्थितियों के सुधार पर अधिक आग्रह प्रकट किया है। यद्यपि एक आलोचक के शब्दों में 'युगवाणी और ग्राम्या में भी कवि ने अतिभौतिकवाद का निषेध किया है और आत्मसत्य तथा वस्तुसत्य के समन्वय पर भी जोर दिया है" तो भी इन कृतियों में चेतन पर वस्तुसत्य या जड़ का प्रभुत्व है। 'ग्राम्या' में चेतन मन की क्रीड़ा का उद्देश्य उपचेतन मन पर विजय पाना कहा गया है। भीतर-बाहर की खाई पाटना ही कवि के काव्य का लक्ष्य प्रतीत होता है। 'ग्राम्या' में इसीलिये भौतिकवादिता के साथ सांस्कृतिक विकास का आग्रह घोषित किया गया है—

''राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख,
अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानवजीवन के दुख—
आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित
खण्डमनुजता को युग-युग की होना है नवनिर्मित
विविध जाति वर्गों, धर्मों को होना सहज समन्वित,
मध्य युगों की नैतिकता को मानवता में विकसित।''

ग्राम्या की प्रथम कविता में ही कवि ने स्वप्न देखा है—

''जातिवर्ण की, श्रेणि वर्ग की तोड़ भित्तियां दुर्धर,
युग-युग के बन्दीगृह से मानवता निकली बाहर।''

इन उद्गारों में कवि जाति-श्रेणि-वर्ग की भित्तियां मार्क्सवादी बाह्य संघर्ष से तोड़ना नहीं चाहता; प्रत्युत उन्हें समाज में मानवता के विकास-मार्ग से क्रमशः उसी तरह विलीन करना चाहता है, जिस तरह रक्तहीन क्रान्ति के द्वारा आज भारतीय सामन्तशाही रियासतों का भारतीय शासन में विलीनीकरण हो गया है।

"ज्योत्स्ना में मैंने जीवन की जिन बहिरन्तर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) में उनके रूपान्तरित होने की ओर इंगित किया है, युगवाणी तथा ग्राम्या में उन्हीं के बहिर्मुखी (समतल) संचरण को, जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है, अधिक प्रधानता दी है।" (उत्तरा में सुमित्रानन्दन पंत)।

कवि के दृष्टिकोण को समझने के बाद हम 'ग्राम्या' की रचनाओं को निम्न विभागों में बांट सकते हैं—

(१) ग्राम-दर्शन, (२) ग्राम-चिन्तन, (३) विविध।

(१) ग्राम-दर्शन में ग्रामों के स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, तरुण आदि का रूप-वर्णन तथा उनके रीति-रिवाजों का चित्रण तथा प्रकृति-वर्णन है।

(२) ग्राम-चिन्तन में कवि ग्रामों की अवस्था पर सहानुभूतिपूर्ण चिन्तन करता है।

(३) विविध—रचनाओं में ग्राम का बाहरी-भीतरी रूप ही नहीं, अन्य विषय भी समाविष्ट हैं—जैसे भारतमाता, महात्मा जी के प्रति, राष्ट्र-गान, सौन्दर्यकला, अहिंसा, आधुनिका आदि।

ग्राम-दर्शन में कवि की ग्राम-युवती, ग्राम-नारी, गाँव के लड़के, वह बुड्ढा, धोबियों का नृत्य, ग्राम वधू, ग्राम श्री, नहान, चमारों का नाच, कहारों का रुद्रनृत्य, संध्या के बाद, दिवास्वप्न, मज़दूरनी के प्रति—आदि रचनाएँ आती हैं।

ग्राम युवती का चित्र रोमांस से भरा हुआ है। वह किसी विशिष्ट-चंचल ग्राम नारी का चित्र प्रतीत होता है, जिसकी नाज़ों से भरी चाल और हंसी पर ग्राम-युवक मचल-मचल उठते हैं। पनघट पर जल से भरी गागर खींचते समय चोली के उभार के साथ उसके भीतर कसे हुए रसभरे कलशों की जो कस-मस क्रीड़ा होती है, उसका वर्णन यथार्थवादिता से ओत-प्रोत होने पर भी रीति-कालीन परम्परा का अनुगामी है। गौवों के संग वन-विहार करती हुई युवती का चित्र भी ऐसा खींचा गया है, मानो कोई शहराती लड़की ग्राम-जीवन का रोमानी-जीवन लूट रही है। जिन्हें ग्राम-जीवन का थोड़ा बहुत अनुभव है वह पंत की ग्राम-युवती के चित्र पर अनास्था ही प्रकट करेंगे। यह किसी ऐसी विशिष्ट ग्राम-युवती का चित्र हो सकता है, जो एक बार नगर के उच्छृंखल वातावरण में रहकर ग्राम में निर्वासित कर दी गई हो। कवि ने 'ग्राम-चित्र' शीर्षक कविता में ग्राम-मानव को 'विपण्ण जीवन-मृत' बतलाया है। कठपुतले में भी—

"ये जीवित हैं या जीवन्मृत,
या किसी काल विष से मूर्छित।
ये मनुजाकृति ग्रामिक अगणित।
स्थावर, विषण्ण जड़वत् स्तम्भित।"

जब अगणित ग्रामिक जीवन्मृत दिखलाई देते हैं तब 'ग्रामयुवती' शीर्षक रचना में ग्रामयुवती का इठलाते हुए आना और पट सर का, लट खिसका,

शरमाई, नमित दृष्टि से उरोजों के युग घट देखने का चापल्य प्रदर्शित करना कहाँ तक तथ्य-संगत है, इतना ही नहीं उसमें कवि ने रोमांस के प्रति उन्मादक भावना भी आरोपित की है। वह कानों में गुड़हल आदि फूलों को खोंस, हर सिंगार से कच-संवार बन-विहार भी करती है और मेड़ों पर 'उर मटका' और 'कटि लचका' कर आती-जाती भी है। बेचारी ग्राम-नारी, कवि के शब्दों में, क्षुधा और काम से चिर मर्यादित रहती है—

('कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता
उद्दीप्त न करता उसे भाव-कल्पित मनोज।'')

फिर भी उसे 'ग्राम-युवती' में अत्यधिक कामुक चित्रित कर उसने अपने कथनों में विरोध प्रदर्शित किया है। (ग्राम्या में ऐसे परस्पर विरोधी उद्गार अन्य प्रसंगों में भी दिखलाई देते हैं।) 'गाँव के लड़के' शीर्षक रचना में कवि ने प्रथम आठ पंक्तियों में उनका सामान्य शब्द-चित्र अंकित कर दिया है—

"मिट्टी से भी मटमैले तन,
फटे, कुचैले, जीर्ण वसन—
... ...

कोई खण्डित, कोई कुण्ठित
कृशबाहु पसलियां रेखांकित
टहनी-सी, टाँगें बड़ा पेट
टेढ़े-मेढ़े विकलाँग घृणित
... ...
लोटते धूलि में चिरपरिचित।"

इनको देखकर कवि चिन्ता में भीग जाता है—

'मानव-प्रति मानव की विरक्ति'

बुड्ढे का चित्र भी बनमानुष-सा लगता है। उसकी हड्डी के ढाँचे पर चिमटी-सिकुड़ी चमड़ी और सूखी ठठरी से लिपटी हुई उभरी-ढीली नसें किसके हृदय में काली नारकीय छाया छोड़ नहीं जायगी? 'ग्रामबधू' जब पति के घर जाती है तो उसके रोने विलपने के व्यापार को कवि केवल एक रूढ़ि मानता है। यहां भी कवि ने ग्राम्य जीवन को परखने में असावधानी की है। रेलगाड़ी में ग्राम-बधू जब बैठती है और गाड़ी जैसे ही 'भर भर' चल देती है, कवि का कथन है—

"बतलाती भनि पति से हँसकर
रोना गाना यहाँ चलन भर।"

यह दृश्य भी नागरी नायिका का प्रतीत होता है जो पूर्व राग से रंजित होकर वधू बनी है और विदा के समय माँ, मौसी, सखियों से रुदन का अभिनय कर छम से गाड़ी में बैठ गई है। पूर्व-राग के अभाव में शायद नागरी नायिका भी पति से गाड़ी चलते ही हंस-हंसकर बातें नहीं करेगी। फिर ग्राम-नारी जो अपरिपक्व अवस्था में ही वधू बनती है और अपने भावी पति के विषय में प्रायः अज्ञान रहती है अपने परिजनों से प्रथम बार बिछुड़ते ही 'मगर के आँसू' (Crocodile Tears) नहीं बहायेगी, रोने का अभिनय नहीं करेगी। यों स्टेशन पर विदाई का बाहरी दृश्य सजीव है। वास्तविकता से ओत-प्रोत है।

'मजदूरनी के प्रति' शीर्षक रचना में चित्र-चिन्तन दोनों है। कवि को मज़-दूरनी इसलिये प्रिय है कि उसे 'काम की लाज' नहीं छूती। उसका रूप देखिये—

सर से आँचल खिसका है धूल भरा जूड़ा —
अधखुला वक्ष, —ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा।
हँसती, बतलाती, सहोदरा-सी जन-जन से
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप-सा तन-से

कवि उसके कंचुकी-रहित शरीर को देखकर कहता है—

"तुमने निज तनु की तुच्छ कंचुकी को उतार,
जग के हित खोल दिये नारी के हृदयद्वार।"

'ग्राम्या' में जब हम चंचल युवती, सौम्य प्रौढ़ा नारी, वृद्ध और बालक का रूप-वर्णन पाते हैं, वहां हमारी उत्कंठा ग्राम की उस वृद्धा नारी को भी देखने के लिये जाग्रत हो जाती है जो खेतों, खलिहानों और घरों के कोने में बच्चों की नानी बनकर कहानी कहती है और तरुणियों की सास बनकर उन पर शासन करती है।

ग्राम में धोबियों, चमारों और कहारों के नृत्यों का वर्णन नृत्यमयी भाषा में आंखों के सम्मुख दृश्य खींच देता है। धोबियों में जब छन-छन-छन-छन, गुजरिया नाचने लगती है तब दर्शकों का मन सहज ही हर लेती है। वाद्यों का वर्णन कानों में जैसे वाद्य ध्वनि भर रहा है—

"उड़ रहा ढोल धाधिन, धाधिन
औ हुड़क घुड़कता ढिम, ढिम, ढिन,
मंजीर खनकते खिन-खिन-खिन...

किन्तु जब हम यह पढ़ते हैं—

फहराता लहँगा लहर-लहर
उड़ रही ओढ़नी फर फर फर

चोली के कन्दुक रहे उभर,
(स्त्री नहीं गुजरिया वह है नर)

तब गुजरिया के नृत्य से उत्पन्न होने वाला सहज शृङ्गार उसे नर के रूप में जानकर रसाभास में परिणत हो जाता है। गुजरिया का नर-रूप प्रकट हो जाने पर कवि 'हुलस गुजरिया हरती मन' गाता जा रहा है और नारी-रूप नर को उर की अतृप्त वासना का आलम्बन बनाता जा रहा है। यह अप्राकृत व्यापार घिनौना-सा प्रतीत होता है। अधिक से अधिक रहस्योद्घाटन के पश्चात् गुजरिया की छन-छन-छन-छन मुद्रा हास्य का आलम्बन बन सकती है—शृंगार का नहीं। चोली के कन्दुक उघार कर अपना असली रूप प्रकट करने के बाद भी गुजरिया चतुर (!) ही बनी हुई है। यदि "फहराता लहंगा लहर-लहर... हुलस गुजरिया हरती मन" पंक्तियाँ कविता के अन्त में आतीं तो रहस्योद्घाटन अधिक उपयुक्त होता और औत्सुक्य, हास्य आदि भावों का सहज संचार संभव होता। सम्भवतः ग्रामवासियों के असंस्कारी मन को प्रकट करने के लिये कवि ने यह असंस्कारी चित्रण किया है। (कहारों के रुद्र-नृत्य में कवि ने नृत्य दृश्य का शब्द-चित्र नहीं खींचा है,) उसने नृत्य से उत्पन्न प्रभाव का ही वर्णन किया है। यही कारण है कि इस कविता की भाषा में चमारों का नाच और धोबियों का नृत्य-जैसी सहज गति नहीं है, वह चिन्तन के भार से आक्रान्त है। 'नहान' शीर्षक कविता में मकर-संक्रान्ति के पर्व पर कई कोस पैदल चलकर आने वाले जन-समाज की पर्व-यात्रा का वर्णन है। ग्राम-स्त्रियां शरीर भर में अनेक छोटे-मोटे आभूषणों को कस कर चली जा रही हैं—

लड़के-बच्चे, बूढ़े, जवान—सभी हँसते-बतलाते, गाते चले जा रहे हैं। कवि इनके इस दृश्य को देख कर यह तो मानता है कि इनमें अगाध विश्वास है परन्तु इनमें नये प्रकाश की कमी भी वह अनुभव करता है। इस कारण इनमें नव-बल नहीं पाया जाता। फिर भी कवि कहता है—

"ये छोटी बस्ती में कुछ क्षण
भर गये आज जीवन-स्पन्दन
प्रिय लगता जन-गण सम्मेलन।"

कवि नवल प्रकाश से सम्भवतः बौद्धिकता का आशय लेता है। यदि जीवन-स्पन्दन भरने वाले इन ग्रामीणों में नवल प्रकाश भर जाता तो अगाध विश्वास के साथ पर्व-नहान की यह उल्लासमयी धूम कहाँ दीख पड़ती ? वे तो, जैसा कि कवि कहता है, आज नित्य-कर्म-बन्धन से छूटकर अपने को सचमुच मुक्त अनुभव कर रहे हैं। नहान के द्वारा पुण्यार्जन करने के विश्वास पर कवि व्यंग्य भी करता है। इस प्रकार केवल वस्तु-वर्णन से कवि को संतोष नहीं है, वह सुधारक की भाँति टीका-टिप्पणी भी करता जाता है।

ग्राम में 'संध्या के बाद' के विभिन्न दृश्य हमें सचमुच ग्रामों में ले जाते हैं। जिस प्रकार नगर-जीवन में असत्य, अनाचार, छल, कपट की हाट लगी रहती है, उसी प्रकार देहातों में भी मानव-मन की यही दुर्बलता दृष्टिगोचर होती है। कवि का यह सत्य कथन है कि दरिद्रता पापों की जननी है विशेषकर इस अर्थ प्रधान युग में। 'दिवास्वप्न' में कवि मनोहर सतत द्रुमों की छाया में विहग-कीटों के सौ-सौ स्वरों के बीच छिपकर बस जाना चाहता है—

वहीं कहीं, जी करता, मैं जाकर छिप जाऊँ;
मानव-जग के क्रन्दन से छुटकारा पाऊँ!
प्रकृति-नीड़ में व्योम खगों के गाने गाऊँ,
अपने चिर स्नेहातुर उरकी व्यथा भुलाऊँ।

'प्रसाद' ने भी 'ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे' में इसी भावना की उद्भावना की है। वन-सरोवर के विभिन्न दृश्यों का सूक्ष्म वर्णन इस कविता में पाया जाता है। रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' की कामना भी दिवास्वप्न में लहरा रही है। 'ग्राम श्री' का प्रकृति वर्णन लुभावना है, कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचायक है—

पीले-मीठे अमरूदों में
अब लाल चित्तियां पड़ीं,
पक गये सुनहले मधुर बेर,
आंवली से तरु की डाल जड़ी,
लहलह पालक महमह धनिया,
लौकी औ सेम-फली फैली
मखमली टमाटर हुए लाल,
मिरचों की बड़ी हरी थैली।

यह दृश्य शीत काल का है, इसके पूर्व कवि ने बसन्त के फलों की संख्या-गणना की है। यों खण्ड-खण्ड रूप में ग्राम-श्री वर्णन किया गया है। ऋतु-क्रम से यदि वर्णन किया जाता तो कविता का सम्मिलित प्रभाव अधिक आकर्षक होता। धान्य, फल और पक्षियों के दृश्य 'ग्राम-श्री' की विशेषता है। ग्राम के प्राकृतिक दृश्यों के अतिरिक्त कवि ने स्वतन्त्र रूप से भी सामान्य प्रकृति-चित्र अंकित किये हैं जिनमें शुद्ध प्रकृति-वर्णन तो नहीं है पर दृश्यखण्ड-चित्रण के साथ कवि ने अपने चिन्तन का तत्व भी उसमें सम्मिलित कर दिया है। उदाहरणार्थ 'स्वीट पी के प्रति' कवि के निम्न उद्‌गार, उसकी अन्तर्भावना से रंजित हैं—

'तुम वधुओं-सी अयि! सलज्ज सुकुमार!
शयन-कक्ष, दर्शन गृह की शृंगार!

उपवन के यत्नों से पोषित,
पुष्प-पात्र में शोभित, रक्षित
कुम्हलाती जाती हो तुम निज शोभा ही के भार
कुल वधुओं-सी अयि ! सलज्ज सुकुमार !"

सौन्दर्य कला में भी कवि फ्लाक्स, वरवीना, डियांथस, पेंज़ी, पॉपी, सालस, ब्ल्यूबेंटम आदि विदेशी पुष्पों की क्यारी में फूलों के नाम मात्र गिनाकर आत्म-चिन्तन की अवस्था में पहुँच जाता है। हम यह नहीं समझ सके कि ग्राम्या में जहाँ भारतीय ग्राम-जीवन को प्रस्तुत करने का संकल्प किया गया है, विदेशी फूलों के वर्णन में किस सौन्दर्य कला का उद्घाटन हुआ है? उनका क्या प्रयोजन है ? अनेक नागरिक भी इन फूलों के नाम और गुणों से अपरिचित हैं, उनकी विशेषता ढूंढ़ने के लिये उन्हें विशिष्ट कोषों को देखने की आवश्यकता है। सम्भवतः व्यापक मनुष्यत्व की शिक्षा देने के लिये कवि ने हमारे ग्रामों में इन फूलों के उद्यानों की आवश्यकता अनुभव की हो। उस समय कवि को राष्ट्रियता का विकास विश्वात्मा के एकीकरण में, सम्भव है, बाधक प्रतीत होता हो। परन्तु आज 'उत्तरा' तक पहुंच कर कवि दूसरे रूप में सोचने लगा है। वह कहता है—"देश प्रेम अन्तर्राष्ट्रियता या विश्व-प्रेम का विरोधी न होकर उसका पूरक है।" विभिन्न देशों को, अपने मौलिक व्यक्तित्व की रक्षा का, कवि उपदेश देता है। यदि सौंदर्य-कला में भारतीय फूलों की नामावली ही गिना दी गई होती, तो हमारी आँखें उन्हें देखने-परखने के लिये कम-से-कम उत्सुक तो हो ही जातीं। इस तरह हमारा राष्ट्र-प्रेम अप्रत्यक्ष रीति से कवि जाग्रत कर सकता। कवि का वर्त्तमान दृष्टिकोण हमें अधिक स्वस्थ और प्रकृत प्रतीत होता है। आत्मोन्नति के अभाव में परोन्नति सचमुच सम्भव नहीं।

गंगा-धारा का सान्ध्य तट-रेखा-चित्र अपने में पूर्ण है। 'खिड़की से' में कवि निशा के प्रथम प्रहर में—पूनो की उजाली में—प्रकृति के भिन्न-भिन्न दृश्य देख रहा है, कहीं क्षितिज तक आम्रवन सोया हुआ है, आकाश में ग्रह-नक्षत्र और तारक लोक की शोभा मुग्ध कर रही है। ऐसे स्निग्ध वातावरण में कवि अनुभव करता है—

"आज असुन्दरता, कुरूपता भव से ओझल,
सब कुछ सुन्दर-ही-सुन्दर, उज्ज्वल-ही-उज्ज्वल !"

ग्राम्या में ग्राम-दृश्यों के अतिरिक्त ग्राम्यावस्था पर कवि के सहानुभूतिपूर्ण चिन्तन के रूप भी मिलते हैं। कभी कवि ग्रामवासियों के अज्ञान पर क्षुब्ध होता है, कभी उनके गर्हित पशुतुल्य जीवन से उसे व्यथा होती है। साम्यवादी कवियों

की तरह वह भी उनके भूखे उदर और नग्न तन एवं अकाल वृद्धत्व का उल्लेख करता है—

"जहाँ दैन्य जर्जर असंख्य जन, पशु जघन्य क्षण करते यापन
कीड़ों से रेंगते मनुज-शिशु, जहाँ अकाल वृद्ध है यौवन।"

यद्यपि ग्राम जनता की जीवित कर्म-कथा पृष्ठ तथा रूढ़ि का घर बना हुआ है तो भी कवि कहता है—उसमें सभ्यताओं का युग-युग का इतिहास संचित है। मनुष्यत्व के मूलतत्व उनमें ही अन्तर्हित हैं और भावी संस्कृति के उपादान भी वहीं भरे हुए हैं। 'ग्राम' शीर्षक कविता में कवि ग्रामवासियों को अज्ञान के कारण मूल संस्कृति के रक्षक मानता है, इस दृष्टि से ग्रामवासी आर्य संस्कृति की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये हुए हैं। फिर भी कवि ने उसके अविज्ञातम के लिए उन पर सहानुभूति की छाया कई प्रसंगों पर नहीं डाली है। 'ग्रामचित्र' शीर्षक कविता में "अन्न-वस्त्र-पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि" ग्रामवासियों को लक्ष्य कर कवि कहता है—

"यह तो मानव-लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित
यह भारत की ग्राम-सभ्यता संस्कृति से निर्वासित।"

'वे आँखें' जमींदार और किसान के हिंसा पूर्ण संघर्ष की करुण कहानी कहती हैं। 'दवा-दर्पण' के बिना किसान की गृहिणी का महाप्रयाण गृह की क्या दशा कर देता है? कोतवाल द्वारा विधवा बहू की लाज लुटने पर कुंए में डूब कर उसकी आत्महत्या का दृश्य आदि कवि की सजल सहानुभूति से सप्राण हैं। ऊपर कहा गया है, कवि ने ग्रामीण को उसकी अत्यन्त दयनीय अवस्था और आधुनिक सभ्यता से कोसों दूर देखकर नरक का कीड़ा कहा है।

'ग्राम-देवता' में उसके अपरिवर्तनशील-रूढ़िवादी स्वभाव के प्रति झुंझलाहट व्यक्त करते हुए कवि कहता है कि वह दिन दूर नहीं है जब समस्त विश्व मानवता की एक मात्र संस्कृति को स्वीकार करेगा और नव मानव-संस्कृति में जाति वर्ग का क्षय हो जावेगा। मानवता देश-काल के आश्रित नहीं रहेगी। अब मानवीय चेतना नव संस्कृति के वसनों से विभूषित होगी, भूतकालीन सारी रीति-नीतियाँ जन-संघर्षण में ध्वंस और लीन हो जायँगी और मानव-आत्मा बन्धन से मुक्त हो जायेगी।* कवि बुद्धिवादि होते हुए भी आस्तिकता से रहित नहीं हो गया है। उसकी वर्त्तमान काव्य-साधना पूर्व कथन के अनुसार निम्न दो पंक्तियों में स्पष्ट हो जाती है। वह जग के स्रष्टा से विनय करता है—

---

* सांस्कृतिक विकास-पथ पर, गांधीवादी होते हुए भी, कवि भौतिक विज्ञान को जीवन-विकास के लिये आवश्यक समझता है—

"उपचेतन मन पर विजय पा सके चेतन मन ।
मानव को दो वह शक्ति पूर्ण जग के कारण ॥"

कवि जाति-विद्वेष, वर्ग गत रक्तिम समर का अन्त चाहता है और सब मनुष्यों को संस्कारी, स्नेही, सहृदय बनाना चाहता है जिसमें सब राष्ट्र मिलकर एक हो जायँ और मानव-मानव में भेद न रह जाय। यही ग्राम्या की रचनाओं में व्यक्त कवि-चिन्तन का सार-तत्व, विरोध-पूर्ण उक्तियों के विद्यमान होते हुए भी जान पड़ता है। कवि भूल-भटक कर, भौतिकता की चकाचौंध से ऊबकर पुनः अपनी आत्मा के प्रकाश की खोज में अन्तर्मुख हो जाता है।

ग्राम्या में हमने कुछ रचनाओं को विषय की दृष्टि से विविध की श्रेणी में रखा है। उनमें भारत माता, चरखा गीत, महात्मा जी के प्रति, राष्ट्र-गान, कला के प्रति, स्त्री, आधुनिका, नारी, १६४०, संस्कृति का प्रश्न, बापू, स्वप्न और सत्य, उद्बोधन, नव-इन्द्रिय, वाणी आदि प्रमुख हैं।

"ललकार रहा जग को भौतिक-विज्ञान आज,
मानव को निर्मित करना होगा नव-समाज,
विद्युत् औ वाष्प करेंगे जन-निर्माण काज,"
सामूहिक मंगल हो समान : समदृष्टि राम !

परन्तु ग्राम्या ही में 'बापू' शीर्षक रचना में कवि को भौतिक-विज्ञान के साधनों में विश्वास नहीं। वह कहता है—

"सेवक हैं विद्युत्, वाष्प, शक्ति, धन, बल, नितान्त,
फिर क्यों जग में उत्पीड़न, जीवन यों अशान्त ?"

इस कविता में कवि नवसमाज की निर्मिति के लिए भावों का नवोन्मेष चाहता है तभी मानव-उर में मानवता का प्रवेश सम्भव मानता है। अहिंसा के सम्बन्ध में कवि महात्मा जी से सहमत नहीं प्रतीत होता—

बन्धन बन रही अहिंसा आज जनों के लिए !
वह मनुजोचित निश्चित कब (?) जब जन हो विकसित ।"

'भारत माता' में 'सच्चा भारत ग्राम में बसता है,' उक्ति के अनुरूप भावना व्यक्त की गई है। उसके अपने घर में ही प्रवासिनी बनने का दैन्यरूप कवि को विकल बना रहा है—

"तीस कोटि सन्तान नग्न तन, अर्धक्षुधित, शोषित निरस्त्र जन ।
मूढ़-असभ्य, अशिक्षित, निर्धन, नतमस्तक तरुतल निवासिनी ।
भारत-माता ग्रामवासिनी ।"

'राष्ट्र-गान' में कोटि-कोटि श्रमजीवी-मुनों का नमन है, जो शत-शत कण्ठों से जन-युग का स्वागत कर रहे हैं। अहिंसा-अस्त्र को जन का मनुजोचित साधन मानते हुए भी रक्त-विजय-ध्वज को भी स्मरण किया गया है। राष्ट्र की प्राकृतिक श्री वैभव के प्रति उल्लास कवि के प्रायः सभी राष्ट्र-गानों में मिलता है। 'पतझड़' में मन के पुराने संस्कार-रूपी पीले पत्तों को झरने का आग्रह किया है। 'उद्बोधन' में भी कवि ने वही पुराना राग अलापा है। रूढ़ि, रीति, आचारों के प्रति--प्राचीन संस्कृतियों के जड़ बन्धनों के प्रति--तीव्र अनास्था प्रकट की है और मानववाद का स्वर झंकृत किया।

संक्षेप में ग्राम्या की प्रायः सभी रचनाएँ प्रचारात्मक हैं। इसीलिये उनमें पुनरुक्तियों की भरमार है। स्थल-स्थल पर भारतीय प्राचीन सभी प्रकार की पुरातनता के प्रति उनमें घोर असन्तोष व्यक्त है। कवि वर्ण भेद, जाति भेद को दूर कर नव-मानव समाज की रचना करना चाहता है। इसके लिए उसके सामने दो मार्ग हैं। एक मार्क्स का, जो बाहरी संघर्ष के द्वारा समाज की वर्त्तमान स्थिति को एकदम पलट देने का हामी है और दूसरा गांधी का, जो व्यक्ति के भीतरी परिवर्तन द्वारा समाज का नया निर्माण चाहता है। कवि कभी भौतिकता-मार्क्सवाद की ओर झुकता है और कभी गांधीवाद-आध्यात्मिकता की ओर। ग्राम्या की अवस्था तक कवि का मन डाँवाडोल ही रहा है। भीतरी और बाहरी संघर्ष में ही उलझा रहा है। कवि पर प्रगतिवादियों ने अस्थिरता का दोषारोपण किया तब कवि ने उत्तरा की भूमिका में अपना यह विश्वास प्रकट किया कि लोक-संगठन तथा मनः संगठन एक दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि वे एक ही युग-चेतना के बाहरी तथा भीतरी रूप हैं और इस तरह अपनी वाह्य से आभ्यंतर की कवि-भूमि की ओर लौटने का समर्थन किया। हम पन्त के इस कथन को सचमुच विद्याविनयी के उद्गार नहीं मानते, जब वे लिखते हैं कि "मुझे अपनी किसी भी कृति से सन्तोष नहीं है। इसका कारण शायद मेरी बाहरी-भीतरी परिस्थितियों के बीच का असामंजस्य है।"

ग्राम्या की रचनाओं में, पल्लव के काव्य-सौन्दर्य का आस्वाद लेने के बाद, बहुत कम नूतन रस रह जाता है। कवि स्वयं स्वीकार करता है कि ग्राम-जीवन के साथ एक रस होकर ये कविताएँ नहीं लिखी गईं। "इनमें पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही (?) मिल सकती है।" बौद्धिक सहानुभूति से हृदय कब भीग सकता है ?

प्रभाकर माचवे

पंत और प्रकृति

पन्त की प्रतिभा प्रकृति के रम्य-प्रांगण में अठखेलियाँ करती हुई दृश्य-जगत् के ना-ना रूपों और अगोचर व्यापारों को उद्घाटित करती है। कवि ने प्रकृति के सूक्ष्म स्पन्दनों की धड़कन सुनी है, किन्तु वह योरप के कलावाद से अछूता न रह सका। पूर्व-पश्चिम की सौंदर्य-धारा सम्मिश्रित होकर तथा छायावाद और अध्यात्म चिन्तन के मोह ने जो झलमल झलमल छाया-प्रकाश का सम्भ्रम उसकी इधर की कृतियों में पैदा किया है, उसकी झाँकी प्रस्तुत लेख में करिए।

बायरन ने एक स्थल पर लिखा है कि 'मैं मनुष्य से कम प्यार नहीं करता, पर प्रकृति से अधिक प्यार करता हूँ!' (I love not man the less, but Nature more)। ठीक यही बात हम सुमित्रानन्दन पंत की कविता पढ़कर कह सकते हैं। उनका प्रथम विषय है प्रकृति, गौण विषय है मानव। मानव में भी जो प्रकृति अविकृत है उधर ही उनकी संस्कृत आँखें जाती हैं। जो विकृत है उनकी ओर से यह सौंदर्यवादी आत्मलक्षी कवि जैसे नयन मूँद लेता था।

पंत जी की आरम्भिक रचनाओं का परिचय एक जगह यों पढ़ने में आया--'सन् १९१५ में इन्होंने 'हार' नाम का एक उपन्यास रचा था। उस समय से ये विधिपूर्वक हिन्दी-कविता रचने लगे थे। १९२१ में इनके कुछ पद्यों का संग्रह 'उच्छ्वास' नाम से प्रकाशित हुआ था। १९२६ में एक दूसरा संग्रह 'पल्लव' नाम से प्रकाशित हुआ' (कविता-कौमुदी भाग २। पृष्ठ ६१६)। यों १९२१ से १९५१ तक की तीन दशकों की साहित्य-साधना अपने आप में एक विकास रेखा व्यंजित करती है। सूक्ष्म कल्पना वाले, सहृदय, संवेदनशील कवि के विषय में तो यह विकास और भी स्पष्ट होना चाहिए।

परन्तु कवि केवल कवि ही नहीं सामाजिक व्यक्ति भी होता है। प्रकृति के प्रति जीवन और जगत् की मान्यताएँ भी, उसके व्यक्तिगत वय-विकास के साथ साथ बदलती जाती हैं। यों कवि के कल्पना लोक पर जैसे प्रकृति सीधा भाव-गत प्रभाव डालती है, वैसे ही प्रकृति और मानव के सम्बन्धों के विषय में कवि की धारणाओं का बौद्धिक प्रभाव भी उस कल्पना-जगत् में पड़ता है। कवि स्वयम् मानसिक रूप में प्रगति करता है। त्यों त्यों द्वंद्वात्मक रूप से प्रकृति के रंगों का और स्वरों का आशय भी उसके लिए परिवर्तित होता जाता है। यदि यह परिवर्तन सही दिशा में हो तो उत्तरोत्तर कवि की कविता सबल और अधिक प्राकृतिक, शक्तिवती होती है; यदि कवि किसी विवर्त में, वैचारिक भँवर में पड़ जाय तो उसकी रचनाओं के उज्ज्वल आलोकित रहकर, पतझर वन-सा दृश्य दिखाई देने लगता है। पंत का काव्य-प्ररोह अपने अंकुर-रूप में तो वसंत-स्पर्श के समान था—

'There was joy in the mountains
There was joy in the fountains'

या कीट्स के—
'I gaze, I gaze
with soft amaze'

समान ही पंत जी प्रकृति के मुग्धारूप पर बालक की भाँति रीझते थे।

"पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश
पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश
मेखलाकार पर्वत अपार,
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार,
जिसके चरणों में पड़ा ताल
दर्पण सा फैला है विशाल
वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर"

(उच्छ्वास)

परन्तु धीरे-धीरे यह काव्य-तरु मंजरित हुआ। अपने वसंत में उसने 'ग्राम्या' 'युगवाणी' लिखी। अब उनकी परिपक्वावस्था में, जो एक प्रकार से शिशिर भी है, वे 'स्वर्ण-धूलि' 'स्वर्ण किरण' लिखते हैं। उनकी रचनाओं को विकास-क्रम से देखना अधिक अच्छा होगा।

'पल्लव'

स्वयम् पंत जी ने 'मेरा रचना-काल' लेख में प्रकृति के प्रति उनके मुग्ध कुतूहल की स्वीकृति दी है। उन्हीं के शब्दों में—१,२,३,

१. मेरे कवि-जीवन के विकास क्रम को समझने के लिए पहिले आप मेरे साथ हिमालय की प्यारी तलहटी में चलिये। आपने अल्मोड़े का नाम सुना होगा। वहाँ से बत्तीस मील और उत्तर की ओर चलने पर आप मेरी जन्म-भूमि कौसानी में पहुँच गये। वह जैसे प्रकृति का रम्य शृंगार-गृह है, जहाँ कूर्मांचल की पर्वत-श्री एकांत में बैठकर अपना पल-पल परिवर्तित साज सँवारती है। आज से चालीस साल पहले की बात कहता हूँ। तब मैं छोटा-सा चंचल भावुक किशोर था। मेरा काव्य-कंठ अभी तक फूटा नहीं था। पर प्रकृति मुझ मातृहीन बालक को कवि-जीवन के लिए मेरे बिना जाने ही जैसे तैयार करने लगी थी। मेरे हृदय में वह अपनी मीठी, स्वप्नों से भरी हुई छाप अंकित कर चुकी थी जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले स्वरों में बज उठी। पहाड़ी पेड़ों का क्षितिज न जाने कितने

ही गहरे-हल्के रंगों के फूलों और कोंपलों में मर्मर कर मेरे भीतर अपनी सुन्दरता की रंगीन सुगंधित तहें जमा चुका था। 'मधुबाला की मृदुबोली-सी' अपनी उस हृदय की गुंजार को मैंने अपने 'वीणा' नामक संग्रह में 'यह तो तुतली बोली में है एक बालिका का उपहार !' कहा है। पर्वत-प्रदेश के निर्मल चंचल सौन्दर्य ने मेरे जीवन के चारों ओर अपने नीरव सौन्दर्य का जाल बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के भीतर बरफ़ की ऊँची चमकीली चोटियाँ रहस्य-भरे शिखरों की तरह उठने लगी थीं, जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चँदोवे की तरह आँखों के सामने फहराया करता था। कितने ही इन्द्रधनुष मेरे कल्पना के पट पर रंगीन रेखाएँ खींच चुके थे, बिजलियाँ बचपन की आँखों को चकाचौंध कर चुकी थीं, फेनों के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिए बहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाश-चुंबी सौन्दर्य मेरे हृदय पर एक महान् संदेश की तरह; एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह तथा एक विराट् व्यापक आनन्द सौन्दर्य तथा तपःपूत पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था। मैं छुटपन से जनभीरु और शरमीला था। उधर हिम-प्रदेश की प्राकृतिक सुन्दरता मुझ पर अपना जादू चला चुकी थी, इधर घर में मुझे 'मेघदूत,' 'शकुंतला' और 'सरस्वती' मासिक पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं का मधुर पाठ सुनने को मिलता था, जो मेरे मन में भरे हुए अवाक् सौन्दर्य को जैसे वाणी की झंकारों में झन-झना उठने के लिए अज्ञात रूप से प्रेरणा देता था।'

२. सन् १९१८ से २० तक की अधिकांश रचनाएँ मेरे 'वीणा' नामक काव्य संग्रह में छपी हैं। वीणा-काल में मैंने प्रकृति की छोटी मोटी वस्तुओं को अपनी कल्पना की तूली से रँगकर काव्य की सामग्री इकट्ठा की है। फूल-पत्ते और चिड़ियाँ, बादल, इंद्र-धनुष, ओस-तारे, नदी-झरने, उषा-संध्या, कलरव, मर्मर और टलमल जैसे गुड़ियों और खिलौनों की तरह मेरी बाल-कल्पना की पिटारी को सजाये हुए हैं।

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?"

—इत्यादि सरल भावनाओं को बखेरती हुई मेरी काव्य-कल्पना जैसे अपनी मचलती बाल-प्रकृति के गले में बाहें डाले प्राकृतिक सौन्दर्य के छायापथ में विहार कर रही है।

"उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही माँ !

सजा हृदय की थाली में
क्रीड़ा कौतूहल कोमलता
मोद मधुरिमा हास-विलास
लीला विस्मय अस्फुटता भय
स्नेह पुलक सुख सरल हुलास !"

इन पंक्तियों में चित्रित प्रकृति का रूप ही तब मेरे हृदय को लुभाता रहा है। उस समय का मेरा सौन्दर्य-ज्ञान उस ओसों के हँसमुख वन-सा था जिस पर स्वच्छ निर्मल स्वप्नों से भरी चाँदनी चुपचाप सोयी हुई हो। उस शीतल वन में जैसे अभी प्रभात की सुनहली ज्वाला नहीं प्रवेश कर पायी थी। स्निग्ध सुन्दर मधुर प्रकृति की गोद माँ की तरह मेरे किशोर जीवन का पालन एवं परिचालन करती थी। 'वीणा' के कई प्रगीत माँ को संबोधन करके लिखे गये हैं।

"माँ मेरे जीवन की हार

तेरा उज्वल हृदय हार हो अश्रुकणों का यह उपहार"—आदि 'वीणा'-काल की रचनाओं में प्रकृति प्रेम के अलावा मेरे भीतर एक उज्ज्वल आदर्श की भावना भी जाग्रत हो चुकी थी। 'वीणा' के कई प्रगीतों में मैंने अपने मन के इन्हीं उच्छ्वासों एवं उद्‌गारों को भरकर स्वर-साधना की है।

'वीणा' में प्रकाशित 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि' नामक कविता ने काव्य-साधना की दृष्टि से नवीन प्रभात की किरण की तरह प्रवेश कर मेरे भीतर 'पल्लव'-काल के काव्य-जीवन का समारंभ कर दिया था। १९१९ की जुलाई में मैं कालेज पढ़ने के लिए प्रयाग आया, तब से करीब दस साल तक प्रयाग ही में रहा। यहाँ मेरा काव्य-संबंधी ज्ञान धीरे-धीरे व्यापक होने लगा। शेली, कीट्स, टेनिसन आदि अंग्रेजी कवियों से मैंने बहुत कुछ सीखा। मेरे मन में शब्द-चयन और ध्वनि-सौन्दर्य का बोध पैदा हुआ। 'पल्लव'-काल की प्रमुख रचनाओं का प्रारम्भ इसके बाद ही होता है। प्रकृति-सौन्दर्य और प्रकृति-प्रेम की अभिव्यंजना 'पल्लव' में अधिक प्रांजल एवं परिपक्व रूप में हुई है। 'वीणा' की रहस्य-प्रिय बालिका अधिक मांसल, सुरुचि, सुरंगपूर्ण बनकर प्रायः मुग्धा युवती का हृदय पाकर जीवन के प्रति अधिक संवेदनशील बन गयी है। 'सोने का गान,' 'निर्झर गान,' 'मधुकरी,' 'निर्झरी,' 'विश्व-वेणु,' 'वीचि-विलास' आदि रचनाओं में वह प्रकृति के रंग-जगत् में अभिनय करती-सी दिखायी देती है। अब उसे तुहिन-वन में छिपी स्वर्ण-ज्वाल का आभास मिलने लगा है, ऊषा की मुसकान कनक-मदिर लगने लगी है। वह अब इस रहस्य को नहीं छिपाना चाहती कि उसके हृदय में कोमल बाण लग गया है। निर्झरी का अंचल अब आँसुओं

रो गीला जान पड़ता है, उसकी कल-कल ध्वनि उसे मूक व्यथा का सुन्दर भुलाव प्रतीत होती है। वह मधुकरी के साथ फूलों के कटोरों से मधुपान करने को व्याकुल है। सरोवर की चंचल लहरें उससे आँख-मिचौनी खेलकर उसके आकुल हृदय को दिव्य-प्रेरणा से आश्वासन देने लगी है। वह उससे कहती है—

"मुग्धा की-सी मृदु मुस्कान,
खिलते ही लज्जा से म्लान,
स्वर्गिक सुख की-सी आभास
अतिशयता में अचिर महान

दिव्य भूति-सी आ तुम पास
कर जाती हो क्षणिक विलास
आकुल उर को दे आश्वास!"

'पल्लव' की यह रचना देखिये—

"मेरा पावस ऋतु सा जीवन
मानस सा उमड़ा अपार मन;
गहरे, धुँधले, धुले साँवले
मेघों से मेरे भरे नयन।

इंद्र धनुष सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अछोर,
कभी कुहरे सी धूमिल घोर,
दीखती भावी चारों ओर!

तड़ित सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान प्रभा के पलक मार उरचीर
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर मुझे करता है अधिक अधीर

जुगनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान!" (आँसू)

इस कविता में सहसा तुलसी के 'घन घमंड गरजत अति घोरा। पियाहीन डरपत मन मोरा' विद्यापति के 'ई माह भादर मरा बादर, सून मंदिर मोर' की याद हो आती है। मीरा की 'झुकि आई री बदरिया सावण की' जैसी गीत पंक्तियों की अनुगूँज जैसे रवीन्द्र के वर्षा मंगल के साथ तदाकार हो उठती है—'गगने गरजे मेघ, घन बरषा। कूले एका बसे आछि नाहिं भरोसा' (रवीन्द्रनाथ)। रवीन्द्र ने और भी कहा है—

'मेघर परे मेघ जमे छे। आँधार करिये आसे
आमाय केनो बसिये राखो एका द्वारेर पासे'

और बादलों का यह वर्णन देखिये:—

'राह जे मधुर अलस भरे।
मेघ मेसें जाय बातास परें।"

हमारे यहाँ पर्जन्य की स्तुति वेदों में भी है। यथा:—'भूमै पर्जन्यपत्न नमोऽस्तुवर्षमेदसे' इस सूत्र का अर्थ है 'पर्जन्य की पत्नी भूमि को प्रणाम है।' यह पृथ्वी-सूक्त का एक सूत्र है। रवींद्रनाथ मे और पन्त में भी पावस-वर्णन के बड़े सुन्दर छंद हैं: जैसे 'पल्लव' में आँसू—

"बादलों के छायामय मेल
घूमते हैं आँखों में, फैल,
अवनि औ' अम्बर के वे खेल
शैल में जलद, जलद में शैल !

शिखर पर विचर मरुत-रखवाल
वेणु में भरता था जब स्वर,
मेमनों से मेघों के बाल
फुदकते थे प्रमुदित गिरि पर !

द्विरद-दन्तों से उठ सुन्दर
सुखद कर-सीकर से बढ़कर
भूति से शोभित बिखर-बिखर
फैल फिर कटि के से परिकर

बदल यों विविध वेश जलधर
बनाते थे गिरि को गजवर !"

'पल्लव' में प्रकृति के भीतर किसी रहस्यमय तत्त्व को माना गया है! जैसे 'मौन-निमन्त्रण' में—'न जाने नक्षत्रों से कौन, निमन्त्रण देता मुझको मौन !'

'निर्झर गान:'—

शुभ्र निर्झर के झर-झर पात!
कहाँ पाया वह स्वर्गिक-गान ?
शृंग के निर्मल नाद !
स्वरों का यह संधान ?

'नक्षत्र' और 'बादल' में उत्प्रेक्षावली की झड़ी है। यह पुराने प्रकृति-वर्णन का मानों प्रभाव है। परन्तु प्रकृति के टेनीसन के शब्दों में 'नेचर इन-ब्लड एंड क्लाज़' रूप का 'परिवर्त्तन' में संकेत है।

यथा:—

रुधिर के हैं जगती के प्रात,
चितानल के ये सायंकाल;
शून्य निःश्वासों के आकाश,
आँसुओं के ये सिंधु विशाल,

२. गुञ्जन

'पल्लव' से 'गुञ्जन' पंत के 'सा' के बाद 'रे'—एक सीढ़ी विकास का द्योतन करती है। उन्हीं के शब्दों में : (मेरा रचनाकाल···४)

"पल्लव" की छोटी बड़ी अनेक रचनाओं में जीवन के और युग के कई स्तरों को छूती हुई, भावनाओं की सीढ़ियाँ चढ़ती हुई, तथा प्राकृतिक-सौन्दर्य की झाँकियाँ दिखाती हुई मेरी कल्पना 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में मेरे उस काल के हृदय-मंथन और बौद्धिक-संघर्ष की विशाल दर्पण-सी है जिसमें 'पल्लव-युग' का मेरा मानसिक-विकास एवं जीवन की संग्रहणीय अनुभूतियाँ तथा राग-विराग का समन्वय बिजलियों से भरे बादल की तरह प्रतिबिंबित है। इस अनित्य जगत में नित्य जगत को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन में जैसे 'परिवर्तन' के रचनाकाल से प्रारम्भ हो गया था, 'परिवर्तन' उस अनुसंधान का केवल प्रतीक मात्र है। हृदयमंथन का दूसरा मुख आप आगे चल कर 'गुञ्जन' और 'ज्योत्स्ना'-काल की रचनाओं में पायेंगे।

मैं प्रारंभ में आपको ४० साल पीछे ले गया हूँ और प्राकृतिक सौंदर्य की जुगनुओं से जगमगाती हुई घाटी में घुमाकर धीरे-धीरे कर्म-कोलाहल से भरे संसार की ओर आया हूँ। 'परिवर्तन' की अन्तिम कुछ पंक्तियों में जैसे इन चालीस वर्षों का इतिहास आगया है—

"अहे महांबुधि, लहरों के शतलोक चराचर
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर!
तुङ्ग तरंगों से शतयुग शतशत कल्पांतर
उगल महोदर में विलीन करते तुम सत्वर!"

मेरा जन्म सन् १९०० में हुआ है, और १९४७ में मैं जैसे इस संक्रमशील युग के प्रायः अर्द्ध-शताब्दी के उत्थान-पतनों को देख चुका हूँ। अपना देश इन वर्षों में स्वतंत्रता के अदम्य संग्राम से आंदोलित रहा। उसके मनोजगत् को हिलाती हुई नवीन जागरण की उद्दाम आँधी जैसे

"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र, हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्कशीर्ण,
हिमतापपीत मधुवात भीत तुम बीतराग [illegible] जड़ पुराचीन!"

का संदेश बिखेरती रही है। दुनिया इन वर्षों में दो महायुद्ध देख चुकी है।'

एक ओर है 'छाया'—

> "पछतावे की परछाईं सी तुम भू पर छाई हो कौन,
> दुर्बल-सी, अँगड़ाई-सी, अपराधी सी, भय सी मौन ?
> हाँ सखि ! आओ बाँह खोल हम लगकर गले जुड़ा लें प्राण ।
> फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अन्तर्धान"

और दूसरी ओर वीणा में प्रकाशित 'प्रथम रश्मि' का विद्रोही आशावाद

> "स्नेह हीन तारों के दीपक, श्वास-शून्य थे तरु के पात,
> विचर रहे थे स्वप्न अवनि में, तम ने था मंडप ताना ।
> कूक उठी सहसा तरुवासिनि ! गा तू स्वागत का गाना ।
> किसने तुझको अन्तर्यामिनि ! बतलाया उसका आना ।
> निकल सृष्टि के अन्धगर्त से छाया तन बहु छाया-हीन ;
> चक्र रच रहे थे खल निशिचर चला कुहुक, टोना माना ।
> सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल, सुप्त समीरण हुए अधीर,
> झलका हास कुसुम अधरों पर हिले मोती का सा दाना ।
> खुले पलक, फैली सुवर्ण-छवि खिली सुरभि, डोले मधुबाल,
> स्पन्दन, कम्पन, नवजीवन फिर सीखा जग ने अपनाना ।"

'लाई हूँ फूलों का हास, लोगी मोल लोगी मोल' में प्रकृति स्वयं तीनों प्रधान ऋतुओं के सौंदर्य वर्णन करती है और अन्त में 'कुछ भी आज न लूँगी मोल' उत्तर देकर प्रकृति की अक्रय-विक्रयशीलता का परिचय दिया है ।

'गुञ्जन' में 'एक तारा' और 'नौकाविहार' में दो अत्यन्त सुन्दर दृश्य-चित्र उपस्थित हैं । पंत जी के प्रकृति-वर्णन की समान शांत-कोमलता उसमें अत्यन्त सधी तूलिका से अङ्कित हैं । उन दो कविताओं के उद्धरण नहीं दिये जा सकते । वे अखंड चित्र स्वयमेव हैं ।

परन्तु एकाकी पंत के अन्तर्मन की उदासी यहाँ भी प्रकृति-चित्रण में सर्वत्र अभिव्यक्त है : 'चाँदनी' उनके लिए 'जग के दुखदैन्य शयन पर यह रुग्णा जीवन बाला' है और 'झर गई कली, झर गई कली' जैसे गीतों में मनुष्य की आत्महत्या वाली प्रवृत्ति तक प्रवृत्ति पर आरोपण है । यह एक प्रलंबित रूपक है जिसमें मानवीकरण बहुत सफलता के साथ आँका है ।

'भावी पत्नी के प्रति' में भी प्राकृतिक उपमानों का सुन्दर चयन है, जो सहसा रवीन्द्रनाथ की अनिंदिता उर्वशी की याद दिला देता है ।

'खोल सौरभ का मृदु कच-जाल
सूँघता होगा अनिल समोद
सीखते होंगे उड़ खग बाल
तुम्हीं से कलरव, केलि, विनोद;
चूम लघु-पद चंचलता प्राण!
फूटते होंगे नव-जल-स्रोत
मुकुल बनती होगी मुसकान,
प्रिये प्राणों की प्राण!'

३. युगांत

'युगांत' पंत जी के काव्य-ग्रन्थों में 'पल्लव' के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। क्योंकि इसमें कवि अपने विचारों के क्षेत्र में एक मोड़ पर है। जैसे वह अपनी केंचुल त्याग कर नये जीवन-दर्शन की ओर मुड़ा है। इसी कारण वह 'द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र' में प्रकृति के नाश और निर्माण के द्वन्द्वात्मक दर्शन को समझ सका है और कहता है, फरवरी, ३४ में—

'कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर, पल्लव-लाली!
प्राणों की मर्मर से मुखरित जीवन की मांसल हरियाली!'

यहीं वह नये स्वास्थ्य का अनुभव करता है। जो शिशिर का जीर्णपात है वह झर गया है और जीवन-डाली से यों झरने में वह आल्हाद अनुभव करता है। प्रकृति और मानव के बीच जो खाई है, वह उसके लिए केवल विस्मय का विषय नहीं रहती, वह सवर्थ की (Lines written on Early Spring) की भांति—

'If this is Nature's holy plan
Does it not pain me to think
What Man has made of Man'

प्रश्न को ही वे पूछते हैं—

'हे पूर्ण प्राकृतिक सत्य! किन्तु मानव जग!
क्यों म्लान तुम्हारे कुंज, कुसुम, आतप खग?'

माइकोवस्की की एक कविता है—

'Down with these romantic dirges,
Bike into time
Grow through the fences

With tense muscles
Let your faith be
Like compressed steam; and electricity !'

उतनी आधुनिकता के साथ और ओजपूर्ण रोष से तो नहीं पर 'युगांत' का कवि कहता है—

'जीवन का फल जीवन का फल !
इसका रस लो,—हो जन्म सफल ।
तीखे, चमकीले दाँत चुभा,
चाबो इसको, क्यों रहे लुभा !
निर्भीक बनो, साहसी, शक्त,
जीवन प्रेमी,—मत हो विरक्त !'

और,

गर्जन का मानव केशरि ! मर्मस्पृह, गर्जन—
प्रखर नखर नवजीवन की लालसा गड़ाकर ।
छिन्न भिन्न कर दे गत युग के शव को, दुर्धर ।

इसी बायरन कवि जैसी मुक्त प्रेमासक्ति में पंत ने—'मेरा स्वर होगा जग का स्वर, मेरे विचार जग के विचार' के आवेश में 'मंजरित आम्रवन छाया में हम प्रिय, मिले थे प्रथम बार' और 'वह विजय चाँदनी की घाटी' तथा 'छाया' ? और 'छाया' शीर्षक दोनों रचनाओं में मुग्धा के प्रथम मिलन का मुक्त वर्णन किया है—पहिले 'मिलन' में—

'तुम मुग्धा थीं, अति भाव प्रवण
उकसे थे अम्बियों से उरोज
चंचल प्रगल्भ, हँस-मुख, उदार
मैं सलज—तुम्हें था रहा खोज !
छनती थी ज्योत्स्ना शशि मुख पर,
मैं करता था मुख सुधा पान,
कूकी थी कोकिल, हिले मुकुल,
भर गए गंध से मुग्ध प्राण,
तुमने अधरों पर धरे अधर,
मैंने कोमल वपु धरा गोद,
था आत्म समर्पण सरल, मधुर,
मिल गए सहज मारुत प्रमोद ।'

...के बाद 'नीबू आड़ू के मुकुलों के मद से मलयानिल जहाँ लदा था' वहाँ सौरभश्लथ तन मन के लिए झरझर मृदु सुमनशयन बिछते थे। और छाया में 'वह सुन्दर है साँवली सही, तरुणी है, हो षोडशी रही; विवसना लतासी तन्विंगिनि निर्जन में क्षण भर की संगिनि'—के बाद की छाया में परिरम्भ का गुह्य मुग्ध प्रतीकों में वर्णित है। यह छायानुभव गुञ्जन की छाया से भिन्न है। युगांत में ही पंत जी की वह रचना है जो मुझे अत्यन्त प्रिय है—

बाँसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट—
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टी-वी-टी—टुट् टुट्।
... ...

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग,
भारी है जीवन भारी पग!
आ:, गा गा शतशत सहृदय खग,
संध्या बिखरा निज स्वर्ण सुभग
औ' गंध पवन, फल मंद व्यजन
भर रहे नया इनमें जीवन,
ढीली है जिनकी रग रग!
यह लौकिक औ' प्राकृतिक कला,
यह काव्य अलौकिक सदा चला,
आ रहा सृष्टि के साथ पला।
... ...

गा सके खगों का सा मेरा कवि
विश्री जग की संध्या की छवि!
गा सके खगों सा मेरा कवि,
फिर हो प्रभात, फिर आये रवि।

शैले भी कुछ ऐसी ही कामना अपने 'स्काइलार्क' के अन्त में कहता है—'Teach me half thy gladness.' परन्तु औद्योगिक क्रांति के बाद शैले को लिखना पड़ा—

'Arise, arise
For there is much blood that denies your bread
Let your wounds have eyes.'

और भी कई समाजवादी प्रेरणा भरी रचनाएँ जैसे—

'Break your shackles like the dew
Ye are many, they are few.'

४. युगवाणी

उसी तरह ऐतिहासिक अनिवार्यता से पंत जी को 'युगवाणी' लिखनी पड़ी। 'निराला' को अर्पित युगवाणी में आकर प्रकृति पीछे पड़ गई और मानव प्रधान विषय बन गया। 'युगांत' से ही वह बात आरम्भ हो गयी थी : 'सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर, मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम !' 'युगवाणी' के गीत-गद्य में वे स्वयम् 'दृष्टिपात' में लिखते हैं—"आप टेढ़ी-मेढ़ी पतली ठूँठी टहनियों के वन का दूर तक फैला हुआ वासांसि जीर्णानि विहाय···सौंदर्य देखेंगे, जिससे नव-प्रभात की सुनहली किरणें बारीक रेशमी जाली की तरह लिपटी हुई हैं, जहाँ ओसों के झरते हुए अश्रु आगत स्वर्णोदय की आभा में हँसते हुए से दिखाई देते हैं; जहाँ शाखा-प्रशाखाओं के अंतराल से—जिनमें अब भी कुछ विवर्ण पत्ते अटके हुए हैं—छोटे-बड़े, तरह-तरह के, भावनाओं के नीड़, जाड़ों की ठिठुरती काँपती हुई महानिशा के युगव्यापी त्रास से मुक्त होकर नवीन कोपलों से छनते हुए नवल आलोक तथा नवीन उष्णता का स्पर्श पाकर फिर से संगीत मुखर होने का प्रयत्न कर रहे हैं।" यह वाक्य गगनेन्द्रनाथ ठाकुर के 'बनारस में सुबह' जैसे चित्रों की एकांत भव्य उदात्त स्वर्णिम शाँति भरे वातावरण की याद दिलाता है। 'गंगा का प्रभात' ऐसी ही कविता है।

कवि का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण बदल रहा है। पुण्यप्रसू में उनका निज दृष्टिकोण अधिक भू-विषयक, भूम्योन्मुख हो रहा है। परन्तु ८२ पृष्ठों की इस पूर्ण पुस्तक में प्रकृति-चित्रण विषयक कविताएँ सिर्फ दस-ग्यारह हैं। वे स्पष्टत प्रकृति के प्रति, कहते हैं—

हार गई तुम
प्रकृति !
रच निरुपम
मानव कृति !
निखिल रूप, रेखा, स्वर
हुए निछावर
मानव के तन, मन पर !
धातु, वर्ण, रस, सार,

बने अस्थि, त्वच, रक्त-धार,
कुसुमित अंग-उभार

सुन्दरता, उल्लास,
छाया, गंध, प्रकाश,
बने रूप-लावण्य विकास,
नव यौवन—मधुमास,
जीवन रण में प्रतिक्षण
कर सर्वस्व समर्पण,
पूर्ण हुई तुम, प्रकृति!
आज बन मानव की कृति! (पृ० ६०)

यह दस-ग्यारह कविताएँ भी जो प्रकृति की सुन्दर चीज़ों के नाम से शीर्षित हैं। वस्तुतः प्रकृति वर्णनात्मक नहीं हैं। चिंतन के क्षेत्र में बौद्धिकता की ओर झुकते हुए पन्त जी अब प्रकृति की निरपेक्ष सत्ता नहीं जानते। बल्कि उसे समाजगत मानव के परिपार्श्व में, उसके सही प्रक्षेपण के साथ प्रस्तुत करते हैं। अतः प्रकृति वस्तुतः प्राकृतिक शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त है।

कविता की रूप-सज्जा में अधिक आत्म-चेतन होकर कवि ने ओस के प्रति और 'जलद' जसी कविताओं में 'ो' और 'ा' जैसी ध्वनियों की सत्ता को पहिचाना है और उनका अपनी रचनाओं में अन्तर्लय के रूप में प्रयोग किया है। इस संग्रह में जो मुझे सबसे अच्छी लगती है वे मानवीकरणमय 'दो मित्र' और 'झंझा में नीम' नाम की कविताएँ। इनमें पुष्ट ध्वनिचित्र हैं, जैसे—

फूट पड़ा, लो निर्झर
मरुत—कम्प अर!...
झूम, झूम, झुक झुककर,
भीम नीम तरु निर्भर
सिहर सिहर थर थर थर
करता सर मर चर मर! (पृ० ७५)

५. ग्राम्या

'युगवाणी' से 'ग्राम्या' में पंत अधिक सामाजिक यथार्थता की ओर झुके हैं। वे जो भू को देखना चाहते थे, वे अब धोबियों, कहारों, चमारों के नाचों में रस लेने लगे हैं। उन्हीं के शब्दों में (मेरा रचनाकाल) "युगवाणी के दृष्टिकोण से यदि हम आगे ग्रामीणों के जीवन को देखें तो आज गाँवों को शांति और

प्राकृतिक सुन्दरता की रंगस्थली नहीं पायेंगे। न वहाँ आपको स्वर्ग का सुख ही कहीं देखने को मिलेगा जैसा कि आप प्रायः द्विवेदी-युग के कवियों के ग्राम-वर्णन में पढ़ते आये हैं। सच बात तो यह है कि 'ग्राम्या' की निम्न पंक्तियाँ ही हमारे ग्राम्य-जीवन का सच्चा चित्र हैं—

"यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम,—सभ्यता संस्कृति से निर्वासित!
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में
गृह गृह में हैं कलह, खेत में कलह, कलह है मग में
प्रकृति धाय यह तृण-तृण कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विपण्ण जीवनमृत!"

कला की दृष्टि से 'युगवाणी' की भाषा अधिक सूक्ष्म (एब्स्ट्रैक्ट) है जो कि बुद्धि-प्रधान काव्य का एक संस्कार एवं अलंकार भी है। उसमें विश्लेषण का बारीक सौंदर्य मिलता है। 'ग्राम्या' में वही शैली जैसे अधिक भावात्मक होकर खेतों की हरियाली में लहलहा उठी है। 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' का प्रायः एक ही संदेश है जिसकी चर्चा मैं ऊपर कर चुका हूँ।

स्वयम् कवि ने कहा है—

'यहाँ न पल्लव बन में मर्मर,
यहाँ न मधु विहगों में गुंजन,
जीवन का संगीत बन रहा,
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन!' (ग्राम कवि पृ० १३)

और बौद्धिक ही क्यों न हो ग्रामोन्मुख दृष्टिकोण से नागर कवि ग्राम-विषयों का विवरणपूर्वक अध्ययन करता है। गाँव वालों के गहने, उनके पर्व, उत्सव, ग्राम समस्याएँ, पंत लेना चाहते हैं। 'ग्राम-श्री' में गांवों की सब्जी, पौधे और पक्षियों के भी कैसे रम्य वर्णन हैं:—

फैली खेतों में दूर तलक मखमल की कोमल हरियाली;
लिपटी जिससे रविकी किरणें चाँदी की सी उजली जाली
तिनकों में हरे हरे तनपर हिल हरित रुधिर है रहा झलक
श्यामल भूतल पर झुका हुआ नभ का चिर-निर्मल नील फलक!
रोमांचित सी लगती वसुधा आई जौ गेहूँ में बाली,
अरहर सनई की सोने की किंकिणियां हैं शोभाशाली।

उड़ती भीनी तैलावत गंध, फूली सरसों पीली पीली,
लो, हरित धरा से झाँक रही, नीलम की कलि, तीसी नीली।
रंग रंग के फूलों में रिलमिल हँस रही सखियाँ मटर खड़ी।
मखमली पेटियों सी लटकीं छीमियाँ, छिपाए बीज खड़ी।
फिरती हैं रंग रंग की तितली रंग रंग के फूलों से सुन्दर,
फूले फिरते हों फूल स्वयं उड़-उड़ वृन्तों से वृन्तों पर।
अब रजतस्वर्ण मंजरियों से लद गई आम्र तरु की डाली।
झर रहे ढाँक, पीपल के दल, हो उठी कोकिला मतवाली।
महके कटहल, मुकुलित जामुन, जंगल में झरबेरी झूली।
फूले आड़ू, नीबू, दाडिम, आलू, गोभी, बैंगन, मूली। (पृ० ३५)

यह समूची कविता बहुत ही सुन्दर है। इसमें पक्षियों का वर्णन देखिये—

'बालू के साँपों से अंकित गंगा की सतरंगी रेती
सुन्दर लगती सरपत छाई तट पर तरबूजों की खेती।
अंगुली की कंघी से बगुले-कलँगी सँवारते हैं कोई
तिरते जल में सुरख़ाब, पुलिन पर मगरौठी रहती सोई।
डुबकियाँ लगाते सामुद्रिक, धोतीं पीली चोंचें धोबिन,
उड़ अबाबील, टिटहरी, बया, चारा चुगते कर्दम, कृमि, तृन।'
(पृ० ३७)

'ग्राम्या' में दूसरी प्रकृति वर्णन की दृष्टि से महत्वपूर्ण कविता है—'संध्या के बाद'! और 'रेखा चित्र' में भी संध्या का जो वर्णन है वह नन्दलाल बसु के चित्र 'साँध्य-प्रदीप' की याद दिलाता है, और 'खिड़की' से कविता में कवि ने अपना नक्षत्र ज्ञान और सौंदर्य-कला में फूलों का ज्ञान बहुत उभार कर रख दिया है, इस कारण पौधा के कैटलाग की भांति कुछ नीरस पंक्तियां रची गयी हैं यथा—

हँसमुख कैंडीटफ्ट, रेशमी चटकीले नैशटरशम,
खिली स्वीटपी, एवेंडम, फ़िल नास्कैट 'औ' ब्लू बैंटम।
जोज़ेफ हिल, सरचार्ड पीत नर्गिस लेडी हैमिल्टन,
ग्रैंड युगल, रिचमंड, विकच गैटक प्रिंस नोज लोहित तन।
(पृ० ७६)

६. स्वर्ण किरण

'ग्राम्या' सन् ४० में प्रकाशित हुई। उसके बाद सात वर्षों तक द्वितीय महा-युद्ध काल में कवि पंत ने कुछ भी प्रकाशित नहीं किया। सन् '४७ में 'स्वर्णकिरण' प्रकाशित हुई जिसमें दूसरे ही प्रकार के कवि पंत का आभास अब पाठकों को मिलता है। जो माँसल, रूपाभमयी भौतिक दृष्टि पंत की 'युगवाणी' 'ग्राम्या' में थी, वह जैसे खो गयी। और अब प्रकृति वायवी भाव-रूप शेष रह गया। अब वीणा, पल्लव-गुंजन काल का बाल-सुलभ कौतूहल नहीं है, और न ग्राम्या-युगवाणी वाली रस-सिक्त आसक्ति। अब तो जैसे प्रकृति केवल प्रतीक-विधान का आधारमात्र रह गयी है।

'स्वर्ण किरण' के हिमालय वर्णन को लीजिये—

'भीम विशाल शिलाओं का,
वह मौन हृदय में अब तक अंकित।
फेनों के जलस्तम्भों से वे,
निर्झर रभस वेग से मुखरित!
चीड़ों के तरु वन का तम,
साँसें भरता मन में आंदोलित।
दरियों की गहरी छाया में,
ज्योतिरिंगणों से थीं गुंफित!
गाते उर में क्षिप्र स्रोत,
लहराते सर तुषार के निर्मल।
सौरभ की गुंजित अलकों से,
छू समीर, उर करता शीतल!
नीली पीली हरी लाल,
चपलाओं का नभ जगता चंचल।
रजत कुहासे में, क्षण में,
माया प्रांतर होजाता ओझल!' (हिमाद्रि पृ० १२-१३)

और 'प्रभात का चाँद'—(पृ० ६८--६६)

'नील पंक में फँसा अंश जिसका उस श्वेत कमल सा शोभन
नभो नीलिमा में प्रभात का चाँद उनींदा हरता लोचन!
इसमें वह न निशा की आभा, दुग्ध फेन सा यह मृदु कोमल,
मानवीय लगता नयनों को स्नेह पक्व सकरुण मुखमंडल!'

यह सब संकेत-संयोजना इस प्रकार की है कि मानो प्रकृति को देख कर वे मानव की याद कर उठते हैं। और मानव की विकृति और असुन्दरता उन्हें इतनी अरुचिकर हो गयी है कि उसे क्षमाशील भाव से पीछे छोड़ देते हैं; और प्रकृति की तथाकथित असुन्दरता को भी सौंदर्यालंबन मानते हैं, यथा 'कौवे के प्रति' (पृ० ७६) में—'तरु की नग्न डाल पर बैठे लगते तुम चिर सुन्दर।'

परन्तु इसी कौवे को आकाश नील रंग का कौवा यदि हम मान लें तो पंत की 'अरविन्द के प्रति' कविता में 'अग्नि-विहग' और 'नील-शकुनि' प्रतीकों का प्रयोग पंत जी ने किया है। यह कुछ विचित्र लगता है। कुल मिला कर 'स्वर्ण-किरण' में प्रकृति पीछे छूट गयी है और आत्मचेतना और लोकचेतना के सोपान पार करके कवि ऊर्ध्व-चेतना की ओर मुड़ा है।

७. स्वर्ण-धूलि

जहाँ कवि की दृष्टि प्रत्यक्ष प्रकृति को छोड़ कर अध्यात्म के सूक्ष्म विवेचन में, नवमानवतावाद के उद्घाटन में रम रही है, वहाँ सर्वत्र कण-कण में 'स्वर्णधूलि' सी छायी है। और इसी नाम के संग्रह में वे प्रकृति के कृष्णपक्ष को भुला कर मन को ज्योत्स्ना से रस-स्नात वातावरण में जैसे (पृ० २५) पर कहते हैं—

'सुनता आया हूँ, है देखा
काले बादल में हँसती चाँदी की रेखा।'

इसी संग्रह में 'चौथी भूख' और 'सावन' के बाद 'तालकुल' पृष्ठ पचपन पर कवि कहता है—

'संध्या का गहराया झुट-पुट,
भीलों का सा धरे सिर मुकुट।
हरित चूड़ कुकड़ू कूं कुक्कुट,
एक टांग पर तुले दीर्घतर,
पास खड़े तुम लगते सुन्दर।
नारिकेल के हे पादप वर।
हैं कठोर रस भरे नारियल,
मित जीवी, फैले थोड़े दल।
देवों की सी रखते काया,
देते नहीं पथिक को छाया।
अगर न ऊँचे होते दादा,
कब का ऊँट तुम्हें खा जाता।'

स्पष्ट है कि यहाँ कवि के अर्द्धचेतन में लामार्क का परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको ढाल लेने वाले ऊँट की लचीली गर्दन में जिराफ की सख्त गर्दन का विकासवाद विषयक सिद्धांत झाँक रहा है। प्रकृति के सूक्ष्म, मसृण, मधुर-पक्ष जाकर अब एक बौद्धिक स्थितप्रज्ञता आ गयी है, जैसे 'क्रोटन की टहनी' में वे कहते हैं—

"पौधे ही क्या, मानव भी यह भू-जीवी निःसंशय।"

और चांदनी को देख कर अब 'नौका विहार' वाला उल्लास लुप्त हो गया है और स्थविर औदासीन्य छाने लगा है, जैसे:—

'शरद चाँदनी!
विहँस उठी मौन अतल,
नीलिमा उदासिनी!
जगी कुसुम कलि थर् थर,
जगे रोम सिहर सिहर।
शशि असि सी प्रेयसि स्मृति,
जगी हृदय-ह्लादिनी।'

फलतः कवि की कला में भी धीरे-धीरे एक प्रकार का रूप जड़ीकरण अथवा शैली का अगलित्व (स्टाइलाइज़ेशन) आने लगा है, जो बहुत कुछ 'बच्चन' के इधर के 'कैंटेशिज़्म' की याद दिलाता है, जैसे:—

पृ० ९३ पर—गगन में इन्द्र धनुष	या पृ० १०० पर निर्झर में
अवनि ,, ,,	झरो धरा पर
तृणों ,, ,,	भरो धरा पर
कणों ,, ,,	तपःपूत नवोद्भूत
स्पर्श पा चेतन का जग उठे शप्त नहुष	चेतना पर!

८. युग-पथ

स्पष्ट है कि पंत की प्रतिभा प्रकृत-पथ को छोड़कर कविता के रीतिबद्धता में पुरानी लीकों में घूम रही है, चक्कर काट रही है।

'युगांत' के गीतों को छोड़कर जो 'युगांतर' के गीत हैं उनमें अब अमूर्त और अतीन्द्रिय उपमान भी अधिक मिलते हैं। एक कविता 'कवींद्र रवींद्र के प्रति' में स्वर्ग के वर्णन में पंत जी कुछ खुलते हैं, परन्तु पुनः सजग हो जाते हैं। अन्य सब कविताएँ भाषभाष्य हैं। दार्शनिकता का पुट बढ़ता जाता है। परन्तु

रोमांटिक कवि पंत का मूल रूप इस सूफियाने नकाब में छिपता नहीं। रँगीला अन्तर 'मानसी' के गीतों में छलक ही उठता है। 'अन्तर-घन' नामक एक गीत है—

'बिजली कँप-कँप उठती घन में,
प्राणों की अभिलाषा मन में!
तुम आभादेही बन जातीं
तडित् चकित आशा के क्षण में?
बरस रहा स्मृतियों का बादल
लिपटा मन में ममता कोमल
स्वप्नों के पंखों की छाया
फैला नीरव उर आँगन में
यह आलोक मिला जीवनतम,
प्रीति प्रतीति भरा संशय भ्रम,
विरह मिलन की मर्म व्यथा का
मन्द्र निनाद ध्वनित प्रतिकण में!'

इधर पंत में प्रकृति और मनोभावों का ऐसा उत्कृष्ट समन्वय बहुत कम कविताओं में मिलता है। 'युगांतर' में भी 'युग-वाणी' की तरह से ही बौद्धिकता की अपेक्षा आध्यात्मिक दर्शनाभास वाली चिंता का कुहासा फैला हुआ है। कवि का बाल-प्राकृतिक भाव जैसे निर्भ्रान्त, अधिक शिथिल अथवा यों कहें कि तिरोहित सा हो गया है। यहाँ आकर पंत जीवन और जगत् की समस्याओं में समन्वयात्मक समाधान खोजने में लगे हैं।

परन्तु प्रकृति में समन्वय कहाँ है? वहाँ तो है विरोध-विकास? वहाँ तो है नाश और निर्माण, प्रलय-सृजन की एक अखंड परम्परा। 'परिवर्तन' वाले पंत जैसे उस अवश्यम्भावी प्राकृतिक कड़ी की सत्ता भूल गये। और 'धरा पर धवलित हृदयों का अवतरण' सहसा जादू की तरह हो जाने का ज्योत्स्ना-परिपूरित सपना देख रहे हैं। यह सपना टामस मूर ने 'यूटोपिया' में, बेकन ने 'निउ अटलांटिस' में या तुलसी और गांधी ने 'रामराज' में और ऐसे ही दुनिया के सभी आदर्शवादियों ने देखा है। पंत भी उसी स्वप्न से प्रभावित हैं। परन्तु यथार्थ और है और यथार्थ को केवल एक सोपान कहकर कैसे टाला जा सकता है। अरविंद-दर्शन में इसका समाधान प्रकृति के ऊर्ध्व-चैतन्य में, अपर मानस में विकासोन्मुख भाववाचक रूपान्तर से माना गया है। परन्तु कवि-धर्म इससे कुंठित होता है। रंग रंग का वैविध्य मटमैला, धूसर, एकरंग हो जाता है। चाहे कवि के भीतर

के दार्शनिक को 'अदिति' में अरविंद की रचनाओं के अनुवाद से ही संतोष हो जाता है परन्तु आज के कवि को अल्प परितोष काफी नहीं होना चाहिये।

६. उत्तरा

इस संग्रह में आकर पंत जी के मन में युग-विषाद गहरा आया है। कवि की शैली भी और दुरूह यानी उपनिषत्कालीन प्रतीकों से आच्छन्न, अधिकाधिक दर्शन-बोझिल होती जा रही है। इसके कई प्रमाण हैं। यथा:

'दारुण मेघ घटा घहराई, युग संध्या गहराई !
आज धरा प्रांगण पर भीषण झूल रही परछाई !
तुम विनाश के रथ पर आओ,
गत युग का हत शव ले जाओ।
गीध टूटते, श्वान भूँकते,
रोते शिवा विदाई।'

(युगछाया पृ० ५)

'लो आज झरोखों से उड़कर
फिर देवदूत आते भीतर
सुर धनुओं के स्मित पंख खोल
नव स्वप्न उतरते जब भू पर
रंग रंग के छाया जलदों-सी
आभा पङ्खड़ियाँ पड़तीं झर
फिर मनो लहरियों पर तिरतीं
बिंबित सुर-अप्सरियां निःस्वर।'

(निर्माणकाल पृ० ६१)

शरद ऋतु के तीन चित्र पृ० ९९ पर 'शरदागम', पृ० १०१ पर 'शरद-चेतना' और पृ० १०५ पर 'शरदश्री' शीर्षक से हैं। पर सब मिलाकर 'शरदमेघ-सा मेरा मन हो गया अश्रु झर से निर्मल' कहकर एक रस शांति सब में दिखाई देती है। 'फूल-मांस' जैसे प्रयोगों से प्राकृतिक प्रतीक-विधान और भी भावात्मक हो उठा है। 'सवेरे उषा आज लजाई !'

ओसों के रेशमी जलद से अधर रेख मुस्काई !' में भी सपनों का समय माना गया है—

'यह स्वप्नों की बेला मोहन'

(प्रीति समर्पण पृ० १२६)

और वही पुरानी शब्दावलियाँ मानों पुनः पुनः गुंजरित होती हैं, जिनमें कोई नूतनता नहीं है :

'मर्मर करते तरुदल मर्मर
कलकल झरते निर्मल निर्झर!

कुहु कुहु उठती कोमल ध्वनि,
गुंजन रहरह भरते मधुकर!'

(वनश्री पृ० १४२)

'उत्तरा' की भूमिका में पृ० १५ पर पंत ने कहा है—'हम प्रवृत्तियों के पशुपन को मनुष्यत्व के सौंदर्य गौरव से मंडित (नहीं) कर सकेंगे।' पंत का यह विश्वास उनके मौलिक प्रकृतिवाद का ही नया रूप है। परन्तु उसमें एक प्रकार का सूक्ष्म पलायनवाद है। जैसे—

'तापों की छाया से कलुषित अन्तर को
उन्मुक्त प्रकृति का शोभा वक्ष दिखाता'

(गीत विहग पृ० १२)

यह तो समय ही निर्धारित करेगा कि पंत का यह नव-समन्वयात्मक नव-अध्यात्मवाद कहाँ तक प्रगतिकारक है जैसा कि वे स्वयम् उसे मानते हैं, परन्तु उनकी कला अवश्य क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है: पुनरुक्ति दोष के साथ-साथ भाव-शवलता भी बहुत आगई है।

समाहार

पंत के काव्य-बीज का यह वृक्ष रूप आज हमारे सामने है। जब हम आशा करते थे कि यह 'छायावाद' का यह छाया बहुल, विपुल प्रच्छाय कवि बरगद की भाँति अपनी शाखा-प्रशाखाओं का विस्तार बढ़ाता, तब उससे उलटे उसके पल्लवों में यह शुष्क पत्तों वाला पीत-स्वर्ण रंग हमें स्तम्भित करता है। बढ़ते वय के साथ 'द्रुत झरो जगत् के जीर्णपत्र' होकर कवि की कल्पना शिशिरा-सन्न है।

रवींद्र की प्रतिभा अन्त तक हरी से और हरी बनती गई। पर पंत के 'हरियाली' के बारे में दो गीतों की तुलना कीजिए। सात वर्षों के व्यवधान में यह अन्धकार बढ़ गया है। 'युगवाणी' १९४० हरीतिमा पृ० ५९।

'हँसते भू के अँग-अँग,
हरित हरित रंग
दूर्वा पुलकित भूतल
नवोल्लसित तृण तरुदल

हेमित करते चंचल
जीवन का जीवित रँग
हरित हरित रँग

श्यामल कोमल, शीतल
लोचनप्रिय प्राणोज्ज्वल

तन पोषक, मन संबल,
सजल सिंधु शोभित अँग
हरित हरित रंग!'

'स्वर्णकिरण' (१९४७) हरीतिमा—

पृष्ठ ७० (प्राण)

'ओ हरित भरित घन अन्धकार!
तृण तरुओं में हँस हँस श्यामल
दूर्वा से भू को कर कोमल,
ढँक लेते जीवन को प्रतिपल
तुम प्राणों का अंचल पसार!
सुख स्पर्शों से अणु अणु पुलकित
मादकता से उर उर स्पन्दित,
आते जब से श्वास अनिल नर्तित,
तुम रंग प्राण करते बिहार!'

यह अन्धकार मूलतः छायावादी दृष्टिकोण का है। अलमोड़े में हमारे मित्र यशपाल (लखनऊ के विप्लवी लेखक) मिले थे तब उन्होंने एक बड़ी अच्छी बात कही थी—छाया होती तो है शीतल-सुखद, परन्तु उसमें कुछ उगता नहीं, बढ़ता नहीं। 'ग्राम्या'-'युगवाणी' में पंत ने कुछ खुली धूप देखी थी, पर फिर वे अध्यात्म-गुहा में लौटकर खो गये। इसका मूल कारण यह है कि कवि को प्रकृति—मानवी या मानवेतर उसके समग्र रूप में ग्रहण करनी चाहिये।

नयों में पुराने आलोचक श्री रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है?' [चिंतामणि, प्रथम-भाग पृ० १४६] में कहा वही कविता और प्रकृति के विषय में सच है— (पृ० १४६)

"अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूपों में, कहीं रूखे बेडौल या कर्कश रूप में; कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में, कहीं उग्र, कराल या भयानक रूप में। सच्चे कवि का हृदय इसके इन रूपों में लीन होता है, क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुखभोग

नहीं, बल्कि चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून-प्रासाद सौरभ-संचार, मकरन्द-लोलुप, मधुर-गुंजार, कोकिल-कूजित निकुंज और शीतल सुखस्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं वे विषयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमबिंदु-मंडित मरकताभ-शाद्वल-जाल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गम्भीर गर्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिये कुछ पाते हैं वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं। प्रकृति के साधारण असाधारण सब प्रकार के रूपों में रमाने वाले वर्णन हमें वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों में मिलते हैं।.........असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौन्दर्य की भावना के साथ जिनमें मनुष्य जाति के उस समय के सहचरों की वंशपरम्परागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय या भावुक कहे जा सकते हैं।"

शुक्ल जी की इस मतावली के अनुसार पंत ने अपनी भावुकता को अपने केवल कोमल-ललित मसृण को सुन्दर मानने वाले सौन्दर्यवादी (एस्थीट) दृष्टि-कोण से सीमित कर लिया।

परिणामतः पंत को 'उत्तरा' की २७ पृष्ठ की भूमिका लिखनी पड़ी जो तर्काभास और दर्शनाभास से भरी हुई है, जिससे न भाव-मानस की तृप्ति होती है, न बौद्धिक जिज्ञासा की। उनकी अन्तिम प्रकाशित पुस्तक की अन्तिम पंक्ति की भाँति उनका विचार-लोक सचमुच मटमैला (मडी) हो गया है, वह 'रंगमंगल' नहीं, सब रंगों का मिश्रित संभ्रम है—

"जीवन सुन्दरता के रंग से पंकिल हो जन भू का आंगण !"

शान्तिप्रिय द्विवेदी

पन्त काव्य में नारी

नारी भोग-प्रधान सभ्यता की उपभोग्य नहीं। वह उत्सर्गमय प्रेम की प्रतीक है, वासना अथवा शारीरिक विकृतियों की विवशता नहीं। कवि के भाव-सत्य से अनुप्राणित होकर उसका सच्चा मानवी रूप प्रकट हो गया है, जिसकी विवेचना यहाँ सुन्दर ढंग से हुई है।

'वीणा' में कवि ने बालिका का व्यक्तित्व धारण किया था, 'पल्लव' में उसी का तारुण्य। कवि नारी के शैशव और यौवन से तदाकार है। अर्द्धनारीश्वर में स्वयं कवि कहीं पर नारी है, कहीं पर ईश्वर। जहाँ पर वह पुरुष है, प्रणयी है, वहाँ वह अपने ही अर्द्धांश की सुषमा पर मुग्ध है; अपनी ही छवि पर विस्मित। 'पल्लव' में कवि का यही द्वित्व व्यक्तित्व है। प्रणय में यही युग्म व्यक्तित्व दो तन एक प्राण (अद्वैत) हो जाता है—

स्नेहमयि! सुन्दरतामयि!
तुम्हारे रोम-रोम से नारि!
मुझे है स्नेह अपार;
तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि!
मुझे है स्वर्गागार।
तुम्हारे गुण हैं मेरे गान,
मृदुल-दुर्बलता, ध्यान;
तुम्हारी पावनता, अभिमान,
शक्ति, पूजन-सम्मान;
अकेली सुन्दरता कल्याणि!
सकल ऐश्वर्यों की सन्धान। ('पल्लव')

मूल में नारी एक सहृदय सृजन-शक्ति है। सामाजिक सीमाओं के अनुसार उसके अनेक अवस्थान हैं, वह 'देवि, मा, सहचरि, प्राण' है। इन विविध रूपों में मातृत्व का स्थान सर्वोपरि है, नारी के शेष सम्बन्धों में उसी मातृत्व का सुसंस्कृत सामाजिक संगठन है। पारिवारिक दृष्टि से मातृत्व पूज्य है, किन्तु फ्रायडियन दृष्टि से वह भी घृण्य जान पड़ता है। मनुष्य जड़-देह नहीं, सचेतन प्राणी है, उसकी अनुभूतियों में अन्तःसंज्ञा है। इसीलिए वैज्ञानिक सम्बन्धों को उसने हार्दिक सौष्ठव दे दिया है। काव्य की अप्सरा और विज्ञान की अपरा नारी समाज की वसुन्धरा है—माता, कन्या, बहन, पत्नी। 'वीणा' की बालिका की दुग्ध धवल आत्मा 'पल्लव' के यौवन में भी पावन है—

तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा-स्नान ;
तुम्हारी वाणी में कल्याणि !
त्रिवेणी की लहरों का गान !
उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुखमें मृदुल विकास;
चाँदनी का स्वभाव में भास
विचारों में बच्चों के सांस ! ('पल्लव')

छायावाद-युग में पन्त ने नारी को उसकी सांस्कृतिक महिमा-सुषमा में देखा था। छायावाद के बाद ज्यों-ज्यों सामाजिक वास्तविकता स्पष्ट होने लगी, त्यों-त्यों न केवल नारी का, बल्कि समस्त मानव-समुदाय का अशोभन मुख कवि के सम्मुख प्रत्यक्ष होने लगा। कवि ने शोषित-पीड़ित समूह की भाँति ही नारी के माध्यम से भी युगों का कदर्य इतिहास देखा है। ऐतिहासिक दृष्टि से आर्थिक स्थिति के अनुसार समाज की नैतिक सीमाएँ निर्धारित होती आई हैं। मध्य-युगों की ओर देखकर कवि कहता है—

नहीं रहे जीवनोपाय तब विकसित,
जीवन यापन कर न सके सब इच्छित।
नैतिक सीमाएँ बहुकर निर्धारित,
जीवन-इच्छा की जन ने मर्यादित। ('युगवाणी')

ऐसे परिमित वातावरण में नारी भी केवल एक सम्पत्तिमात्र थी—

क्षुधा-काम-वश गत युग ने
पशु बल से कर जन शासित
जीवन के उपकरण सदृश
नारी भी कर ली अधिकृत। ('युगवाणी')

आज उस नारी की सामाजिक स्थिति क्या है ?—

सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूत योनि वह : मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित;
अंग-अंग उसका नर के वासना-चिह्न से मुद्रित,
वह नरकी छाया, इंगित सञ्चालित, चिर-पदलुण्ठित !
वह समाज की नहीं इकाई, शून्य समान अनिश्चित
उसका जीवन-मान मान पर नर के है अवलम्बित।

मुक्त हृदय वह स्नेह प्रणय कर सकती नहीं प्रदर्शित,
दृष्टि, स्पर्श, शंका से वह हो जाती सहज कलंकित। ('ग्राम्या')

आज नारी ही 'काम-कारा की वन्दिनी' नहीं है, बल्कि काराध्यक्ष पुरुष भी अपने वातावरण से संस्कार-मुक्त नहीं है उसका स्वाभाविक मानवपन खो गया है—

धिक् रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन
अङ्कित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
मनमें लज्जित, जन से शंकित चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से, कायर !
क्या गुह्य क्षुद्र ही बना रहेगा, बुद्धिमान !
नर नारी का स्वाभाविक, स्वर्गिक आकर्षण ? ('ग्राम्या')

लज्जा का कारण भीतर है, बाहर नहीं। कवि उद्बोधित करता है—

खोलो वासना के वसन नारी-नर !

छायावाद-युग में कवि ने जिस प्रकृति से सौन्दर्य-चयन किया था, उसी से प्रणय की प्रशस्त प्रेरणा ग्रहण करने का संकेत देता है—

पशु-पक्षी से फिर, सीखो प्रणय-कला, मानव !
जो आदि जीव, जीवन संस्कारों से प्रेरित।

यह आत्म-विस्मृत मानव के प्रति कवि का व्यंग्य है : मनुष्य में मानवीय चेतना तो है ही नहीं, अपनी कुंठमना से पशु-पक्षियों से भी निकृष्ट हो गया है। यदि वह पशु-पक्षियों की नैसर्गिक चेतना पा जाय, तो एक स्वाभाविक क्रम से पुनः मानवीय मनोविकास की ओर अग्रसर हो सकता है।

मनुष्य देह की निम्न आकांक्षाओं में ही सीमित नहीं है, वह मनोयोगी है। 'ज्योत्स्ना' इन्दु से कहती है—"मनुष्य को पशु-पक्षियों की आँखों से देखकर उसका मूल्य नहीं आंका जा सकता, नाथ ! उसे पशु-पक्षियों से अपना आदर्श सीखना नहीं। अपनी ही आत्मा के प्रकाश में अपना महत्त्व समझकर उसे अपनी वृत्तियों का विकास करना है।"

कवि प्रेम के लिए दैहिक संस्कारों का मानसिक परिमार्जन चाहता है। यद्यपि 'क्षुधा-तृषा ही के समान युग्मेच्छा प्रकृति प्रवर्तित है, तथापि मनोयोग से 'कामेच्छा प्रेमेच्छा बनकर' मनुजोचित हो जाती है। 'स्वर्ण-किरण' में एक प्रेम-प्रश्न है, जिससे देह के साथ प्रणय के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है—

'क्या है प्रणय ?' एक दिन बोली—'उसका वास कहां है ?
इस समाज में ? देह-मोह का
देह-द्रोह का त्रास जहां है ?
देह नहीं है परिधि प्रणय की,
प्रणय दिव्य है, मुक्ति हृदय की,
यह अनहोनी रीति
देह वेदी हो प्राणों के परिणय की !

देह-मोह (इन्द्रियासक्ति) और देह-द्रोह (इन्द्रिय-दमन) शृंगार-काव्य और निर्गुण-काव्य की तरह अपने आतिशय्य पर हैं। यही आतिशय्य आधुनिक देहात्मवाद और अध्यात्मवाद में भी है। पन्त दोनों का स्वाभाविक परिमाण चाहते हैं। वे जीवन की सगुण (सन्तुलित) साधना की ओर हैं, प्रणय उनके लिए सौन्दर्य और स्नेह का सांस्कृतिक अनुष्ठान है।

पन्त ने प्रगतिवादियों की तरह समाज का ऐतिहासिक समीक्षण और निरीक्षण किया है; किन्तु उनका जीवन-दर्शन दृष्टिगत ही नहीं, अन्तर्गत (मननशील) भी है। यहीं पर वे प्रगतिवादियों से भिन्न हैं। उनकी ऐतिहासिक दृष्टि देखती है—'योनि-मात्र रह गई मानवी'; किन्तु सांस्कृतिक आत्मा (अन्तरात्मा) कहती है—'योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित।' इसी लिए 'पल्लव' की 'देवि, मा, सहचरि, प्राण' 'युग वाणी' में भी 'जननि, सखी, प्यारी' है। पन्त की प्रगतिशीलता में गार्हस्थिक गरिमा है, आर्योचित आभिजात्य है, सामाजिक साधना है। वे नारी के व्यक्तित्व (अन्तर्निर्माण) की स्थापना चाहते हैं। पन्त की अन्त-दृष्टि में मध्य-युग की संकीर्ण नैतिकता और आधुनिक युग की अति-भौतिकता दोनों एक ही-जैसी निष्प्राण हैं। मध्यम-युग की ओर देखकर वे कहते हैं—"उसका नैतिक मानदण्ड स्त्री की शरीर-यष्टि रहा है। उस सदाचार के एक अंचल-छोर को हमारी मध्य-युग की सती और हमारी बाल-विधवा अपनी छाती से चिपकाए हुई हैं और दूसरे छोर को उस युग की देन वेश्या।"—सामन्त-युगकी यह विरासत पूँजीवाद को मिली; क्योंकि दोनों का समाज अर्थ-प्रधान है। किसी भी आर्थिक युग में मूलभूत परिवर्तन नहीं हो सकता। प्रगतिवाद भी अर्थोन्मुख है, इसीलिए वह अपने आर्थिक साम्य से मनुष्य को बाह्य-मुक्ति (मांस-मुक्ति) ही दे रहा है। नवीन भौतिकवादियों से कवि कहता है—

हाड़-माँस का आज बनाओगे तुम मनुज-समाज ?
हाथ-पांव संगठित चलायेंगे जग-जीवन-काज ?
दया द्रवित हो गए देख दारिद्र्य असंख्य तनों का ?
अब दुहरा दारिद्र्य उन्हें दोगे निरुपाय मनों का ?

आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम !
मानव की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम ?

—('युगवाणी')

पन्त ने हाड़-मांस-चाम की उपेक्षा नहीं की है; किन्तु वह उसका साधन है, साध्य नहीं।

'युगवाणी' में कवि ने स्वस्थ नैतिक के लिए मनुष्य की 'मांसमुक्ति' को भी महत्त्व दिया है—

मांस-मुक्ति है भाव-मुक्ति,
औ' भाव-मुक्ति जीवन-उल्लास,
मांस-मुक्ति ही लोक-मुक्ति
भव जीवन का जो चरम विकास।

मांस-मुक्ति से कवि का अभिप्राय है ऐहिक आत्म-पीड़न से मनुष्य की मुक्ति। 'मांस' कायिक-केन्द्रीकरण है नैतिक तथा आर्थिक अत्याचारों का। सामाजिक कदाचारों में युगों से मनुष्य का अवरुद्ध पशुत्व (मांस-तत्त्व) ही क्षुब्ध हो उठा है—

युग-युग से रच शत-शत नैतिक बन्धन,
बाँध दिया मानव ने पीड़ित पशु तन।
विद्रोही हो उठा आज पशु दर्पित,
वह न रहेगा अब नवयुग में गर्हित।
नहीं सहेगा रे वह अनुचित ताड़न,
रीति-नीतियों का गत निर्मम शासन।
वह भी क्या मानव-जीवन का लाञ्छन ?
वह, मानव के देव-भाव का वाहन।

आज शरणार्थियों की समस्या के रूप में मध्यकालीन नैतिक और आर्थिक मान्यताएँ छिन्न-भिन्न हो रही हैं। वे मान्यताएँ पतिता के जीवित शरीर को शव की तरह घेर कर किस तरह मातम मना रही हैं और संक्रान्ति-युग का प्रबुद्ध युवक किस प्रकार शरीर के शिवत्व (अन्तश्चैतन्य प्रेम) को परितोष और प्रश्रय देता है, यह 'स्वर्णधूलि' की 'पतिता' कविता में देखा जा सकता है। मालती का पति केशव कहता है—

मन से होते मनुज कलंकित,
रज की देह सदा से कलुषित,

प्रेम पतित-पावन है, तुमको
रहने दूँगा मैं न कलंकित !

पन्त जी देह की सीमाओं में विभक्त नर-नारी को मनुष्यता में पूर्ण देखना चाहते हैं। 'स्वर्णधूलि' की 'परकीया'-शीर्षक कविता में उन्होंने कहा है कि यदि भीतर प्रेम नहीं है, तो विवाह से ही कोई पवित्र नहीं हो जाता। समाज में सती और पतिता की तरह स्वकीया और परकीया का वर्गीकरण भी कवि को कृत्रिम और स्वार्थजन्य जान पड़ता है।

बाह्य-दृष्टि से पन्त और प्रगतिवादियों में साम्य होते हुए भी अन्तर यह है कि प्रगतिवादी वस्तु (यथार्थ) से ऊपर नहीं उठ पाते, पन्त वस्तु के अन्तस (भाव) में भी प्रवेश करते हैं। उनके लिए पशु-तन 'मानव के देव-भाव का वाहन' है। यहीं पर वे सांस्कृतिक प्रेदाक भी हैं, पृथ्वी पर मानव के मनःस्वर्ग के सर्जक हैं। प्रगतिवादियों का वस्तु-सत्य पन्त की सीमा नहीं, सोपान है—

'भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान,
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान।
—('ग्राम्या' : 'बापू')

पन्त वस्तु-सत्य के सोपान पर जिस आत्मवाद का उत्थान देखना चाहते हैं, उसे पिछली नैतिक संकीर्णताओं से सजग करते हैं—

मानव के पशु के प्रति हो उदार नवसंस्कृति। ('युगवाणी')

पन्त मनुष्य की दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण हैं।

"···भारतीय नारी या तो सामन्त-युग की शोभा-शायिनी है, या आधुनिक युग की ऐश्वर्य-विलासिनी। उसमें अपने व्यक्तित्व का अभाव है। वह पुरुषों के ही भावों की भामिनी है।"

सामन्त-युग की नारी विभिन्न आर्थिक श्रेणियों में शरीर से ही सामाजिक मूल्य चुका रही है : कहीं तो वह अभिसारिका की तरह अपने ही 'चरण-चाप से शंकित' हो उठती है, कहीं रूपगर्विता की तरह अपनी ही शोभा के भार से कुम्हला जाती है, कहीं नव-परिणीता की तरह अपनी ही चितवन से लज्जित हो उठती है। जहाँ अति दैन्य है, वहाँ नारी धार्मिक बलि-पशु की तरह 'असहाय, मूक, पंगु, अपढ़, अन्ध-विश्वासों से निर्मित मांस की लोथ, निष्प्राण, पति-प्राण सती' है।

मध्य-युग की परम्परा में पली जो सम्पन्न नारी 'कुल-वधुओं सी सलज्ज सुकुमार स्वीट पी' की तरह केवल 'ऊँची डाली' (उच्च वर्ग) की शोभा-मात्र रह गई, उसका भी हार्दिक विकास नहीं हो सका, मानवता के प्रति वह 'अविरा-

आधुनिक शिक्षिता नारी की स्थिति भी मध्य-युग-जैसी ही है (विद्रोह के बाद बाइरन की कविता की तरह); केवल उसकी प्रसाधन-कला और चेष्टाएँ बदल गई हैं—

पशुओं से मृदु चर्म्म, पक्षियों से ले प्रिय रोमिल पर,
ऋतु-कुसुमों से सुरंग सुरुचिमय चित्र-वस्त्र ले सुन्दर,
सुभग रूज़, लिपस्टिक, बॉस्टिक, पौडरसे कर मुख रंजित,
अंगराग, क्यूटेक्स, अलक्तक से बन नख-शिख शोभित,
सागर तल से ले मुक्ताफल,, खानों से मणि उज्ज्वल,
रजत-स्वर्ण में अंकित तुम फिरती अप्सरि-सी चञ्चल।
शिक्षित तुम संस्कृत, युगके सत्याभासों में पोषित,
समकांक्षिणी नरों की तुम, निज द्वन्द्व-मूल्य पर गर्वित।
लहरी-सी तुम चपल लालसा-श्वास-वायुसे नर्तित,
तितली-सी तुम फूल-फूलपर मँडराती मधु क्षण हित!
मार्जारी तुम, नहीं प्रेम को करती आत्म समर्पण,
तुम्हें सुहाता रंग-प्रणय, धन-पद-मद, आत्म-प्रदर्शन!

—('ग्राम्या')

कवि का मन इस 'आधुनिका' को 'नारी' कहने में कुण्ठित हो जाता है—

तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी!

यह आधुनिका केवल बाह्य सौन्दर्य मण्डित है, 'नारी-उरकी विभूति से (हृदय-सत्य) से वंचित' है; इसमें 'प्रेम, दया, सहृदयता, शील, क्षमा, परदुःख-कातरता, तप, संयम, सहिष्णुता, त्याग, तत्परता' नहीं है। यह पूँजीवादी विकृतियों की अनुकृति है। पूँजीवाद के साथ-साथ इसका भी अस्तित्व लुप्तप्राय है। मध्य-युग में नारी का व्यक्तित्व सामाजिक अवरोधों के कारण अवगुण्ठित था, पूँजीवादी युग में आंग्ल-शिक्षिता नारी स्वतन्त्रता पाकर भी आत्मविकास नहीं कर सकी। वह पुरुष का स्थान पाने की प्रतिद्वन्द्विता करने लगी। उसमें भी मध्ययुगीन नारी की आत्महीनता है। इस अधोगति से ऊपर उठने के लिए कवि नारी को उत्साहित करता है—

तुममें सब गुण हैं; तोड़ो अपने भय-कल्पित बन्धन,
जड़ समाजके कर्दमसे उठकर सरोज-सी ऊपर
अपने अन्तरके विकास से जीवनके दल दो भर।

सत्य नहीं बाहर : नारी का सत्य तुम्हारे भीतर,
भीतर ही से करो नियन्त्रित जीवन को, छोड़ो डर ?

—('ग्राम्या')

छायावाद-युग में कवि ने सुन्दरता को 'सकल ऐश्वर्यों की सन्धान' कहा था, अब प्रगतिशील युग में वह कहता है—

जग-विकास-क्रममें सुन्दरता कबकी हुई पराजित,
तितली, पक्षी, पुष्प-वर्ग इसके प्रमाण हैं जीवित।
हृदय नहीं इस सुन्दरताके, भावोन्मेष न मनमें,
अंगोंका उल्लास न चिर रहता, कुम्हलाता क्षणमें !

छायावाद-युग में कवि ने जिस सुन्दरता को प्रधानता दी थी, उसमें भावोन्मेष भी था, इसीलिए नारी को उसने 'सुन्दरतामयि' के साथ 'स्नेहमयि' सम्बोधन दिया था। मध्य-युग (व्रजभाषायुग) में जो-कुछ सुन्दर, सत्य और शाश्वत (शिवत्व) था, उसी के समावेश से छायावाद का भाव-विकास हुआ था। अब कवि देखता है कि 'आज सत्य, शिव, सुन्दर केवल वर्गों में हैं सीमित।' कवि समस्त समाज में मानवता के 'नवल रुधिर' की तरह सत्य-शिव-सुन्दर का नूतन संचार-प्रसार चाहता है।

कला भी नारी की तरह उच्च-वंश की मर्यादा के स्वर्ण-पिंजर में सीमित है, जीवन्मृत है। कवि के लिए कला का सौन्दर्य गौण हो गया, नारी का आत्मोत्कर्ष—प्राणोत्कर्ष सर्वोपरि। कवि कहता है—

नारी की सुन्दरतापर मैं होता नहीं विमोहित,
शोभा का ऐश्वर्य मुझे करता अवश्य आनन्दित।
विशद स्त्रीत्व का ही मैं मन में करता हूँ नित पूजन,
जब आभादेही नारी आह्लाद प्रेम करे वर्षण
मधुर मानवी की महिमा से भू को करती पावन।

—('ग्राम्या')

इस तरह कवि नारी को रूपसी ही नहीं, प्रेयसी-श्रेयसी-भूयसी देखना चाहता है।

वैचारिक प्रयोग के लिए अपने कहानी-संग्रह ('पाँच कहानी') में पन्त ने वर्त्तमान समाज के बौद्धिक और आर्थिक स्तरों के अनुसार नारी के विभिन्न चरित्रों का चित्रण किया है। 'पाँच कहानी' की पात्रियाँ भी यद्यपि चारों ओर के वातावरण से घिरी हुई हैं, तथापि उन्हीं में से किसी-किसी में लेखक ने अपनी अभीष्ट मानवी का मुख दिखला दिया है। एक 'पार्वती' है, जो इस मर्त्यलोक में

अपनी सीधी-सादी प्रेमपूर्ण गृहस्थी में स्वर्ग का संचालन कर रही है। एक 'सरला' है—"श्वेत लिलियों की सुकुमार सृष्टि। कमे-से-कम देह्की सामग्री में जैसे आत्मा उतर आई हो।" एक 'कला' है, जिसका प्रकृति के आँगन में ही विकास हुआ है। वह लिखना-पढ़ना नहीं जानती, पर भले-बुरे को पहचानती है। गेंदा, गुलदावदी, बेला, जूही की तरह वह वस्तुओं का मूल्य उनके आकार-प्रकार, रूप-रंग से, मनुष्यों का मूल्य उनके हाव-भाव,चेष्टाओं द्वारा आँक लेती है।..."वह सहज सुन्दर परिस्थितियों की सहज सुन्दर सृष्टि है।"

'युगवाणी' का प्रगतिशील कवि 'पाँच कहानी' और 'ग्राम्या' में भी लोक-जीवन की ओर है। तथाकथित जनवादी जब कि राजनीतिक उपयोगिता की कृत्रिम दृष्टि से ही लोकभूमि में भ्रमण करते हैं, पन्त ने कवि की स्वाभाविक दृष्टि से लोक गीतों और लोक कथाओं की जन्मभूमि को देखा है। वहाँ नारी आत्म-निर्भर है, वह अपनी श्रम-साधना में प्रकृति की सदेह आत्मा है, उसका व्यक्तित्व मौलिक है। पन्त ने 'ग्राम-नारी' की भूरि-भूरि सराहना की है। यद्यपि 'चिर-दैन्य, अविद्या के तम से' वह पीड़ित है, तथापि, 'कर रही मानवी के अभाव की आज पूर्त्ति।'

'दैन्य' और 'अविद्या' युग की विश्वव्यापी आर्थिक और बौद्धिक समस्या है। यह केवल ग्राम-नारी की ही नहीं, बल्कि शिक्षित-अशिक्षित सम्पूर्ण नागरिक नर-नारी की भी समस्या है। पूँजीवादी युग की आर्थिक व्यवस्था की तरह ही बौद्धिक व्यवस्था भी अब विशृंखल हो रही है। शिक्षित-अशिक्षित सभी को हड़तालों का सहारा लेना पड़ रहा है। शिक्षितों की विद्या भी केवल अर्थकरी विद्या थी; वह सरस्वती की नहीं, लक्ष्मी की उपासना थी।

वर्ग-भेद और वर्ण-भेद की तरह अब नर-नारी का गुण-भेद भी मिटता जा रहा है। आधुनिक महिलाएँ स्त्री-पुरुष-समानाधिकार का आन्दोलन कर रही हैं। पर समाज की विभिन्न श्रेणियों द्वारा परिचालित ये नाना आन्दोलन किसी सद्भाव से प्रेरित नहीं जान पड़ते। केवल वैधानिक विवशता से मनुष्य के भीतर जो आदिम बर्बरता (प्रतिहिंसा और प्रतिस्पर्द्धा) दबी हुई थी, वही समय पाकर उभर रही है। मनुष्य भीतर से सुसंस्कृत नहीं हो सका था। वस्तुतः अर्थतन्त्र (रूप और रुपया) पर स्थापित सभ्यता का गगनचुम्बी प्रासाद अपनी ही खोखली नींव के कारण ढह रहा है। ये आन्दोलन उसके भग्न-चिह्न (मलवे) हैं। शिक्षा, संस्कृति, कला, राजनीति ये सब निराकार होने जा रहे हैं।

वर्तमान युग अभाव-क्रान्ति का युग है। प्रकृति, संस्कृति और कला का भावात्मक दृष्टिकोण अभी ओझल है। पन्तजी का कहना है—"मनुष्य की

दैहिक प्रवृत्तियों और सामाजिक परिस्थितियों के बीच में जितना विशद सामंजस्य स्थापित किया जा सकेगा, उसी के अनुरूप, जन-समाज की सांस्कृतिक चेतना का भी विकास हो सकेगा।"

पन्त की दृष्टि उज्ज्वल भविष्य की ओर है। 'युगवाणी' का कवि भविष्य के समाज में प्रत्यक्ष देखता है—

जीवनके उपकरण अखिल कर अधिकृत,
गत युग का पशु हुआ आज मनुजोचित।

डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान

कलाकार कवि पंत

प्रस्तुत लेख में डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने पन्त की प्रमुख प्रवृत्तियों की तह में घुसने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने विशाल अध्ययन एवं प्रौढ़ चिन्तन द्वारा कवि की प्राथमिक एवं परवर्ती भाव-धारा का आनुपातिक विश्लेषण किया है, जो पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

इस छायावादी कविता को जिन कवियों ने आगे बढ़ाया उनमें हमारे पंत का प्रमुख स्थान है। यों तो छायावाद का आरम्भ जयशंकरप्रसाद जी के 'झरना' काव्य-संग्रह से माना जाता है और वही इसके प्रवर्तक कहे जाते हैं, लेकिन पंतजी ने छायावाद की कला को सबसे अधिक निखारा है। इनके अतिरिक्त पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला और महादेवी वर्मा ने इस कविता में पौरुष और करुणा का समावेश किया है। इस प्रकार छायावाद की कविता के प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी ये चार उज्ज्वल नक्षत्र हैं, जिनके प्रकाश में अन्य कवियों ने अपनी काव्य-साधना के पथ को पार किया है। ये चार ही अपनी नवीन भावाभिव्यंजना, नवीन विचार-प्रणाली, नवीन भाषा-शैली और नवीन कला-कौशल के कारण शीर्ष स्थान पाने के अधिकारी हैं। इनका विरोध भी बहुत हुआ है लेकिन अध्ययन की गंभीरता और व्यक्तित्व की धीरता के बल पर वे बराबर आगे बढ़ते आए हैं। लांछनाओं और आक्षेपों के प्रहार सहने वाले इन कवियों ने भक्ति-काल की विशदता और व्यापकता से पहली बार साहित्य का शृंगार किया है और इनके साहित्य की समता केवल भक्ति काल के साहित्य से ही की जा सकती है। वृत्तियों में नहीं वरन् भाषा और भाव के सौंदर्य में; क्योंकि वृत्तियाँ उनकी भक्तिकालीन कवियों से नितान्त भिन्न हैं। पौर्वात्य और पाश्चात्य दोनों साहित्यों के मूल-तत्त्वों के विवेचन-विश्लेषण के बाद इन्होंने अपने काव्य का शृंगार किया है और खड़ी बोली को मृदुता और माधुर्य के साथ वह भावाभिव्यंजकता दी है, जो द्विवेदी काल में देखने को भी नहीं थी। सच तो यह है कि अपनी इसी विशेषता से वे साहित्य में प्रतिष्ठित हुए और इसके लिए वे सदैव प्रतिष्ठित रहेंगे।

जैसा कि हम कह चुके हैं, इन कवियों में पंत जी का प्रमुख स्थान है। उन्हें प्रकृति का सुकुमार कवि कहा जाता है। वास्तव में पंत जी को यह विशेषण देना संगत है क्योंकि वे उन्मुक्त प्रकृति के अंचल में जन्मे, पले और बड़े हुए हैं, जिससे उनकी अंतःप्रकृति भी कोमल और स्निग्ध हो गई है। उनका जन्म मई १९०० में कूर्मांचल के सुन्दरतम प्रदेश कौसानी में हुआ था, जो अल्मोड़ा ज़िला में है। बचपन में ही इन्हें माता की स्नेहमयी गोद से वंचित होना पड़ा। फल-स्वरूप व्यक्तित्व में संकोचशीलता आ गई। प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण ने इनका साथ दिया और बचपन से ही कवि चिंतनशील हो गया। स्कूली शिक्षा के प्रति विशेष

रुचि नहीं रही क्योंकि वह उनके चिंतन को गति नहीं दे सकी और महात्मा गाँधी के भाषण से प्रभावित होकर एफ० ए० से ही पढ़ना छोड़ दिया। लेकिन संस्कृत, बँगला और अंग्रेजी के गम्भीर अध्ययन ने दीवारों की बन्द शिक्षा का अभाव ही नहीं पूरा किया वरन् नवीन उद्भावनाओं के लिए भी मार्ग खोल दिया। बचपन से ही कवितायें लिखने लगे। विषय होते थे 'कागज-कुसुम', 'सिगरेट का धुआँ' जैसे बिलकुल निराले। १५ वर्ष की उम्र में 'हार' नामक उपन्यास भी लिखा था, जिस की हस्त-लिखित प्रति काशीनागरी प्रचारिणी के संग्रहालय में है। पहली कविता 'स्वप्न' थी जो 'सरस्वती' में छपी थी। सबसे पहले १९२५ में उनकी प्रसिद्ध कविता पुस्तक 'पल्लव' निकली जिसने नवयुग उपस्थित कर दिया। वैसे उससे पहले 'वीणा' और 'ग्रंथि' भी लिख चुके थे। 'वीणा' में आरम्भिक प्रकृति-प्रेम की कवितायें हैं और 'ग्रंथि' में एक प्रेम-कथा है। 'पल्लव' के बाद ही कवि के पिता का देहांत हो गया और जीवन में अभाव ही अभाव हो गया। इसी समय उनको बीमारी ने भी आ घेरा। प्रकृति-प्रेम से कवि में जीवन के सुख-दुःख की ओर देखने की प्रवृत्ति जगी। दुःख का अनुभव हुआ पर स्वस्थ होने से आशा भी जगी और उसके बाद 'गुंजन' का प्रकाशन हुआ जिसमें जीवन की—मानव-जीवन की—आशामयी विवेचना है। 'गुंजन' का प्रकाशन सन् ३२ में हुआ। मानव-जीवन की मंगलमयी कल्पना सन् ३३ में प्रकाशित 'ज्योत्स्ना' नाटक में हुई। लेकिन तभी कवि को अपनी वास्तविक दृष्टि मिल गई और कल्पना के स्वर्ग को छोड़ कर कवि धरती पर उतरा। 'युगांत' में, जो सन् ३४ में प्रकाशित हुआ, प्राचीनता के प्रति विरक्ति और नवीनता के प्रति आग्रह है। उसमें मानव का रूप और निखरा। उसके पश्चात् 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' का प्रकाशन हुआ। सन् ४०-४१ के बाद अब कवि मौन है और भारत के प्रसिद्ध नर्त्तक श्री उदयशंकर के साथ कला के उद्धार के लिए प्रयत्नशील है और भावी समाज-व्यवस्था की शीघ्र से शीघ्र स्थापना के लिए जनता के निकट आ रहा है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में जिस साम्यवादी विचार धारा को उसने अपनी कला का विषय बनाया है, उसी विचार धारा को अब मूर्तिमान देखने के लिए उसकी साधना जारी है।

कवि पन्त बोलते बहुत कम हैं। जन-भीरु भी हैं, कभी उन्हें भीड़-भाड़ से रुचि नहीं रही। व्यक्तित्व बड़ा सौम्य और आकर्षक है। घुँघराले रेशम के-से लम्बे लम्बे बाल, स्वच्छ और स्निग्ध आँखें, गम्भीर और सरल मुसकान, आकर्षण के साधन हैं। उनकी वेशभूषा अत्यन्त सादी होने पर भी उसमें सुरुचि का प्रमुख स्थान है। वीभत्सता से उन्हें चिढ़ है, सौंदर्य से प्रेम। स्वाभिमानी और आत्म-विश्वासी होने के साथ-साथ जीवन में संयम और निश्चय के स्वामी हैं।

अविवाहित रहने और जीविका के लिए चिन्ता न करने तथा कभी कहीं कभी कहीं अस्थिरता से घूमते रहने पर भी उनकी संयत जीवन-प्रणाली में अन्तर नहीं आया। यह विशेषता हिन्दी में अकेले कवि पन्त जी में ही है।

पंतजी की कविता का सबसे बड़ा तत्त्व है—उनका प्रकृति प्रेम। जन्मभूमि का पर्वतीय दृश्य और उस पर बचपन से मातृहीन होने से एकान्त-चिंतन ने पंत जी को प्रकृति का चिर-सहचर बना दिया है। हिंदी में ऐसा कोई कवि नहीं है जिसने इस प्रकार प्रकृति को अपनाकर जीवन का अंग बना कर रखा हो। 'वीणा' 'ग्रंथि', 'पल्लव' तक तो कवि ने अपने सौंदर्य-प्रेम और प्रकृति को मिला ही दिया है। 'गुञ्जन' में, जहाँ कि मानव-जीवन के प्रति दार्शनिक प्रकृति परिलक्षित है और 'युगान्त' से आगे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' तक, जिनमें वस्तु जगत् ने उनके भाव जगत् पर विजय पा ली है, सर्वत्र प्रकृति का अनोखा प्रभाव पड़ा है। प्रभाव ही नहीं कवि को कविता लिखने की प्रेरणा भी प्रकृति से ही मिली है। प्रकृति के रूपों के क्षण-क्षण बदलते रंगों—आकारों—ने ही कवि को सौंदर्य के प्रति प्रेम और जिज्ञासा की दृष्टि दी है। आरम्भ में तो कवि का प्रकृति के प्रति इतना आग्रह था कि उसे नारी-सौंदर्य भी उतना आकर्षक नहीं लगता था जितना कि प्रकृति सौंदर्य। 'वीणा' की एक कविता में कवि ने अपनी इस भावना का परिचय यों दिया है :—

'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?'

प्रकृति का यह आकर्षण कवि को आरम्भ से ही अपनी ओर खींचता रहा है। यही कारण है कि प्रकृति ने ही उनके काव्य-जगत् को वह रूप-रंग दिया है जो अन्य-कवियों से उन्हें अलग कर देता है। प्रकृति के स्वतन्त्र परंतु असंयत, नियन्त्रित, नियमित वातावरण ने ही उनके छन्दों और भाषा का परिष्कार करके उनकी कला का भी निर्माण किया है। प्रकृति के संबंध में कवि का स्वयं का कथन है—"कविता करने की प्रेरणा मुझे सब से पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घण्टों एकांत में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था; और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँख मूँदकर लेटता था, तो वह दृश्यपट, चुपचाप, मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज में दूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित नील-धूमिल कूर्मांचल की छायांकित पर्वत-श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों

पर रजत मुकुट हिमांचल को धारण किए हुए हैं और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाए हुए हैं किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव संमोहन के आश्चर्य में डुबाकर, कुछ काल के लिए भुला सकती हैं। और शायद यह पर्वत प्रांत के वातावरण का ही प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह, निश्चय रूप से अवस्थित है।"[1]

इससे स्पष्ट है कि कवि के भीतर प्रकृति-प्रेम ने ही एक 'अज्ञात आकर्षण' को जन्म दिया है और उस 'अज्ञात आकर्षण' ने अव्यक्त सौंदर्य को। इसलिए कवि का हृदय उस सौंदर्य के भीतर अपने को खो देने को उत्सुक रहता है। साथ ही प्रकृति ने ही 'विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य-भावना' भी दी है, जिसने उसे चिंतक बना दिया है। कवि के कथन से एक और बात स्पष्ट होती है—वह यह कि उसकी कविता में जो रहस्यवाद बताया जाता है, वह व्यर्थ का है। कवि के शब्दों में केवल आश्चर्य और कौतूहल की व्यंजना ही प्रकृति के माध्यम से हुई है। इसमें जीव, ब्रह्म या आत्मा परमात्मा की एकता का स्वप्न देखना या शंकर का अद्वैतवाद देखना अपनी आँखों को धोखा देना है।

तो कवि पंत ने प्रकृति से अपना नाता जोड़ लिया है और शैशव से ही उसे वह विभिन्न रूपों में दिखाई देती रही है। प्रकृति से निकट का परिचय होने के कारण कवि की दृष्टि में तीव्रता आ गई है। तीव्रता के कारण वह प्रकृति को शीघ्र पढ़ लेता है और उससे जो सन्देश मिलता है उसे भी ग्रहण कर लेता है। उसकी विशेषता यह है कि प्रकृति का चित्र ज्यों का त्यों खड़ा कर देता है—उसी प्रकार जिस प्रकार एक मित्र दूसरे मित्र के विषय में, उसकी आकृति, वेशभूषा, हाव-भाव के विषय में यथातथ्य जानकारी देता है। 'पर्वत प्रदेश' में पावस ऋतु का सौंदर्य अंकित करते हुए कवि उसके क्षण-क्षण बदलते रूप का स्पष्ट चित्र अंकित कर देता है। पहाड़ों के बीच घिरे हुए पानी में फूलों से भरे पहाड़ों की परछाईं पड़ रही है। साधारण-सी बात है। लेकिन कवि ने इस साधारण सी बात को एक रूपक में परिवर्तित कर दिया है, और वह पहाड़ सजीव हो गया है, जिसके ऊपर खिले फूल उसके खुले हुए नेत्र हो गए हैं और नीचे भरे हुए पानी का ताल दर्पण हो गया है, जिसमें वह बार-बार अपना मुँह देख रहा है।[2] उस दृश्य को यों प्रकट करने में उसका स्वरूप आँखों के आगे

---

१. "आधुनिक कवि" भाग २ (भूमिका)

२—पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश,
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश!

खड़ा हो जाता है। चित्रों की ऐसी अशेष राशि कवि के काव्य में बिखरी पड़ी है।

पंत जी की प्रकृति के साथ जो यह मैत्री है, उसका कारण यह है कि वे अपनी भावनाओं को उसके माध्यम से भली भाँति व्यक्त कर सकते हैं। उनसे उनके चित्रों में सजीवता और सौंदर्य आ जाता है और हम उनकी भावनाओं को समझ सकते हैं। कवि चाहता है कि प्रेयसी के 'ध्यान' करने और उसकी 'सुधि' आने की वेला में उसकी जो मानसिक दशा होती है, उसका चित्रण करे। उसके पास उस मानसिक दशा को व्यक्त करने के लिए प्रकृति के अतिरिक्त और कोई माध्यम नहीं है। वह 'ध्यान' के लिए तड़ित—बिजली—को तड़प लेता है। ध्यान और बिजली के सहसा आने में समानता है। बिजली की कड़क और गर्जना में जुगनू जैसे अधीर हो जाते हैं वैसे ही प्रेयसी का ध्यान आते ही कवि के प्राण भी बेचैन हो उठे हैं। प्राण और जुगनू की यहाँ समानता कर दी। यों एक मानसिक भावना को व्यक्त कर दिया। अब 'सुधि' को लीजिए। 'सुधि' बातों की आती है। बातों में सुखद स्वर की मिठास होती है। फिर 'सुधि' आने पर वे बातें ही दुहर-सी जाती हैं—उसी प्रकार जैसे शुक एक ही बात को सुखकर स्वर में दुहराता है। 'सुधि' और 'शुक' की यहाँ समानता है। इससे दूसरी समानता है। इससे दूसरी मानसिक भावना मूर्त हो जाती है।[1]

कभी-कभी कवि ने यह भी किया है कि अपनी भावनाओं को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करने के बदले प्रकृति को ही भावनाओं के माध्यम से व्यक्त किया है—

'गिरिवर के उर से उठ-उठ कर,
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल !

१—तड़ित-सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर
मुझे करता

हैं झाँक रहा नीरव नभ पर
अनिमेष, अटल, कुछ चिंता पर !'

यहाँ वृक्षों की ऊँचाई को उच्चाकांक्षाओं के माध्यम से व्यक्त किया है और उनकी शांत दशा को अनिमेष, अटल चिंतापर व्यक्ति से । यों व्यक्ति की भावनाएँ ही प्रकृति के चित्रण का माध्यम बन गई हैं ।

इसके अतिरिक्त कवि ने प्रकृति को नारी रूप में ही देखा है, [१] कुछ तो अपनी सुकुमारता के कारण और कुछ प्रकृति के सौंदर्य के कारण । हो सकता है कि दार्शनिक भावना से 'प्रकृति और पुरुष' का रूपक भी कवि के सामने हो । कभी-कभी प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए उसने अपने को नारी रूप में अंकित कर दिया है ।

यदा-कदा पंत जी प्रकृति के ऐसे चित्र भी देते हैं, जिनमें न आलंकारिता होती है, न भावनाओं और प्रकृति का आदान-प्रदान, केवल तटस्थ दर्शक की भाँति कवि निरीक्षण द्वारा प्रकृति का चित्रण करता है और वातावरण की सृष्टि कर देता है:—

बाँसों का झुरमुट
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी-टी टुट्-टुट् !

जुगनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान !
पूर्व सुधि सहसा जब सुकुमारि !
सरल शुक सी सुखकर सुर में
तुम्हारी भोली बातें
कभी दुहराती हैं उर में,
अगन से मेरे पुलकित प्राण
सहस्रों सरस स्वरों में कूक,
तुम्हारा करते हैं आह्वान,
गिरा रहती है श्रुति सी मूक !

१—प्रथम रश्मि का आना, रंगिणी !
तूने कैसे पहचाना ?

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग पग
भारी है जीवन ! भारी पग !!

लेकिन एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पंत जी ने प्रकृति का कोमल और स्निग्ध स्वरूप ही चित्रित किया है। 'पल्लव' की 'परिवर्तन' कविता को छोड़कर सर्वत्र वे प्रकृति के मोहक रूप की ओर ही आकर्षित रहे हैं। 'परिवर्तन' में भी दर्शनिकता के कारण वह रूप स्वतः आ गया है, अन्यथा 'प्रथम रश्मि' 'बादल,' 'नौका-विहार,' 'एक तारा,' 'दो मित्र, 'आँसू' 'अप्सरा' 'चाँदनी' आदि में कवि ने प्रकृति के सरस और स्निग्ध रूप को ही चित्रित किया है। श्री नगेन्द्र के शब्दों में 'प्रकृति के विराट रंग-मंच पर इनकी सौंदर्यमयी दृष्टि पल्लव, वीची-जाल, मधुप-कुमारी, किरण, चाँदनी, अप्सरा, संध्या, ज्योत्स्ना,, छाया, इन्दु, सुरभि, तारिकाएँ आदि पात्रों का ही अभिनय [illegible] है। दिगन्तव्यापी उल्कापात, ववंडर, भूकम्प और वाड़व-मंथन आदि में इनकी वृत्ति नहीं रमती।' लेकिन प्रकृति के इस सुन्दर पक्ष को चित्रित करने में वे सबसे आगे हैं।

प्राकृतिक सौंदर्य कवि की आत्मा की वस्तु बन गया है इसलिए वह अपने हृदय के उस आवेश को व्यक्त करना चाहता है, जिसे प्रेम कहते हैं और मिलन और विरह जिसके दो छोर हैं, तब भी वह प्रकृति को भूलता नहीं। साथ ही, नारी सौंदर्य के चित्रण के लिए भी वह प्रकृति की सहायता भी ले लेता है। प्रकृति के साथ साथ पंत जी नारी के सौंदर्य का भी भव्य—वासना लिप्त नहीं—चित्रण करते हैं। वे नारी-सौन्दर्य पर भी उतने ही मुग्ध हैं, जितने प्रकृति सौंदर्य पर।[1] वस्तुतः बात तो यह है कि वे सौंदर्य को व्यापक रूप में लेते हैं। सर्वत्र सौंदर्य की अखण्ड सत्ता देखने के कारण उनको सौंदर्य के चित्रण में

कहाँ, कहाँ हे बाल-विहङ्गिनि !
पाया तूने यह गाना ?
सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में
पंखों के सुख में छिपकर।
झूम रहे थे, घूम द्वार पर
प्रहरी से जुगनू नाना।

१—कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर मुझको फिर उस पार।

स्वाभाविक रुचि रहती है और वे उसे व्यक्त भी बड़ी चातुरी से कर देते हैं, फिर चाहे वह नारी-सौंदर्य हो या प्रकृति-सौंदर्य। 'उच्छ्वास' में वे एक बालिका का चित्रण करते हैं। इस चित्रण में आपको कहीं राग-तत्व का वासना पंकिलरूप नहीं मिलेगा। पूरी कविता में उसके स्वच्छ, पवित्र, उज्ज्वल रूप के ही दर्शन होंगे—

सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषण,
कान से मिले अजान नयन
सहज था सजा सजीला तन।
+ + + +
रँगीले, गीले फूलों से
अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित
इसी में था असीम अवसित॥

कवि की कलम तूलिका है, इधर-उधर रेखायें खींच कर ही काम चला लेती है। उसे अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता और चित्र खड़ा हो जाता है। मिलन के आनन्द का वर्णन जहाँ अन्य कवि कई पृष्ठ लिखकर भी नहीं कर सकते वहाँ उन्होंने केवल—"तुम्हारे छूने में था प्राण संग में पावन गंगा-स्नान। तुम्हारी वाणी में कल्याणि त्रिवेणी की लहरों का गान।" से ही कर दिया है। मिलन हो या विरह, कवि की अनुभूति इतनी तीखी है कि उसकी नोक से कोई भाव या विचार विद्ध होने से नहीं बचता।[1] सौंदर्य की एक झलक ही उसकी कल्पना को सौ-सौ नेत्र दे जाती है। उसे अनुभूति और कल्पना का वरदान प्राप्त है। वह

१—कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता सिसकता गान है
शून्य आहों में सुरीले छंद हैं
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है?

हुआ था जब सन्ध्यालोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर
विहग रव बनकर मैं चितचोर
गा रहा था गुण, किंतु कठोर
रहे तुम नहीं वहाँ भी शोक।

भावनाओं को ऐसा रूप दे देता है कि उसे पढ़कर हृदय में उनकी कसक ज्यों की त्यों उतर आती है। इसका कारण यह है कि कवि की कल्पना वेदनामय है, उसके आँसुओं में गान झिलमिलाता है और शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं। ऐसा समन्वय होने के कारण ही मधुर लय का कहीं अन्त नहीं होता। और तभी वह पुकार उठता है—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान!

पंत जी ने 'वीणा', 'ग्रंथि' और 'पल्लव' तक इस प्रकार की सौंदर्य-प्रेम-मयी कविताएँ लिखी हैं, जिनमें उनकी कल्पना को बहुत दूर तक दौड़ लगाने का अवकाश मिला है। 'वीणा' में इनके किशोर कवि की बालसुलभ भावुकता है, जिसमें कवि का प्रकृति की महत्ता पर पूर्ण विश्वास है और उसके व्यापारों में पूर्णता का आभास मिलता है। 'वीणा' की कविताओं में 'गीतांजलि' की छाया भी स्पष्ट है। परंतु 'ग्रंथि' में कवि संस्कृत काव्य की आलंकारिक प्रणाली से प्रभावित हुआ जान पड़ता है। असफल प्रेम की कथा में कवि ने हृदय की समस्त सरसता उँडेल दी है। नायक के ताल में डूबने और होश में आने पर वह अपने को एक बालिका के घुटनों पर सर रखे हुए पाता है। वहीं परस्पर प्रेम का अंकुर जमता है। वह अंकुर समाज के भय से पल्लवित नहीं होने पाता। इतनी सी कथा को कवि ने संस्कृत की अलंकृत शैली में—नई अभिव्यंजना के साथ लिखा है। कवि-हृदय की आशा, निराशा और सौन्दर्य के विभिन्न चित्रों से यह कृति भरी है। स्थान-स्थान पर प्रेम-संबंधी विविध मानसिक व्यापारों की सरल व्यंजना भी है, जो कवि की भाषा के माधुर्य से तथा रंग लेकर आई है। उदाहरणार्थ प्रेम की यह व्यंजना 'पानी पीकर घर पूछना' वाले मुहावरे से मिलकर बिल्कुल निखर गई है।

यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की
जो अपांगों से अधिक है देखता;
दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा।

'पल्लव' में कवि की प्रतिभा का प्रौढ़ विकास है। 'वीणा' और 'ग्रंथि' में किशोरावस्था के गीत हैं और 'पल्लव' में यौवनावस्था के। अब कवि की अनुभूति और भावोन्माद में स्वाभाविक वेग आ गया है और कवि अब कल्पना को खुलकर खेलने देता है। अंग्रेजी के सीधे प्रभाव में आने पर कवि की व्यंजना

बड़ी निराली हो गई। शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ और टेनीसन का कवि ने गंभीर अध्ययन किया है, इसलिए उनकी छाया भी यत्र-तत्र स्पष्ट है। वे शेली से अधिक प्रभावित हुए हैं। उनकी प्रसिद्ध कल्पना-पूर्ण कविता 'बादल' शेली की 'क्लाउड' कविता से प्रेरित है, लेकिन कवि ने शेली का अनुवाद करके नहीं रख दिया। उसमें बादल का मनोहर रूप ही लिया है, जब कि शेली ने भयंकर रूप भी चित्रित किया है। उनकी कला पर टेनीसन का अधिक प्रभाव है जो अपनी ध्वन्यात्मकता और भावानुकूल शब्द-चयन के लिए प्रसिद्ध था। 'पल्लव' में अंग्रेज़ी के इन कवियों की लाक्षणिकता—सांकेतिकता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस प्रकार 'पल्लव' में उनकी प्रकृति और सौंदर्य की भावना का चरम विकास है, जो कला के आवरण में और भी खिल उठा है।

लेकिन कवि को किशोर-प्रेम के ही गीत पसंद है। यौवन में आते-आते तो उसका हृदय विरह के तीव्र अनुभव से व्यथित हो गया है और उसने संयम के द्वारा अपने जीवन की दिशा ही मोड़ दी है। एक बार कवि ने स्वयं लिखा था—"मैं किशोर प्रेम का ही प्रायः चित्रण करता हूँ।" 'लाई हूं फूलों का हास, लोगी मोल, लोगी मोल ?' में क्या 'लाया' या 'लोगे' नहीं लिखा जा सकता था ? 'वीणा' में ऐसी कई कविताएँ हैं। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि प्रेम का प्रारंभिक उद्रेक पवित्र होने के कारण किशोर-किशोरियों में सजातीय प्रेम ही—लड़की का लड़की के प्रति, लड़के या लड़के के प्रति—पहले उत्पन्न होता है।

प्रकृति और सौन्दर्य का उपासक यह कवि आरंभ से ही चिंतनशील रहा है। यह उसके कवित्व और वक्तव्य से ध्वनित होता है। जब वह अभी किशोर था, तभी उसने विवेकानंद और रामतीर्थ का दर्शन हृदयंगम किया। विवेकानंद का दर्शन आध्यात्मिकता के माध्यम से राष्ट्र की सेवा करना है और रामतीर्थ का दर्शन जगत् के माध्यम से आध्यात्मिकता को प्राप्त करना है। कवि के ऊपर इन दोनों दर्शनों का प्रभाव पड़ा। 'पल्लव' की रचना 'परिवर्तन' में कवि का यह चिंतन दर्शनीय है। इस कविता को श्री निराला जी ने पूर्ण कविता कहा है। उसमें सृष्टि के परिवर्तन-शील रूप की व्यंजना कवि ने बड़ी कुशलता से की है। यों तो उसका विचारक आरंभ से ही जागरूक है और 'वीणा और 'ग्रंथि' काल की कविताओं में उसके ऐसे चिंतन कण बिखरे मिल जायँगे। लेकिन 'परिवर्तन' में उसके विचारक का श्रेष्ठतम रूप है। 'पल्लव' तक आते-आते तो उसका विचारक प्राधान्य पा लेता है और 'परिवर्तन' में वह संसार की अशांति से विकल होकर पुकार उठता है—

एक सौ वर्ष नगर उपवन, एक सौ वर्ष विजन वन।
यही तो है असार संसार, सृजन, सिंचन, संहार॥

इस नश्वरता-अनश्वरता के ज्ञान के साथ कवि को जग की नित्यता अनित्यता का आभास होता है, उसे जग के रहस्य को सुलझाने का संकेत-सा मिलता है और यहाँ उसे सर्वत्र एक ही शक्ति के दर्शन होते हैं। प्रकृति के प्रति जो कवि कभी जिज्ञासु था—भावनाशील था—वही अब उसके भीतर के रहस्य को पाने के लिए विकल हो उठता है। एक दिन उसके जीवन की जो डाल 'प्रेम विहग का वास' बन गई थी वह संसार की क्षण-भंगुरता के पतझड़ का अनुभव करती है और कवि तत्त्व-चिंतन से इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि एक ही असीम आनंद सर्वत्र व्याप्त है और विश्व में उसके ही विविध रूप प्रकट होते हैं। जलधि की हरीतिमा, अंबर की नीलिमा, हृदय का प्रेमोच्छ्वास, काव्य का रस, फूलों की सुगंध, तारकों की झलमलाहट, लहरों का लास, सब में वही एक शक्ति है।[1] तभी वह सुख-दुःख में समझौता कर लेता है और बिना दुःख के सुख उसे निस्सार प्रतीत होता है और बिना आँसू के जीवन भार-स्वरूप। यहीं संसार की दीनता का अनुभव करके वह दया, क्षमा और प्यार की आवश्यकता का अनुभव करता है।[2] यह अनुभव तो उसे होना ही है परंतु प्रकृति की वह व्याप्त शक्ति उसे अपनी ओर भी खींचती है। कवि को अनुभव होता है कि स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब चकित शिशु के समान संसार की आँखों पर अजान स्वप्न विचरते हैं तब उसे नक्षत्रों से कोई मौन निमंत्रण देता जान पड़ता है। यों 'पल्लव' में कवि की एक शक्ति के प्रति जिज्ञासा और संसार की नित्यता अनित्यता का चित्रण भी प्रकृति-सौंदर्य के साथ-साथ मिलता है और कहना न होगा कि वह स्वर उसके लिए नया प्रकाश देता है—वह प्रकाश है आशा का। यहाँ से कवि परिवर्तन की अनिवार्यता स्वीकार करके आशावादी बन बैठता है। यही आशावाद 'गुंजन' के

१—एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शांत अम्बर में नील विकास।

वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास,
काव्य में रस, कुसुमों में बास,
अचल तारक, पलकों में हास,
लोल लहरों में लास।

२—बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार,
दीन दुर्बल है रे संसार।
इसी से दया क्षमा और प्यार।

दार्शनिक चिंतन में भी है। 'गुंजन' में कवि की भावना और विचार दोनों में एक प्रकार से समझौता सा हो जाता है, लेकिन कवि में विचारक तत्वों की अधिकता होने लगती है। वह अपने गीतों को 'जग के उर्वर आँगन' में बरसाने के लिए प्रेरणा देता है, मानों अपने से बाहर मानवमात्र की ओर वह बढ़ता है। वहीं उसे सुख-दुःख की सापेक्ष अनुभूति होती है। और कवि की सुख-दुःख की यह सापेक्ष अनुभूति ही उसके जीवन में एक नवीन आशा का संचार कर देती है और वह सुख-दुःख के महत्त्व पर कह उठता है—

सुख, दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।
जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव-जग में बँट जावें
सुख दुख से और दुख सुख से।

कवि को यह दृष्टि मिलते ही यह अपने मन को—विधुर मन को—विश्व-वेदना में प्रतिपल गलने के लिए प्रेरित करता है। "तप रे मधुर मधुर मन" के स्वर में वह नई दिशा की ओर उन्मुख होता है। और कभी जो इस जगत् की सीमा पर बैठा हुआ दूर से ही उस रहस्य को पा लेना चाहता था वही अब सुख-दुःख से ऊपर उठकर 'जीवन के अंतस्तल में नित बूड़ बूड़ रे भाविक' की रट लगाता है और जीवन को निकट से देखने के लिए आतुर होता है। 'गुंजन' में पंत जी का आशावादी दर्शन खूब प्रस्फुटित हुआ है। उसमें कहीं-कहीं चिंतन की अपेक्षा भावुकता का भी प्राधान्य हो गया है और जहाँ ऐसा हुआ है, वहाँ उनकी रहस्य-भावना का सौंदर्य सहसा वृद्धि को प्राप्त हो गया है। प्रकृति भी 'गुंजन' में नए रूप में है और उसके चित्र बड़े परिपूर्ण हैं। 'नौका विहार' जैसी कविताएँ विश्व-साहित्य की श्रीवृद्धि कर सकती हैं। गंगा की धारा में नौका-विहार का चित्र कवि ने ऐसा खींचा है कि प्रत्येक छंद का चित्र बन सकता है। यह कविता कवि की प्रकृति-संबंधिनी कविताओं की शिरमौर है।

लेकिन 'गुंजन' का वह कवि जो 'वीणा', 'ग्रंथि' और 'पल्लव' की प्रकृति और सौंदर्य-भावना को चिपकाए हुए, 'चाँदनी' और 'नौकाविहार' के गीत गाता था और जगत् की 'नश्वरता-अनश्वरता' पर अपना मत देता था और कहता था कि 'चिर जन्म-मरण के आर पार शाश्वत जीवन नौका-विहार' ही

रहा है, वही अब 'युगान्त' में अपने पिछले जीवन की—पिछले युग की—समाप्ति और नवयुग का अभिनन्दन करता है। वह मानवात्मा के सुख-दुःख से बाहर जगत् की चिंता में रत हो जाता है। कल्पना—कलात्मक विलास—छोड़कर सीधा प्रकृति को—वस्तु जगत् को—अपना विषय बनाता है। उसे वह स्वप्न व्यर्थ मालूम होता है, जिसमें वह स्वयं अब तक डूबा था। वह कल्पना का साम्राज्य उसे अब स्वीकार नहीं है, जिसमें उसकी आत्मा विहार करती रही है। वह युग ही उसे मृत विहंग जान पड़ता है और वह जगत् की रूढ़ियों—प्राचीनताओं की जीर्ण पदावली को झर जाने के लिए कहता है—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र ?
हे स्रस्त-ध्वस्त! हे शुष्क शीर्ण !
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीत-राग, जड़ पुराचीन !
निष्प्राण विगत युग! मृत विहंग !
जग-नीड़ शब्द औ' श्वास हीन,
च्युत, अस्त व्यस्त पंखों से तुम
झर-झर अनन्त में हो विलीन !

गत युग की घृणास्पद विकृतियों में कवि को कोई सार नहीं दिखाई देता और वह अब इस आशा से कि जगती का भाग्योदय होगा, अपने गीत-खग से कहता है कि तुम जगती के जनपथ-कानन में अनादि गान गाओ और चिर शून्य शिशिर-पीड़ित जग में अपने अमर स्वरों के प्राण-स्पन्दन भरो क्योंकि जो स्वप्नों के तम में सोये हैं वे निश्चय ही जागेंगे और जीवन में निशीथ (निराशा) देखने वाले प्रभात (आशा) देखेंगे। कवि को 'युगान्त' में लोक की मंगलाशा की ही विशेष चिंता है, अपने सुख-दुःख की नहीं जैसा कि 'गुंजन' तक रहा था। वह दार्शनिकता भी अब कवि को आकर्षित नहीं करती। अब तो वह 'नवल मानव-कानन के पल्लवित होने' की आशा से 'गा कोकिल बरसा पावक कण !' का स्वर संधान करता है क्योंकि उसका विश्वास है कि जिन गत युग की संस्कृतियों ने देश और जाति की दीवारें खड़ी करके मानवता को बंदी बना रखा है वे मानवता का विकास पाकर सब डूब जायँगी और मानवात्मा का प्रकाश पाकर यह यंत्र युग हँसने लगेगा।[1] आज तो कला भी कवि को आकर्षित नहीं करती। 'ताजमहल' पर न जाने कितने कवियों ने लिखा होगा और प्रशंसा में

१—जगती के जन-पथ-कानन में
तुम गाओ विहग ! अनादि गान,

पृष्ठ के पृष्ठ रँगे होंगे। विश्वकवि रवीन्द्र ने 'काल के कपोल पर एक अश्रुबिंदु' कह कर ताज के अमरत्व का करुण सन्देश दिया है, लेकिन हमारा कवि—'युगान्त' का कवि—उसकी प्रशंसा अथवा उसके निर्माण को ही मृत्यु का 'अपार्थिव पूजन' कहता है—

हाय मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन !
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !

\+ + +

मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति !

कवि का दृष्टिकोण 'युगान्त' में पूर्णरूप से बदल जाता है और वह युग बदलने के लिए चिंतन द्वारा अपने भीतर ही एक नई सृष्टि रचना प्रतीत होता है—"मैं सृष्टि रच रहा नवल, भावी मानव के हित भीतर।" साथ ही मानव-केसरी को गर्जन करने के लिए और गत युग के शव को नष्ट करने के लिए भी कहता है।[१] इस प्रकार 'युगान्त' कवि के काव्य-जीवन का मध्य-विन्दु है, जिसके पहले उसने प्रकृति, सौंदर्य, प्रेम, उल्लास, आत्मा, जगत्, आदि की पहेली को भोले शिशु के रूप में सुलझाया है और जिसके पीछे उसने जगत् के यथार्थ संघर्ष की ओर अनुभूति को वाणी दी है। आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है " 'पल्लव' में कवि अपने व्यक्तित्व के घेरे में बँधा हुआ 'गुंजन' में

चिर शून्य शिशिर-पीड़ित जग में
निज अमर स्वरों से भरो प्राण !
जो सोए स्वप्नों के तम में
वे जागेंगे—यह सत्य बात
जो देख चुके जीवन-निशीथ
वे देखेंगे जीवन-प्रभात !

१—मानव जग में गिरी-कारा-सी
गतयुग की संस्कृतियाँ दुर्धर
बन्दी की हैं, मानवता को
रच देश-जाति की भित्ति अमर।
ये डूबेंगी—सब डूबेंगी !
पा नव मानवता का विकास
हँस देगा स्वर्णिम वज्र लौह,
छू मानव-आत्मा का प्रकाश।

कभी-कभी उसके बाहर और 'युगांत' में लोक के बीच दृष्टि फैला कर आसन जमाता हुआ दिखाई देता है। 'गुंजन' तक वह जगत् से अपने लिए सौंदर्य और आनन्द का चयन करता हुआ प्रतीत होता है, 'युगान्त' में आकर वह सौंदर्य और आनन्द का जगत् में पूर्ण प्रसार देखना चाहता है। कवि की सौंदर्य-भावना अब व्यापक होकर मंगल-भावना के रूप में परिणत हुई है।"

इस प्रकार 'युगांत' में कवि मानव का यशोगान गाने बैठ जाता और नए जग के निर्माण के लिए तैयारी करता है। एक बात विशेष रूप से दर्शनीय है कि अब कवि प्रेम को बिलकुल ही छोड़ चुका है। यों तो 'गुञ्जन' में ही वह मानवता के प्रति आकृष्ट हो चुका था परन्तु फिर भी उसमें 'भावी पत्नी के प्रति' आदि कवितायें कवि के भीतर छिपी प्रेम की कल्पना का स्वरूप प्रदर्शित कर जाती हैं।[1] यही नहीं 'गुंजन' की 'मधुवन' कविता में उसे प्रेयसी की मदिर छवि ही समस्त प्रकृति में बिखरी दिखाई देती थी।[2] परंतु 'युगांत' में जैसे कवि ने उस ओर देखा ही नहीं। यों भी कह सकते हैं कि कवि ने नारी-सौंदर्य से विवश हो अपने को अलग कर लिया। इसका कारण यह है कि महान् कवि के नाते उसने अपने मानसिक विलास को व्यक्त करना उचित नहीं समझा और जगत् के सुख-दुःख में अपने व्यक्तित्व को लय करने का निश्चय कर लिया। हाँ जिस प्रकृति से उसने बोलना—वार्तालाप करना—सीखा था उसे वह 'युगांत' में भी नहीं छोड़ सका है। 'युगांत' ही क्या आगे की कृतियों में जहाँ वह शुद्ध विवेचक के रूप में आया है वहाँ भी वह प्रकृति से संपर्क-विहीन नहीं हो पाया है। हमारा

१—मृदूर्मिल-सरसी में सुकुमार
अधोमुख, अरुण-सरोज समान,
मुग्ध-कवि के उर के छू तार
प्रणय का-सा नव-गान
तुम्हारे शैशव में, सोभार,
पा रहा होगा यौवन प्राण;
स्वप्न-सा विस्मय-सा अम्लान
प्रिये, प्राणों की प्राण!

२—आज उन्मद मधु-प्रात
गगन के इन्दीवर से नील
झर रही स्वर्ण-मरन्द समान
तुम्हारे शयन-शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस प्राण!

तात्पर्य उसकी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' से है। इनमें पंत जी ने प्रकृति के चित्रण दिए हैं और अत्यंत उत्कृष्ट दिए हैं; परंतु उनमें वह मीनाकारी नहीं, जो 'बादल' और 'चांदनी' में है। वह तो अब प्रकृति को उसके यथातथ्य रूप में ही देखता है। 'युगांत' तक कवि के विकास का रूप है—प्रकृति-सौंदर्य से नारी-सौंदर्य, नारी सौंदर्य से जीवन-दर्शन और जीवन दर्शन से मानव-जगत् के यथार्थ रूप के प्रति प्रेम। मानो किशोरावस्था से यौवनावस्था और यौवनावस्था से प्रौढ़ावस्था की ओर स्वाभाविक गति रही हो।

प्रश्न यह है कि 'वीचिविलास', 'चाँदनी' और 'अप्सरा' का यह कवि आज यंत्र-युग से प्रभावित होकर मानव की जड़ता और संस्कारहीनता का चित्रण कर उसके ही भाग्योदय की आशा में अपने काव्य की दिशा को कैसे मोड़ सका? जो कभी जीवन का अर्थ केवल क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता, मोद, मधुरिमा, हास, विलास, लीला, विस्मय, अस्फुटता, स्नेह, पुलक, सुख और सरल हुलास ही समझता था[1] वही आज कुरूप, कुत्सित, प्राकृत, सुन्दर, सस्मित दोनों से परिचित की भाँति क्यों मिलना चाहता है।[2] इन प्रश्नों का उत्तर स्वयं कवि ने दिया है। उसके शब्दों में ही उसके द्वारा दिशा-परिवर्तन का कारण सुनिए। कवि ने कालाकाँकर से 'रूपाभ' नाम का एक मासिक निकाला था। उसके प्रथम अंक में उसने स्वयं लिखा—"कविता के स्वप्न-भवन को छोड़कर हम इस खुरदुरे पथ पर क्यों उतर आए?...इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण किया है, उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गए हैं। श्रद्धा-अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा और काव्य की स्वप्न-जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्नरूप से सहम गई। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। और युग-जीवन ने उसके चिर-संचित सुख-स्वप्नों को जो चुनौती दी है, उसको उसे स्वीकार करना पड़ा है।"

कवि के कथन का अर्थ है कि वह युग की माँग पर स्वप्न-जगत् छोड़ कर धरती पर आ गया और उसने वास्तविकता का निमंत्रण स्वीकार किया। उसके पश्चात् उसने जीवन की विकृति और बीभत्सता को गहरी दृष्टि से देखा। किसान

१—क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता, मोद, मधुरिमा, हास-विलास।
लीला, विस्मय, अस्फुटता, भय, स्नेह, पुलक, सुख, सरल, हुलास।

२—हे कुरूप, हे कुत्सित, प्राकृत,
हे सुंदर हे संस्कृत सस्मित,
आओ जग-जीवन, परिणय में
परिचित-से मिल बाँह भरें।

मज़दूर वर्ग के लिए उसके मन में बौद्धिक सहानुभूति जाग्रत हुई और उसने 'युगवाणी' दी, जिसमें उसने समाजवादी सिद्धान्तों का विश्लेषण किया और उसके बाद 'ग्राम्या' में उन सिद्धान्तों का प्रयोग किया। यही कारण है कि कला की दृष्टि से 'ग्राम्या' 'युगवाणी' की अपेक्षा अधिक सुन्दर है। परंतु अभी हम कला की बात को यहीं छोड़ कर केवल कवि के प्रतिपाद्य को देखना चाहते हैं। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या', 'युगान्त' के बाद कवि की मानव-पूजा की कृतियाँ हैं, जिनमें उसने भावी संस्कृति को रूप रेखा देने के साथ-साथ वर्तमान का भी चित्रण किया है। अपने देश और वर्तमान संसार की दुर्दशा से व्याकुल होकर 'युगान्त' में कवि ने 'बापू' के प्रति कविता लिखी थी, उसमें उसने गाँधी जी की प्रशस्ति के साथ उनके गांधीवाद की भी प्रशंसा की थी। सत्य, अहिंसा, चरखा आदि जो गाँधीवाद के प्रतीक हैं उनपर अपना मत दिया था और उनको 'शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल' कहकर सम्बोधित करते हुए अन्त में लिखा था—

आए तुम मुक्त पुरुष कहने—
मिथ्या जड़ बन्धन, सत्य राम,
नानृतं जयति सत्यं मा भैः;
जय ज्ञान-ज्योति तुमको प्रणाम।

लेकिन 'ग्राम्या' में 'महात्मा जी के प्रति' कविता में उन्होंने इस 'मुक्त पुरुष' की पराजय दिखाई है और कहा है—

हे भारत के हृदय तुम्हारे साथ आज निःसंशय।
चूर्ण हो गया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर।

यह मानों गाँधीवाद से समाजवाद की ओर कवि की रुचि का परिचायक है। कवि के हृदय का यह परिवर्तन उसको श्रद्धा से, जो काव्य का प्राण है, शंका की ओर, जो विज्ञान का जीवन है ले गया और काव्य या आध्यात्मिकता तथा विज्ञान या वास्तविकता के समन्वय की उसने चेष्टा की। उसने दोनों को स्वीकार किया और आशा की कि यंत्र-युग के साथ जब साम्यवाद द्वारा स्वर्ण-युग का अवतरण विश्व में होगा तब गाँधीवाद और साम्यवाद दोनों एक हो जायँगे—

मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद।
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद।

इस प्रकार उसने सामन्तवाद से पूँजीवाद और पूँजीवाद से साम्यवाद तक की भावना को अपने काव्य में स्थान दिया। 'पल्लव' तक की सौंदर्य-वासना में सामन्तवाद, 'गुंजन' की दार्शनिकता में पूँजीवाद और 'युगान्त',

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की वास्तविकता में साम्यवाद की यात्रा पंत ने की है। इस यात्रा में वे अपने कवित्व को श्रीहीन होने से नहीं बचा पाये हैं। और यह शुष्क विश्लेषण होकर ही रह गया है; यद्यपि 'ग्राम्या' में वे कवित्व भी लाए हैं। परन्तु 'पल्लव' के उपवन में विहार करने वाले पाठक को 'युगान्त' के बाद की कृतियाँ रेतीला मैदान जान पड़ती हैं, जिनमें कहीं-कहीं नखलिस्तान के दर्शन हो जाते हैं। कवि के पास इसका उत्तर नहीं है क्योंकि वह स्पष्ट कह चुका है कि जब वे काल्पनिक व्यंजनाएँ ही नहीं रहीं तब वह सरसता कहाँ से आवेगी ? वास्तविकता में हमें अपने मस्तिष्क से भी काम लेना है। अब से पहले उसने हृदय को गुदगुदाया था, अब उसने मस्तिष्क को कुरेदा है। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में "आज पंत के कवि की लेखनी और तूलिका का स्थान छैनी और कुदाली ने ले लिया है, रूप-रंग का स्थान रक्त-मांस ने। अब वह कला की उतनी चिंता नहीं करता जितनी सृष्टि निर्माणकारी विचारों की। इसीलिए उसने स्पष्ट कहा है कि 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में निम्न वर्ग को उसने बौद्धिक सहानुभूति दी है। पंत जी इससे अधिक कर भी नहीं सकते। उनका संकोचशील स्वभाव, अभिजात्य वर्ग की रुचि और एकाकी जीवन, उन्हें मज़दूरों-किसानों के बीच काम करने की आज्ञा नहीं देते, वे तटस्थ दर्शक की भाँति उनकी स्थिति का अवलोकन करके ही उनके सुख-दुःख का चित्रण कर सकते हैं। इसका परिणाम यह है कि उनके चित्रण में अनुभूति का सरस रूप नहीं दिखाई देता। लेकिन उनकी दृष्टि इतनी पैनी है कि वे बड़ी गहराई तक जाते हैं और उनका अध्ययन ठीक होता है, इसी लिए वे मानव की उपासना के अधिकारी होकर जन कवि भी बन सकते हैं।

पंत की चिंतनशील प्रवृत्ति ने उनको आशावादी बनाया है अतः वे विकृति का यथातथ्य चित्रण करते हुए भी किसानों-मज़दूरों के लिए हाय ! हाय ! नहीं करते वरन् उनको भविष्य की ओर ही देखने की प्रेरणा करते हैं और जहाँ ऐसा नहीं करते वहाँ उनको ज्यों का त्यों रख देते हैं। इसी लिए भारतीय ग्राम का चित्रण करते हुए उसकी तुलना नरक से की है।[१] किसान को भी वज्रमूढ़, जड़ भूत, हठी और ऐसे कितने ही विशेषण दे डाले हैं।[२] इसका कारण यह है कि

१—यह तो मानव लोक नहीं रे यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित,
× × × ×
प्रकृति धाम यह तृण-तृण कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित यहाँ अकेला
मानव ही रे चिर विषण्ण जीवनम्मृत !

२—वज्रमूढ़, जड़भूत, हठी, वृष बान्धव कर्षक
ध्रुव ममत्व की मूर्ति रूढ़ियों के चिर रक्षक।

कवि उनकी दुर्दशा को सहन नहीं कर सकता और उसका हृदय व्यथित हो जाता है—"इन कीड़ों का भी मनुज बीज यह सोच हृदय उठता पसीज !" लेकिन एक बात है कि कवि इसको राजनीति का प्रश्न नहीं बनाता, वह इसको सांस्कृतिक प्रश्न बनाता है। कलाकार के नाते वह राजनीति या पार्टीनीति से प्रभावित नहीं है। 'संस्कृति का प्रश्न' शीर्षक 'ग्राम्या' की कविता में वे कहते हैं :—

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख
अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानव-जीवन के दुख।
आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित
खण्ड मनुजता को युग युग की होना है नव-निर्मित।

वस्तुतः बात यह है कि कवि के संस्कारी हृदय ने विश्व की आधुनिक विकार-ग्रस्त दशा का उपचार सांस्कृतिक समन्वय में ही खोजा है। इसीलिए उसे आज असुन्दर सुन्दर लगते हैं, शोषित जन प्रिय लगते हैं और जीवन के दैन्यों से जर्जर मानव-मुख उसका मन हरता है। 'युगवाणी' में उसने, 'बौद्धिक सहानुभूति' दे कर सिद्धान्तों, वर्ग-समस्याओं, राज्यान्दोलनों की मीमांसा की थी, परन्तु 'ग्राम्या' में उसने मीमांसा का पथ छोड़कर, सीधे ग्राम्यचित्रण की ओर ध्यान दिया है। 'धोबियों का नाच', 'चमारों का नाच', 'कहारों का रुद्र नर्तन' आदि में उसने सामूहिक-जीवन से प्रेरित होकर निम्न वर्ग की भावनाओं को वाणी दी है। 'राष्ट्र-गान', 'वह बुड्ढा', 'ग्राम देवता', 'भारत माता', 'ग्रामश्री' आदि कविताओं में गाँवों की वर्तमान दशा के साथ प्रकृति के सुन्दर चित्र हैं।

भावी समाज-व्यवस्था में नारी का बड़ा हाथ होगा। कवि ने उसकी मुक्ति के लिए भी गंभीर स्वर से शंखनाद किया है। इसमें नारी का वर्तमान स्वरूप बोल-सा उठा है—

सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूतयोनि वह; मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित।
वह समाज की नहीं इकाई—शून्य समान अनिश्चित।
उसका जीवन मान, मान पर नर के है अवलम्बित।
योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।

पंत जी की इन कविताओं में हम प्रगतिशील मनुष्य समाज का चित्र देखते हैं। इनके भीतर जो मानव है, वह आज के आगे आने वाले उस स्वर्ण-युग का है, जिसमें यंत्रों (विज्ञान की देन) के विकास से 'सतयुग' लाने की चेष्टा की जायगी। उस समय मनुष्य अभावों से पीड़ित नहीं होगा, उसकी रक्त-मांस की

इच्छायें पूरी होंगी और सर्वत्र प्रेम का राज्य होगा, तब स्वर्ग की आवश्यकता न रहेगी।[1] तब दैन्य-दुःख और क्षुधा-तृषा के क्रंदन मिट जायेंगे और भावी के सुख स्वप्नों का युग साक्षात् रूप में अवतरित होगा। उस समय न ये ग्राम रहेंगे न ये नगर रहेंगे। समस्त बंधनों से दिशा और क्षण मुक्त हो जायगे और मनुज जीवन से क्षुद्रताओं का नाश हो जायगा। ऐसे संसार की कल्पना 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' का कवि करता है। तभी वह अपनी दृष्टि को नवीनता से समन्वित करता है। अपने कवि को ही संबोधन करके कहता है कि कल्पना के लिए आकाश क्या ताक रहे हो? मृत्यु नीलिमा की गहराई वाले आकाश में रखा क्या है? उसे अनिमेष, स्थिर दृष्टि से निरंतर देखने से क्या लाभ है? वह तो निःस्पंद है, शून्य है, निर्जन है और है निःस्वन। यदि देखना चाहते हो तो पृथ्वी को देखो—उस पृथ्वी को जो जीव-प्रसू है, हरित-भरित है, पल्लवित-मर्मरित है, कुंजित गुंजित और कुसुमित है।[2] इसी प्रेरणा को लेकर कवि ने 'युगांत' के बाद की कविताओं में नीचे के धरातल पर उतर, जनता की भावनाओं और सुख-दुःख की वाणी दी है। इन दिनों वे नृत्यकार उदयशंकर के साथ रहे जो भारत की ग्रामीण नृत्य-कला का पुनरुद्धार कर रहे हैं, इसलिए भी वे ग्राम्य-चित्रण में सफल हुए हैं। कला आज जन-हित का बाना पहन कर नए रूप में सज्जित हो रही है और युग-द्रष्टा कलाकार उसमें अपना भाग दे रहे हैं। पंत जी के कवि ने भी अपने कर्तव्य को समझा है और उसके अनुकूल ही अपनी वाणी की दिशा परिवर्तित की है।

१—जीवन की क्षण धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित
रक्त मांस की इच्छायें जन की हों पूरित
मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें—मानव ईश्वर!
और कौन-सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर?

२—ताक रहे हो गगन?
मृत्यु-नीलिमा-गहन गगन?
अनिमेष, अचितवन, काल-नयन?
निस्पन्द, शून्य, निर्जन, निःस्वन?
देखो भू को
जीव-प्रसू को
पल्लवित-मर्मरित
कुंजित-गुंजित
कुसुमित
भू को!

हमारा विश्वास है कि प्रकृति के अंचल में पले, सौंदर्य के स्वप्नों में विहार करने वाले मानव-जीवन के इस दार्शनिक विवेचक कवि का मानव जगत् के वर्तमान संघर्ष में जूझने का यह निर्णय भारतीय जनता के लिए कल्याणकर होगा। अब तक हमने केवल यही देखा है कि पंत जी ने अपने काव्य में प्रकृति, सौंदर्य, दर्शन और मानव के प्रति क्या दृष्टिकोण रखा और कैसे उनके कवि का विकास हुआ ? अब हम उनकी कला पर भी थोड़ा विचार कर लें। कारण, पंत ने केवल इतिवृत्तात्मक कविता के साथ ही विद्रोह नहीं किया वरन् छंद, भाषा और अलंकारों में भी क्रांति की है। पंत जी की कला के विषय में सबसे पहली बात तो यह है कि उनकी चित्रण-शक्ति बड़ी प्रबल है। प्रत्येक दृश्य या गति का चित्र वे बड़ी कुशलता से खींचते हैं। ये चित्र स्थिर दृश्यों के भी होते हैं और गत्यात्मक दृश्यों के भी। अपनी 'दो मित्र' नामक कविता में उन्होंने दो चिलबिल के पेड़ों का चित्र दिया है। वे पेड़ एक निर्जन टीले पर एक दूसरे से मिले खड़े हैं।

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक दूसरे से मिल,
मित्रों-से हैं खड़े,
मौन, मनोहर।

दोनों पादप,
सह वर्षातप,
हुए साथ ही बड़े,
दीर्घ सुदृढ़तर।

यह एक स्थिर दृश्य का चित्र है, जिसे पढ़ते ही दूर सूने टीले पर खड़े दो पेड़ हिले-मिले दिखाई देने लगते हैं। साधारण व्यक्ति भी इनका मानसिक चित्र बना सकता है।

अस्थिर या गत्यात्मक चित्र भी एक से एक सुन्दर हैं। 'नौका-विहार' कविता में तो प्रत्येक शब्द का चित्र है। गंगा में नाव से उठती हिलोर, उसमें प्रतिबिंबित तारक-दल और उसके ऊपर नाव का हंसिनी के समान चलना सब अलग-अलग रेखाओं से स्पष्ट है:—

नौका से उठती जल हिलोर
विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारकदल
ज्योतित कर जल का अंतस्तल।

\+ \+ \+ \+

मृदु मंद-मंद मंथर मंथर लघु तरणि हंसिनी-सी सुन्दर
तिर रही खोल पालों के पर।

ऐसी चित्रण शक्ति आधुनिक कवियों में से बहुत कम को प्राप्त है। इसके द्वारा कवि सूक्ष्म से सूक्ष्म और गतिवान से गतिवान भाव या दृश्य को चित्रित कर सकता है। दूसरी विशेषता है—ध्वनि चित्रण की। कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है कि अर्थ शब्द की ध्वनि से ही स्पष्ट हो जाता है और सुनने वाले को अर्थ के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। 'युगान्त' में संध्या का चित्रण केवल कुछ ही शब्दों में कर दिया है, जो ध्वन्यात्मकता से युक्त होने के कारण अर्थ के साथ संध्या का चित्र भी देते हैं।[1] इसी प्रकार 'झंझा में नीम' झूम-झूम कर, झुक-झुककर सर-मर-चर-मर करता प्रतीत होता है।[2] ध्वन्यात्मकता के साथ ही उनको रंगों का ज्ञान बहुत अच्छा है। यह रंग का ज्ञान उनकी चित्रण-शक्ति को बढ़ाता है। अलग-अलग रंगों का प्रयोग[3] ही नहीं मिश्रित रंगों के प्रयोग में भी कवि को निपुणता प्राप्त है।[4] कुशल चित्रकार की भाँति कवि रंग, छाया और प्रकाश का चित्रण तो करता ही है, कभी-कभी रूप-रंग के अतिरिक्त वह स्पर्श और गन्ध को भी सजीव कर देता है।[5]

१—बाँसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टी-वी-टी-टुट-टुट।

२—झूम-झूम-झुक-झुक कर
भीम नीम तरु निर्भर
सिहर-सिहर थर थर
करता सर मर
चर मर।

३—विद्रुम और मरकत की छाया
सोने चाँदी का सूर्यातप
हिम परिमल की रेशमी वायु
शत रत्न छाय, खग-चित्रित नभ।

४—देखता हूँ जब पतला
इन्द्र धनुषी हलका।
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद कला!

५—फैली खेती में दूर तलक

शब्दों का चयन और अवसरानुकूल प्रयोग करने में पंत जी को कोई कठिनाई नहीं होती। इसमें उनका चिंतन उनकी विशेष सहायता करता है। उनकी कविता में आपको कहीं कोई व्यर्थ का शब्द नहीं मिलेगा। यदि एक ही पंक्ति में 'वीचि' और 'लहर' होगा तो एक का अर्थ दूसरे से भिन्न होगा। शब्दों की आत्मा का ऐसा सूक्ष्म ज्ञान कम कवियों को होता है। उनके शब्द पूरे-पूरे भाव को व्यक्त कर देते हैं। 'पल्लव' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः, संगीत भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे, 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, भृकुटि' से कटाक्ष की चंचलता, 'भौंहों' से स्वाभाविक प्रसन्नतामृजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' में उठना, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल कम्पन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठ-उठ कर गिर पड़ना, 'बढ़ो-बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, 'हिल्लोल-कल्लोल' से ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है।" वस्तुतः पंत जी की कविता में कला प्रधान होगई है। उनकी कला के लिए उन्हीं की प्रसिद्ध उपमा-युक्त कविता 'छाया' की ये पंक्तियाँ लागू होती हैं—

तरुवर की छायानुवाद-सी,
उपमा-सी भावुकता-सी,
अविदित भावाकुलभाषा-सी,
कटी-छटी नव कविता-सी।

'कटी-छटी नव कविता-सी' में उनकी कला की व्यंजना है, जो उनके छन्दों में व्यक्त होती है। वे मात्रिक छंदों का ही अधिक प्रयोग करते हैं। इसका कारण उनकी दृष्टि में यह है कि हिंदी के शब्द-विन्यास की प्रकृति स्वरों से अधिक निर्मित है। फिर संगीत में भी स्वर ही प्रधान है। इसलिए शब्द-जगत् में स्वर ही उनके भीतर वह प्रवाह और गति देते हैं जो संगीत बनकर कविता को स्वर्गीय बना देते हैं। उनकी दृष्टि तुक आदि पर या समान मात्राओं पर न रह कर केवल भावों की गति पर रहती है, जिससे उनकी चित्रमयता, ध्वन्यात्मकता और सांकेतिकता बनी रहे।

मखमल-सी हरियाली।

× ×

महके कटहल मुकुलित जामुन
जंगल में झरबेली झूली

अपनी काव्य-कला के शृंगार के लिए कवि को अंग्रेजी के शब्दों और अलंकारों तथा बँगला के प्रयोगों की भी सहायता लेनी पड़ी है, लेकिन धीरे-धीरे उसने यह छोड़ दिया है और जैसे ही वह समाज के—जगत् के—संपर्क में आया है उसने वह सब बंधन छोड़ दिए हैं और छंद, अनुप्रास के बंधनों से मुक्त उसकी 'युग-वाणी' अनायास बहने लगी है। 'युगवाणी' के बाद उसने कला की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, ऐसा नहीं है। छंदों के विविध प्रयोग और सादे चित्रों का बाहुल्य 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में मिलता है, पर सजावट की ओर कवि का ध्यान नहीं गया है। भाषा की रंगीनी भी नहीं है, न कल्पना का ही विलास है। विषय के परिवर्तन के साथ भाषा भी स्थूल हो गई है पर उसकी भावाभिव्यक्ति में कहीं कमी नहीं है।

हिन्दी में पंत जी की कविता का सीधा विकास हुआ है। छायावाद और प्रगतिवाद दोनों में ही उन्होंने नेतृत्व किया है—छायावाद में 'पल्लव' द्वारा और प्रगतिवाद में 'युगान्त' 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' द्वारा। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण आशावाद करता है। वे कला का शृंगार भी मौलिकता से कर पाये हैं। साधन में उनका अटूट विश्वास है और उसको ही वे जीवन का ध्येय समझते हैं। इसीलिए निरन्तर गतिशीलता में उनका विश्वास है। उच्च मध्यवर्ग परिवार में जन्म लेकर और सामंती संस्कृति के भग्नावशेष रूढ़ गतयुग के संस्कारों में पालित-पोषित होने पर भी नवयुग की पुकार पर उन्होंने अपने स्वभाव को बदल दिया है; अपने व्यक्ति को भुलाकर कला का मुखोज्ज्वल किया है। वे जो कुछ भी लिखते हैं—सोचकर, समझ कर, मनन और चिंतन करके। उनकी गंभीरता और संयत व्यक्तित्व उनकी कविता से प्रकट होते हैं। ये मौलिक कलाकार हैं। वे भावी समाज व्यवस्था के लिए अपने स्वप्न-जगत् से वह्नि, बाढ़ उल्का, झंझा की उस भीषण भू पर उतर आए हैं, जहाँ कोमल मनुज कलेवर का जीवित रहना कठिन है। लेकिन वे जिस भावना को लेकर साधना कर रहे हैं वह बड़ी पवित्र और जन-हित की है।

कन्हैयालाल सहल

'मुक्ति' तथा 'बन्धन' पर पंत के विचार

पंत की मूलतः तार्किक वृत्तियाँ छाया-स्वप्नों को चीरकर यदाकदा जीवन के ज्वलंत सत्य पर आ टिकी हैं। सुप्त-चेतना सजग होकर परोक्ष सत्य की आकांक्षा के लिए आकुल है, जिसमें उनका दार्शनिक पहलू 'मुक्ति' और 'बंधन' की चेष्टा में तद्रूप होकर आत्म-शुद्धि की उपलब्धि चाहता है, किन्तु वैराग्य-साधनाजन्य मुक्ति का उपदेश देकर नहीं, वरन् उनकी दृष्टि में संसार में रह कर विश्व-वेदना में तपने और उसमें लय हो जाने में ही सामूहिक मुक्ति निहित है।

कुछ दार्शनिकों की दृष्टि में वैराग्य-साधन द्वारा वासनाओं का क्षय होने पर ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। संसार के प्रलोभनों से सर्वथा दूर रहने के लिये ही साधक तपस्वी और योगी इसी मुक्ति के लिये तपोवनों का आश्रय लिया करते है। इच्छाओं के समूल नाश होने पर संसार के आवागमन के बन्धन से छूट जाना ही वे अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझते हैं। किन्तु काव्य में इस प्रकार की मुक्ति का क्या स्थान हो सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य के लिये यह आवश्यक है कि उसकी शक्ति का बहुतांश सामाजिक प्रवाह को सुचारु रूप से बनाये रखने में सहायक हो। मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति के प्रसार और क्रीड़ा क्षेत्र के लिये संसार के हर्ष-विमर्शों में योग देना आवश्यक ही नहीं किन्तु वांछनीय भी है। कवियों ने भी उन्हीं मनुष्यों के जीवन से अपने काव्य के लिये उपादान ग्रहण किये हैं जो संसार के घात-प्रतिघात सहते हुए अपने कर्तव्य-पथ पर अग्रसर हुए हैं। गोस्वामी तुलसीदास को जहाँ रामचरित के कारण जीवन की सर्वांगीणता के प्रदर्शन का क्षेत्र मिल सका वहाँ कृष्ण-चरित्र को लेकर सूरदास जैसे भावुक भक्तों ने भी सरस एवं सहृदय-संवेद्य रचनाएँ प्रस्तुत कीं। रागात्मिका वृत्ति के सम्यक् विस्तार के लिये संसार से तटस्थ रहने से निर्वाह नहीं हो सकता। विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित करने पर ही मनुष्य अपने संकुचित अहं की परिधि को विस्तृत कर सकता है और तभी उसे सच्चे सुख और वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। यदि मनुष्य अपने लिये ऐसे संसार का निर्माण करले जहाँ 'स्व' ही उसके विचार का विषय हो तो इससे अधिक भयंकर कारागार की कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि वास्तव में आत्मा की परिधि को विस्तृत कर जग में अपनापन स्थापित करने से ही पूर्ण सुख की प्राप्ति हो सकती है। इसीलिये रवीन्द्रनाथ जैसे कुछ कवियों ने उस मुक्ति के प्रति एक प्रकार की उदासीनता प्रकट की है जिसमें एकान्तवास-जन्य, जीवन से निरपेक्ष वैराग्य-साधन के उपदेश का आग्रह है।

रवि बाबू ने 'नैवेद्य' में बन्धन और मुक्ति पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है—

'वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय
असंख्य बन्धन माँझे महानन्दमय
लभिव मुक्तिर स्वाद।

एइ वसुधार
मृत्तिकार पात्र खानि भरि बारम्बार
तोमार अमृत ढालि दिबे अविरत
नानावर्ण गन्धमय।'

अर्थात् वैराग्य साधन में जो मुक्ति है, हम उसे नहीं चाहते, हमारा उससे कोई प्रयोजन नहीं है। हम असंख्य बन्धनों में रह कर महा आनन्दमय मुक्ति का स्वाद लेंगे। इस पृथ्वी की मिट्टी के पात्र को बारम्बार भर कर हमारी यह आनन्दमय मधुर मुक्ति तुम्हारे नाना वर्ण और गन्ध को अविरत ढाला करेगी।

निराला जी के मतानुसार 'ऐसे बन्धन और ऐसी मुक्ति के आचार्य श्री रवीन्द्रनाथ हैं। 'वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय' उनके इस काव्य-दर्शन का प्रसिद्ध वाक्य है। इस भाव पर उनके अनेक पद्य हैं। इसके अनेक रूप उन्होंने खींचे हैं! यह रवीन्द्रनाथ के दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। यह विशिष्टाद्वैत का सुन्दर काव्य-रूप रवीन्द्रनाथ द्वारा तैयार हुआ मालूम देता है। इसके प्रकाशन में रवीन्द्र की प्रतिभा और शब्द-शक्ति जो काम करती है, वह तारीफ से बाहर है।'

'अनेक प्रकार के त्याग-विराग, साधना-संयम, जप-तप, नीति-रीतियों के, नियम-बन्धन के सहारे हम जिस सत्य को ग्रहण करने का असम्भव, निष्फल प्रयत्न करते आये हैं, वही अज्ञेय अग्रहणीय सत्य जैसे अनन्त अनुराग, आनन्द, सुख, सौंदर्य, लीला, नृत्य, आशा, आकांक्षा, रूप-रंगों द्वारा अपने को सृष्टि के चिरन्तन बन्धनों में बाँध रहा है। आत्मा अपने को रूप के लिये फिर-फिर बलिदान कर रही है। हमारे दर्शनों ने सत्य के जिस महाभाव का बोध कराया है हमने उसे न समझ सकने के कारण उस महाभाव को अभाव और शून्य में घटित कर दिया है। ज्ञान का निष्क्रिय प्रयोग कर हमने निःसीम को ससीम से भाव को रूप से विच्छिन्न कर उन्हें भिन्न मान लिया है। ज्ञान के सक्रिय प्रयोग द्वारा हम उस महाभाव का नाम रूप में निःसीम का ससीम में साक्षात् नहीं कर पाये हैं।'—पंत (पन्नू कहानी से)

रवीन्द्रनाथ की उक्त विचार-धारा से हिन्दी के बहुत से कवि प्रभावित हुए हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त 'यशोधरा' में रवीन्द्रनाथ के स्वर में स्वर मिलाते हुए से कहते हैं:—

'भव भावे मुझको और उसे मैं भाऊँ
कह मुक्ति, भला मैं तुझे किस लिये पाऊँ?'

श्री गोपालशरण सिंह ने भी एक स्थान पर इसी भाव-सरणि का आश्रय लेते हुए लिखा है:—

'जग की सेवा करना ही बस,
है सब सारों का भी सार
विश्व-प्रेम के बन्धन में ही,
मुझको मिला मुक्ति का द्वार !'

किन्तु रवीन्द्र की इस मुक्ति भावना को अपनाने वालों में शायद सबसे प्रमुख हैं सुमधुर गुञ्जन करने वाले कोमल-कान्त कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत। वे अपने मन को प्रतिपल विश्व-वेदना में तपने, जग-जीवन की ज्वाला में गलने एवं जग में अपनापन स्थापित करने का आदेश देते हैं। वे उस मुक्ति को बन्धन समझते हैं जो एकान्तवास की वैराग्य-साधना का परिणाम है।

'तेरी मधुर-मुक्ति ही बन्धन,
गन्ध हीन तू गन्ध युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन !
मूर्तिवान बन, निर्धन !
गल रे गल निष्ठुर मन !'

'ज्योत्स्ना' में भी पंत जी ने इसी प्रकार के विचारों को व्यक्त किया है:—

'अविराम प्रेम की बाहों में
है मुक्ति यही जीवन-बन्धन !'

प्रेम के बन्धनों में ही वे मुक्ति का अनुभव करते हैं। उनके अनुसार 'निष्क्रिय ज्ञान द्वारा आत्मा और व्यक्ति को प्रकृति के बन्धनों से मुक्त करने के बदले सक्रिय ज्ञान के सदुपयोग से मानवात्मा के प्राकृतिक सत्यों के बन्धनों को सुव्यवस्थित, सार्वलौकिक स्वरूप देकर मनुष्य जीवन की सामूहिक मुक्ति के लिये उद्योग करना कहीं श्रेयस्कर है।'

'मत हो विरक्त जीवन से
अनुरक्त न हो जीवन पर,
जग परिधि मात्र जीवन की,
स्थित केन्द्र अमर उर भीतर !' (ज्योत्स्ना)

हिन्दू दर्शन-शास्त्रों पर बहुधा यह आक्षेप किया जाता है कि वैराग्य साधना-जन्य मुक्ति का उपदेश देकर, संसार को माया-जाल बतला कर उन्होंने भार-

तायों को अकर्मण्य बना दिया है। संसार के बन्धनों में भी परमात्मा की सत्ता का अनुभव करना, निष्काम कर्मयोग की भावना रखना—इस तत्त्वज्ञान की उपेक्षा के कारण ही हिन्दू सभ्यता पंगु हो गई और परिणामस्वरूप वह संसार के विकासोन्मुख एवं प्रगतिशील देशों के साथ दौड़ में पिछड़ गई। सम्भवतः इसी लिये लोकमान्य तिलक को 'गीता-रहस्य' में कर्मयोग का विशद विवेचन करना पड़ा। इसी बात को स्पष्ट करते हुए श्री रवीन्द्रनाथ ने भी अपने 'साधना' नामक ग्रन्थ में लिखा है:—

'मुझे अपने श्रोताओं को अच्छी तरह जतला देना चाहिये कि भारत के ऋषियों ने यह उपदेश नहीं दिया है कि संसार और अहं का त्याग किया जाय, इसका फल तो कोरी निषेधात्मक शून्यता है। उनका उद्देश्य अहं का त्याग नहीं किन्तु अहं की संकीर्ण परिधि का विस्तार और आत्म-तत्व का ज्ञान था अर्थात् दूसरे शब्दों में विश्व के पूर्ण सत्यरूप की पहचान थी। संसार और व्यक्ति का अस्तित्व भुला देने से तो केवल शून्यता रह जाती है, संसार और अहं में आसक्ति और अभिमान को मिटाना चाहिये।'

विश्व की वेदना में तपते हुए, जग-जीवन की ज्वाला में अपने मन को गला कर भी जो मुक्ति के लिये प्रयत्नशील थे, ऐसे कर्मठ तपस्वियों में महात्मा गाँधी का नाम अग्रगण्य है। पंत जी ने उन्हें 'तुम आत्मा के, मन के मनोज' कह कर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। संसार में रह कर ही, संसार की प्रयोग-शाला में ही वे आमरण सत्य के प्रयोग करते रहे। गाँधी दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता भी यही है कि इसके अनुसार जीवन के सुख-दुःख के बंधनों में बँधकर भी अनासक्ति-योग की साधना की जा सकती है। सुख-दुःख की अपेक्षा जीवन महत्वपूर्ण है, इस जीवन से दूर भागने की आवश्यकता नहीं। 'नाहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवं, कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्' संस्कृत के इस प्रसिद्ध श्लोक में भी दुःखतप्त प्राणियों के आर्तिनाश के सम्मुख मुक्ति को भी नगण्य समझा गया है।

'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है।...विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।'—महादेवी वर्मा।

आजकल वास्तव में ऐसी मुक्ति का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं जो संसार और जीवन के प्रति विरक्ति पैदा करती है। आज ऐसे कवियों की आवश्यकता है जिनकी कविता पढ़ कर हमें विश्व-वेदना में तपने के लिये अन्तःस्फूर्ति

प्राप्त हो और हम जीवन की लहर-लहर से हँस-हँस कर खेलना सीख सकें। नैष्कर्म्य और जीवन के प्रति उपेक्षा का पाठ पढ़ाने वाली मुक्ति वास्तव में मुक्ति है ही नहीं। और फिर यदि वस्तुतः देखा जाय तो हम कौन से बन्धनों से छुटकारा पाना चाहते हैं? जगन्नियन्ता ने स्वयं अपने आप को सृष्टि के बंधनों में बाँध रक्खा है। वह हम सबके साथ सदा के लिये बंधा है। वह कर्मशील है। 'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।' दूसरों द्वारा लादे हुए बन्धन भारस्वरूप हो सकते हैं किन्तु स्वेच्छा पूर्वक आरोपित किये हुए बन्धन वास्तव में बन्धन हैं ही नहीं।

बाबू गुलाबराय के शब्दों में 'संसार के क्रिया-कलाप में आनन्द लेने वाले इस युग की मुक्ति-भावना पिछले युग की मुक्ति भावना से भिन्न है। संसार से वैराग्य करना तो गीता में भी नहीं बतलाया गया है। उसमें निष्काम कर्म का उपदेश है, लेकिन वह है बन्धनों से मुक्ति पाने ही के लिये। वर्तमान युग बंधनों से भागता नहीं है वरन् बंधन को ही अपने कर्म का और विकास का साधन समझता है। रवीन्द्र बाबू के 'वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय' में जो आदर्श है, वह वर्तमान युग के विचारों की प्रतिध्वनि है। पंत जी के विचारों में भी इस युग-वाणी की झंकार है। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी अपनी 'झंकार' में इस भावना को व्यक्त किया है...

'सखे, मेरे बन्धन मत खोल।
आप बन्ध्य हूँ आप खुलूँ मैं,
तू न बीच में बोल।
सिद्धि का है साधन ही मोल
सखे, मेरे बन्धन मत खोल।'

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी पंत जी की रहस्य-भावना के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है—'पंत जी की रहस्य-भावना अधिकतर स्वाभाविक पथ पर पाई जाती है। कवि की रहस्य-दृष्टि प्रकृति की आत्मा जगत् के रूपों और व्यापारों में व्यक्त होने वाली आत्मा की ओर जाती है। 'निखिल छवि की छवि' है और जिसका अखिल जग-जीवन हास-विलास है। इस व्यक्त प्रसार के बीच उसका आभास पाकर कुछ क्षण के लिये आनन्द-मग्न होना ही मुक्ति है, जिसकी साधना सरल और स्वाभाविक है, हठ-योग की-सी चक्करदार नहीं। मुक्ति के लोभ में अनेक प्रकार की चक्करदार साधना तो बन्धन है।

'है सहज मुक्ति का मधु-क्षण
पर कठिन मुक्ति का बन्धन।'

कवि कहता है कि इस जीवन की तह में जो परमार्थ-तत्व छिपा हुआ कहा जाता है उसे पकड़ने और उसमें लीन होने के लिये बहुत से लोग अन्तर्मुख होकर गहरी गहरी डुबकियां लगाते हैं; पर मुझे तो उसके व्यक्त आभास ही रुचिकर हैं, अपनी पृथक् सत्ता विलीन करते भय-सा लगता है:—

'सुनता हूँ, इस निस्तल जल में
रहती मछली मोती वाली,
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल-जल-माली।
आएगी मेरे पुलिनों पर
वह मोती की मछली सुन्दर,
मैं लहरों के तट पर बैठा
देखूँगा उसकी छवि जी भर।'

पंत जी का कवि अथवा दार्शनिक भक्त (भक्त दार्शनिक ?) इस बात से भयभीत है कि जब आत्मा और परमात्मा का महामिलन होगा तब उस आनन्द का उपभोक्ता कौन रह जायगा ? अपनी व्यक्तिगत सत्ता को ब्रह्म में विनिमज्जित करते उन्हें भय-सा लगता है। "प्रश्न यह है कि वहाँ जाकर क्या भक्त उस अनन्त ज्योति और अनन्त प्रेम में लोप हो जाता है ? क्या वह भी चिन्मय ब्रह्म में विलय हो जाता है ? कबीरदास भी ऐसे अद्वैतवाद में विश्वास नहीं करते थे। मिलन होगा, यह ठीक है, पर भक्त-जन वहाँ फिर भी साक्षी रूप से वर्तमान रहेंगे। वे दो नहीं होकर रहेंगे, भगवान से एकमेक होकर मिल जायँगे, परन्तु उस मिलन के आनंद को अनुभव करते रहेंगे। यह कैसे संभव है ? क्या एकमेक और पृथक् सत्ता दोनों संभव हैं ? कबीरदास की गवाही पर तो यही मालूम होता है कि ऐसा संभव है ? लौकिक दृष्टि से जो बातें असंभव दिखती हैं ऐसी बहुतेरी बातें भगवान के विषय में सम्भव हैं। फिर इसी "द्वैताद्वैत विलक्षण" भाव को हम कैसे असम्भव मानें ? कबीर साक्षी हैं कि गगन में गहरे गम्भीर मेघ गर्जते रहते हैं, अमृत की झड़ी लगी होती है और सन्त-जन सिहर-सिहर कर इस आनंद रस की वर्षा में भींजते रहते हैं, उस अनन्त की ज्योति छलकती रहती होती है और परम प्रेम के आनन्द निकेतन में गुरु की कृपा वाले सन्तजन पहुँच जाते हैं।" (श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी 'कबीर' पृष्ठ २१२) किन्तु पन्त इस प्रकार के मिलन की कल्पना भी कहीं नहीं करते जहाँ व्यक्तिगत सत्ता भी बनी रहे और मिलन का आनन्द भी प्राप्त हो जाय। वस्तुतः देखा जाय तो कबीर के इस प्रकार के रहस्यवाद में जीवन-गत साधना की अभिव्यक्ति है, जिसमें बौद्धिकता का एक प्रकार से विपर्यास है, पंतजी की रहस्यवादी भावना में

बौद्धिकता की प्रखरता है, साधना की कोई भावात्मक अभिव्यक्ति नहीं। साधना की भावात्मक अभिव्यक्ति का दर्शन कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों में किया जा सकता है—

"हम वासी उस देश के, जहाँ जाति बरन कुल नाहिं।
शब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं॥"

कबीर ने बतलाया है कि उस परिपूर्ण देश में शब्द-मिलावा हो रहा है, केवल भाव-रूप में मिलन हो रहा है, देह-रूप में नहीं, क्योंकि जड़ ससीमदेह उस अनन्त भाव-लोक को बर्दाश्त नहीं कर सकती। पंतजी न ऐसे देश के वासी हैं और न उनका ऐसे 'शब्द-मिलावा' से ही कोई परिचय है।

गोपालकृष्ण कौल

पन्त की रचनाओं के तीन युग

कलाकार की रचनाएँ स्वयं में कला और विचारों का अपना युग बनाती हैं। पन्त ने भी अपनी रचना-प्रवाह को तीन युगों में प्रस्तुत किया—सौन्दर्य-युग, प्रगति-युग और अध्यात्म-युग, उनकी सब कृतियों को इन तीन युगों में विभक्त करके प्रस्तुत लेख में उनके अपने जीवन-दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्त के दर्शन किए जा सकते हैं।

कवि की कृतियाँ ही उसके विकास-सूत्र का परिचायक होती हैं। उसके कला-पक्ष, भावपक्ष और दृष्टिकोण के विकास का इतिहास उसकी रचनाओं में ही [illegible] टक युग के प्रवर्तकों में से एक हैं किन्तु उनकी रचनाओं में उनके काव्य का विकास-क्रम भिन्न प्रवृत्तियों-भावों और विचारों की भूमि का स्पर्श करता हुआ प्रवाहित होता है। इस दृष्टि से उनकी रचनाओं को [illegible] में बाँटा जा सकता है। "वीणा" से "उत्तरा" तक उनके विचारों, भावों और काव्य-सौंदर्य में होने वाले परिवर्तन को तीन भागों में वर्गीकृत करने पर भी उनकी कला के विशेष प्रवाह में आरम्भ से लेकर आज तक एकरूपता है, जो उनकी अपनी शैलीगत विशेषता है। इसलिए उस विशेषता में अन्य परिवर्तनों के प्रभाव से विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, केवल विचारों और भावों के अनुरूप ही कभी कभी उसका साधारण रूप-परिवर्तन हुआ है।

प्रथम युग : सौन्दर्य युग

पन्त की रचनाओं का आरम्भिक युग उनकी सौन्दर्य भावनाओं का युग है। इस समय भारत में रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे विराट-सौंदर्य भावना के महान कवि की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और उसका प्रभाव दूसरे कवियों पर भी पड़ना स्वाभाविक था। साथ ही अँग्रेज़ी साहित्य के संपर्क में आने से भी हिन्दी में साहित्य की नई प्रवृत्तियों और शैलियों का जन्म हो रहा था। पन्त पर बँगला के 'रवीन्द्र' और अँग्रेज़ी के 'शैली' 'कीट्स' आदि की काव्य-विशेषताओं का प्रभाव पड़ा। साथ ही उस समय समाज में और राजनीति में एक विद्रोही भावना का जन्म हो गया था, जिसका प्रवेश कला और सौंदर्य के क्षेत्र में भी हुआ क्योंकि साहित्य जीवन के प्रभाव से पृथक् नहीं रह सकता। इसलिए कलाकार ने रूढ़िगत रीतिकालीन काव्य परम्परा से विद्रोह किया, प्राचीन काव्य भाषा (ब्रजभाषा) से विद्रोह करके खड़ी बोली को काव्योचित कोमल और प्रवाहपूर्ण बनाया और स्थूल से विद्रोह करके सूक्ष्म को अपनाया। इन विद्रोही प्रवृत्तियों के काव्य-प्रवर्त्तकों में पन्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी आरम्भिक रचनाओं में प्राचीन शैली के प्रति विद्रोह और नवीन काव्यशैली के निर्माण की सफलता

की झलक है। छन्द, भाषा और भाव सभी में पन्त ने प्राचीन के प्रति विद्रोह कर नवीन को अपनाया, स्थूल को त्याग सूक्ष्म को ग्रहण करने का प्रयत्न किया।

पंत की रचनाओं के प्रथम युग में—'वीणा' से 'युगान्त' तक की रचनाओं को लिया जा सकता है। ये रचनाएं सन् १९१८ से सन् १९३५ तक के समय के बीच में लिखी गयी हैं।

यह प्रथम महायुद्ध की समाप्ति और उसके बाद का समय है। भारत के राजनीतिक गगन में महात्मा गाँधी के सत्य-अहिंसा के नक्षत्र उदय होने लगे थे। पराधीनता के विद्रोह की भावना उस समय के राजनीतिक और सामाजिक जीवन की जाग्रति की हलचल का प्रधान कारण था। यह विद्रोह की भावना साहित्य के क्षेत्र में भी बौद्धिक प्रतिक्रिया के स्वरूप उत्पन्न हुई। जो कलाकार चिंतन प्रधान एकान्तप्रिय और वास्तविक जीवन के यथार्थ संघर्ष से दूर थे, उनमें यथार्थ के संघर्ष से पलायन की वृत्ति पैदा हुई। वे मानव-समाज की मूर्त समस्याओं की ओर विशेष ध्यान न देकर, उन्हें स्थूल और बाह्य प्रवृत्ति समझकर, अन्तर्मुख हो गये। सृष्टि के सौंदर्य में वे ईश्वर की कौतूहलपूर्ण और रागमय खोज करने लगे। यही उनका स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह था, जिसने एक आध्यात्मिक विचारधारा को छायावाद या रहस्यवाद के रूप में काव्य के क्षेत्र में प्रस्तुत किया।

पन्त का प्रारम्भिक जीवन प्रकृति की गोद में बीता है। अलमोड़े से बत्तीस मील उत्तर की ओर कौसानी में आपका जन्म हुआ। शैशवकाल में ही आपको माता के वात्सल्य से वंचित होना पड़ा था। मातृहीन बालक के हृदय में वात्सल्य के अभाव की पीड़ा कसकती रही। स्वाभाविक था कि वे प्राकृतिक सौंदर्य में छिपे हुए आकर्षण से उस अभाव की पूर्ति करते। प्रकृति के सौंदर्य ने उनकी कवि-प्रतिभा पर जादू किया और वे अपनी कविता में पर्वतीय प्रकृति की सरल और चंचल सुन्दरता को अभिव्यक्त करने लगे।

वीणा

सन् १९१८ से १९२० तक की इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ 'वीणा' नामक काव्य संग्रह में हैं। इन्हें पन्त जी प्रयोग काल की रचनाएँ मानते हैं। 'वीणा' में प्राकृतिक सौंदर्य के विभिन्न अंगों का सरस वर्णन है। 'बादल' 'इन्द्र धनुष' 'सरिता' झरने, ऊषा और संध्या, शबनम और नक्षत्र आदि उनके काव्य के विशेष आकर्षण हैं। किन्तु उनकी काव्य कल्पना में एक विशेष बाल-सरलता है जो प्रयोगकालीन कविताओं में होना स्वाभाविक है। 'वीणा' की कविताओं पर रवीन्द्र की 'गीतांजलि' का प्रभाव है जिससे अनेक कविताएँ

प्रार्थना के रूप में लिखी गई हैं। कवि ने वीणा-वादिनी सरस्वती को भी प्रार्थना की है कि वह उसे काव्य-प्रतिभा प्रदान करें। इस प्रकार प्रकृति की स्निग्ध-सुन्दर गोद में उन्हें माता का वात्सल्यमय ममत्व दिखाई दिया और वे प्रकृति को ही माँ सम्बोधित करने लगे—

"माँ, मेरे जीवन की हार,
तेरा उज्ज्वल-हृदय हार हो अश्रु-कणों का यह उपहार"।

'वीणा' में कवि के प्रकृति-प्रेम के अतिरिक्त एक आदर्श भावना की भी छोटी सी झलक मिलती है। 'वीणा' के गीत कवि के प्रकृति प्रेम और प्रारम्भिक आदर्श भावना के स्वरूप और शब्दमय मूर्तिमान चित्र हैं।

इसके बाद पन्त का अध्ययन बढ़ता रहा, वे श्रीमती सरोजिनी नायडू और कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रेम-रागमय गीतों से विशेष प्रभावित हुए। उन्हीं दिनों उन्होंने कालिदास के 'रघुवंश' को भी पढ़ा और कालिदास की सुन्दर कल्पनाओं एवं चमत्कारिक उपमाओं से भी उन्होंने प्रेरणा ग्रहण की। उस समय की पन्त की दूसरी कृति 'ग्रन्थि' है।

ग्रन्थि

'ग्रन्थि' वियोग शृंगार की कविता है जो एक युवक हृदय की प्रणय कहानी पर आधारित है। इसमें नायक स्वयं आत्मकथा के रूप में आपबीती सुनाता है। कहते हैं कि 'ग्रन्थि' की प्रणयकहानी का सम्बंध कवि के आत्मजीवन से ही है। ग्रन्थि में कथा नाम मात्र को है सन्ध्या के समय नायक की नौका जल में डूबती है और वह उसकी अतल गहराई में संज्ञाहीन हो जाता है। जब वह सचेत होता है, अपने को एक कोमल सुन्दर बालिका की क्रोड़ में सिर रखे पाता है। यहीं नायक का अपनी प्रेमास्पद नायिका से प्रथम परिचय होता है जिसका चित्र कवि के शब्दों में निम्न प्रकार है—

"शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर
शशिकला सी एक बाला व्यग्र हो,
देखती थी म्लान मुख मेरा अचल,
सदय भीरु अधीर चिन्तित दृष्टि से।
एक पल मेरे प्रिया के दृग-पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था।"

इस प्रकार प्रथम परिचय होने के बाद नायक-नायिका का प्रणय सम्बन्ध गहरा रहता है। दोनों एक दूसरे के लिये व्याकुल रहते हैं, किन्तु समाज उनके सम्बंध की अपेक्षा नहीं करता और नायिका का पाणि-ग्रहण किसी दूसरे के साथ

हो जाता है। इस प्रकार यह कथा दुःखान्त वातावरण में समाप्त होती है। ग्रन्थि में प्रेम, परिहास, रति, स्मृति, आशा, अश्रु, वेदना, उन्माद आदि वियोग श्रृंगार के सुंदर उपकरणों का भावनामय चित्रण है। कवि प्रेम को सम्बोधित करके कहता है—

"ओ भोले प्रेम ! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से, जहाँ
झूमते गज से विचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है !
पर नहीं तुम चपल हो अज्ञान हो,
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं ।"°

इस पद की अन्तिम पंक्ति में कवि ने प्रेम की सुंदर परिभाषा कर दी है।

'ग्रन्थि' में श्रृंगार के प्रमुख संचारी भावों की सुंदर अभिव्यञ्जना है। गीतिमयता इस काव्य की विशेषता है। अन्य काव्यों की अपेक्षा यह अधिक अलंकृत है। प्राकृतिक-दृश्यों का भी चमत्कारिक और चित्रमय वर्णन भी यत्र-तत्र मिलता है।

पल्लव

सन् १६१६ में पन्त जी प्रयाग विद्याध्ययन के लिये आये और वहाँ लगभग १० वर्ष तक रहे। यहाँ उनका अध्ययन बढ़ता गया और शेली; कीट्स, टेनिसन आदि अँग्रेज़ी कवियों का रसास्वादन किया और उनसे प्रेरणा ग्रहण की। 'पल्लव' को रचनाओं में शब्द, रचना और ध्वनि-सौंदर्य के विशेष दर्शन होते हैं। वीणा काल की रचनाओं में एक रहस्यमय बालिका का सा सौन्दर्य है जो 'पल्लव' में आकर यौवन के रस को, मांसलता को और विशेष संवेदनशीलता को प्राप्त करता है। 'पल्लव' की 'उच्छ्वास' और 'आँसू' शीर्षक कविताएँ प्रेम भावना की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। 'उच्छ्वास' और 'आँसू' का आधार कवि की विशेष आत्मानुभूति है। इसलिये वे दोनों रचनाएँ बड़ी मर्मस्पर्शी हैं। 'पल्लव' में प्रेम गीतों के अतिरिक्त कल्पनाप्रधान और भाव-प्रधान उत्कृष्ट रचनाएँ भी हैं। 'बीचि-विलास' 'विश्व वेणु' 'निर्झर-गान' 'निर्झरी' और 'नक्षत्र' आदि कविता" कल्पना प्रधान कविता के अन्तर्गत आती हैं। 'मोह' 'विसर्जन' 'मुस्कान' 'स्मृति' 'मधुकरी' आदि पल्लव की भाव-प्रधान कविताएँ हैं। 'विसर्जन' और 'मुस्कान' उत्कृष्ट गीतिकाव्य हैं। कुछ कविताएँ 'पल्लव' में ऐसी भी हैं जिनमें भाव और कल्पना का सुन्दर समन्वय हुआ है। वे 'पल्लव' की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं की श्रेणी में आ सकती हैं। 'बालापन', 'छाया' 'मौन निमन्त्रण' 'बादल' और 'स्वप्न'

आदि इस श्रेणी की कविताएँ हैं। 'नारी' 'विश्व-व्याप्ति' 'जीवन-यान' और 'शिशु' आदि रचनाओं में चिंतन की प्रधानता है। 'पल्लव' की भाषा बड़ी सुगठित, प्रवाहपूर्ण और प्रगीत काव्य के सर्वथा अनुकूल है। रचनाओं में व्यंजना शक्ति की प्रौढ़ता है। 'पल्लव' में कवि का दार्शनिक पक्ष और विचार धारा पिछली रचनाओं से अधिक जागरूक है। कवि के शब्दों में 'पल्लव' युग का मेरा मानसिक विकास एवं जीवन की संग्रहणीय अनुभूतियाँ तथा राग-विराग का समन्वय बिजलियों से भरे बादल की तरह प्रतिबिम्बित है।"

'परिवर्तन' पल्लव की विशेष रचना है। इस कविता में एक विशेष आवेश, प्रवाह और बंधा हुआ विस्तार है। 'परिवर्तन' कवि की मानसिक और साहित्यिक दोनों प्रवृत्तियों का परिचायक है। महाकवि निराला ने परिवर्तन की प्रशंसा में कहा था कि वह किसी की भी चोटी के कवि की श्रेष्ठ रचना से मैत्री स्थापित कर सकता है। परिवर्तन की भाषा में जितना ओज है उतना पन्त की अन्य रचनाओं में नहीं। इस एक कविता में जीवन के विभिन्न रंगों का समावेश है। शृंगार, वीभत्स और करुण सभी के रंग इसमें समाये हैं। परिवर्तन के लिये कवि के ये शब्द स्मरणीय हैं "इस कविता जगत् में नित्य जगत को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन में जैसे परिवर्तन के रचना काल से प्रारम्भ हो गया था, 'परिवर्तन' उस अनुसन्धान का केवल प्रतीक मात्र है।"

गुंजन

पल्लव के पश्चात् गुंजन कवि की आत्मा का उन्मन गुंजन 'गुंजन' नामक काव्य में गुंजारित होता है। इसमें सन् १९२६ से ३१ के बीच की लिखी हुई रचनाएँ संगृहीत हैं। 'ज्योत्स्ना' में जग जीवन के सार्वभौमिक दर्शन करने का प्रयत्न किया गया है 'गुंजन' में उसकी [illegible] भावना है। 'गुंजन' के छोटे-छोटे गीतों की शब्द-योजना इतनी ध्वनिपूर्ण है कि वे कवि के मधुर भावों को अभिव्यक्त करने के साथ-साथ एक विशेष प्रकार का गुंजन-सा करती प्रतीत होती है। उसमें विश्व के प्रति संवेदना, विस्मय की भावना, चिंतन और मननशीलता, जीवन के प्रति आकर्षण और उसमें निहित [illegible] के प्रति कवि का विशेष दृष्टिकोण सामने आता है। दुःख-सुख के परिज्ञान से जो चिन्तन पूर्ण संवेदना कवि में पैदा होती है वह इन शब्दों में अंकित है—

जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव - जग में बट जावें,
दुख सुख से औ सुख दुख से।"

कवि जीवन को सुन्दर बनाने में विश्वास करता है और कहता है—

"सुन्दर से अति सुन्दरतर, सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे! सुन्दर सुन्दर जग जीवन।"

कवि ने कुछ कविताओं में नीरस दर्शन को भी अपनी भावकुशलता से सरस बना कर प्रस्तुत किया है। उन्होंने 'मानव' शीर्षक कविता में जीवन के प्रति बनने वाले दृष्टकोण को व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त इसमें प्रणय के लघु-गीत भी हैं।

'भावी पत्नी के प्रति' 'आँख' 'मुस्कान' 'नौका विहार' 'एक तारा' 'चदनी' 'विहग के प्रति' आदि रचनाओं में भाव और कल्पना का सुंदर सामंजस्य और प्रगीत काव्य के श्रेष्ठ गुण विद्यमान हैं। 'गुंजन' की कुछ कविताओं में सृष्टि के सौन्दर्य में अपनी प्रेयसी के सौन्दर्य के दर्शन किये गये हैं। 'गुंजन' में कल्पना के साथ साथ चिन्तन की प्रधानता है इसलिये उसकी कविताएँ अनुरंजन के साथ मनन की भी सामग्री हैं।

ज्योत्स्ना

अब पंत की काव्य-धारा प्रकृति की गोद से हटकर जीवन के संघर्षमय प्रांगण में प्रवाहित होने लगी और उनका झुकाव मानव जीवन के सत्यों की ओर होने लगा। इस नये दृष्टि कोण को विकसित होने का अवसर 'ज्योत्स्ना' नामक रूपनाटिका में प्राप्त हुआ जिसमें अमूर्त भावनाओं को मूर्तपात्रों के व्यक्तित्व में चित्रित किया गया है। पात्र विभिन्न भावनाओं के प्रतीक मात्र हैं। इसकी कथा अति सूक्ष्म है। इसमें कवि संसार को प्रेम का नवीन स्वर्ग बनाने की अपनी सैद्धान्तिक कल्पना को भावनाओं के प्रतीक पात्रों द्वारा पूरा करता है। संघर्षशील संसार को देखकर इन्दु ज्योत्स्ना को भूलोक का शासन सौंपता है। वह पवन, सुरभि, स्वप्न और कल्पना की सहायता से प्रेम के नवीन स्वर्ग का निर्माण करती है। कथा पांच अंकों में विभक्त है। इसमें पंत जी ने अपने मानववाद के सिद्धांत को प्रतिष्ठित किया है। वर्ग, जाति और राष्ट्र आदि के स्वार्थों में बँटी हुई मानवता को विश्वबन्धुत्व के सूत्र से जोड़कर सत्प्रवृत्तियों के प्रेममय स्वर्ग के रूप में संसार की सम्पूर्णसत्ता को बदल देना ही ज्योत्स्ना का सैद्धान्तिक स्वप्न है। इन्दु, ज्योत्स्ना पवन, सुरभि आदि स्वर्गिक पात्र इस कल्पना को चरितार्थ करते हैं। दया, सत्य, साधना भक्ति और अनुराग आदि प्रेम-आदर्श के स्वर्ग के निर्माणकर्ता हैं इसमें विश्व के भौतिक या बाह्य भेद को मिटाकर उसे आध्यात्मिक समन्वय में एक करने के व्यापक मानवीय एकता का प्रतिपादन है। ज्योत्स्ना में चिन्तन और कल्पना की प्रधानता है।

दृश्य-काव्य की दृष्टि से यह एक असफल नाटिका है क्योंकि इसमें आ य

काव्य के तत्त्वों का अधिक समावेश है। दृश्य-विधान के अनुसार कथावस्तु और चरित्रों का समुचित विकास नहीं हुआ है। नाटिका की कथावस्तुमात्र एक सिद्धांत-निरूपण की कहानी-रूप है इसलिए इसमें कथा के वे प्रधान तत्त्व ही नहीं हैं, जो नाटकीय-विस्तार के लिए आवश्यक है और पात्रों में वह माँसलता नहीं, जो चरित्र-विकास के लिए आवश्यक है। नाटिका में कवि की भावना प्रमुख है नाटककार की नाटकीय-रचना बहुत कम। दृश्यों का निरूपण कल्पनाशक्ति से सुन्दर किया गया है। इसे एक भाव-नाटिका कहा जा सकता है जो दर्शन और चिन्तन के विशेष सैद्धान्तिक निरूपण पर आधारित है। ज्योत्स्ना में कवि के इस काल की प्रतिध्वनि वेदव्रत के इस कथन में गूँज रही है:—

"जिस प्रकार पूर्व की सभ्यता अपने एकांकी आत्मवाद और अध्यात्मवाद के दुष्परिणामों से नष्ट हुई उसी प्रकार पश्चिम की सभ्यता भी अपने एकांकी प्रगतिवाद, विकासवाद और भूतवाद के दुष्परिणाम से विनाश के दलदल में डूब गई! पश्चिम के जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म प्रकाश की आत्मा भरकर एवं अध्यात्मवाद के अस्थिपंजर में भूत या जड़ विज्ञान के रूप-रंगों को भरकर हमने आनेवाले युग की मूर्ति का निर्माण किया है।"

इस प्रकार कवि की रचनाओं के आदि-युग में सौन्दर्य-भावना, कल्पना, प्रकृति और प्रणय की प्रधानता है परन्तु इस सौन्दर्य-युग के उत्तर काल में कवि की दृष्टि युग-जीवन पर पड़ती है और यथार्थ की ओर उसका खिंचाव होता है। वह विश्व और मानव की संकीर्णता से उत्पन्न स्वार्थ-पीड़ा को दूर करने का एक सुझाव देता है सत्प्रवृत्तियों की स्थापना, भूत और आत्मा का समन्वय- पूर्व और पश्चिम का समन्वय। और कला और विज्ञान का समन्वय इसलिए इस युग का विकास-क्रम प्रकृति से मानव तक है। वह पहले प्रकृति में माँ के दर्शन करता है और इस युग की अन्तिम रचना युगान्त में आते आते उसका केन्द्र मानव बन जाता है।

युगान्त

युगान्त कवि के सौन्दर्य-युग की अन्तिम और प्रगति-युग की प्रारम्भिक रचना है। इसमें प्रगति-युग के प्रारम्भ होने की भूमिका है। कवि स्वयं कहता है:—

"युगांत में मैं निश्चयरूप से इस परिणाम तक पहुँच गया था कि मानव सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त होने को है और नवीन-युग का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है।"

'युगांत' की अधिकांश रचनाएं सन् १९३४ और ३५ के समय लिखित हैं। कवि के सौन्दर्य-युग में चिन्तन का प्रारम्भ 'गुंजन' से होता है। 'गुंजन'

में उसके चिन्तन में सत्य की व्यक्तिगत साधना है, 'ज्योत्स्ना' में उसका सार्व-भौम रूप है और 'युगांत' के चिन्तन की प्रधानता मानव के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण के रूप में प्रगट हुई है। इसलिए 'युगांत' कवि की चिंतन-प्रधान कविताओं का संग्रह है। इसमें मात्र 'सुन्दरम्' ही कवि का आदर्श नहीं है। वह 'सत्यम्' और विशेषतया 'शिवम्' की ओर भी आकर्षित होता है।

इसमें कवि मंगल की कामना करता है :—

गा कोकिल, बरसा पावक कण!
नए-भए हो जीर्ण-पुरातन
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़ बंधन
पावक-पग धर आए नूतन
हो पल्लवित नवल मानव-पन"

युगांत का चिंतन और दर्शन नीरस नहीं है। वह एक कवि का चिंतन, और दर्शन है इसलिए हृदय का आवेश है। वह कहता है—

हंस देगा स्वर्णिम वज्र लौह
छू मानव-आत्मा का प्रकाश

बापू के प्रति संग्रह की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविता है। यह ओड (ode) शैली की कविता है जिसमें संबोधनों की अधिकता रहती है। मानव-जीवन के प्रति कवि का जो दृष्टिकोण है वह इस कविता में बोल उठा है। कवि की आध्यात्मिकता और भौतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए एक मानसिक बेचैनी दोनों का ही सैद्धांतिक काव्यरूप इस कविता में अभिव्यक्त है :—

हे राज्य, प्रजा, जन, साम्यतन्त्र
शासन चालन के कृतक-यान;
मानस, मानुपी, विकास शास्त्र;
है तुलनात्मक सापेक्ष-ज्ञान;
भौतिक विज्ञानों की प्रसूति
जीवन-उपकरण चयन प्रधान;
मथ सूक्ष्म-स्थूल-जग, बोले तुम
मानव, मानवता का विधान!
आए, तुम मुक्त पुरुष, कहने
मिथ्या जड़-बन्धन, सत्य राम
नानृतं जयति, सत्यं मा भैः,
जय ज्ञान ज्योति, तुमको प्रणाम!

इस प्रकार 'युगांत' में कवि के मानववादी दृष्टिकोण से गांधीवाद के प्रति आकर्षण विद्यमान है।

इसमें बसंत, तितली, छाया, शुक्र ग्रामों का झुरमुट और संध्या आदि प्रकृति-सौन्दर्य की सुंदर रचनाएं भी हैं जो कवि के प्रकृति-प्रेम की परिचायक है परन्तु इसमें कवि का प्रकृति के प्रति जो दृष्टिकोण है उसमें परिवर्तन हो गया है। भाषा में ओज, और शब्दों में व्यंजना शक्ति की प्रधानता है।

'वीणा' से 'युगांत' तक कवि का विकास प्रकृति के मानव की ओर, कल्पना से चिंतन की ओर, नारी-कला से पौरुष कला की ओर है। परन्तु उसमें सौंदर्य भावनाओं की प्रधानता है और अन्त में उसका दृष्टिकोण भूत और आत्मा के समन्वय की ओर उन्मुख होता है, जिस पर गांधीवाद का स्पष्ट प्रभाव है, जिसमें भूत में चेतना और शरीर में आत्मा समाज में व्यक्ति की ओर आकर्षण है और नवयुग के निर्माण की मांगलिक भावना के आधार ये ही केन्द्र है।

सौंदर्य-युग में पंत ने भाषा और छंद के क्षेत्र में नये प्रयोग किये। खड़ी बोली में एक कोमल शब्द ध्वनि प्रवाह के वे आविष्कारक हैं। अनेक पुलिंग शब्दों को सौंदर्य भावना से प्रेरित होकर स्त्रीलिंग में प्रयोग किया है। शब्द-योजना में शैली और कीट्स के सौंदर्यबोधक शब्दों की तरह हिंदी में भी समास और संधि के नियमों को अपने प्रयोग के अनुकूल परिवर्तित करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार यद्यपि छन्दों के प्रयोग में पंत ने रीतिकालीन रूढ़ियों का खण्डन किया है फिर भी छंद को उन्होंने आवश्यक समझा है, कविता के नए रूप में पुराने छंदविधान को भी अपनाया है। भाषा, छंद और भाव सभी में इस युग की रचनाओं में सौंदर्यभावना की प्रधानता है। इस युग में भाषा और भाव की नूतन रमणीयता और काल्पनिक सुंदरता ही कवि के काव्यशिल्प और शैली की विशेषता है।

प्रगति युग : द्वितीय युग

रचनाओं के सौन्दर्य-युग की अन्तिम कृति 'युगान्त' में कवि गाँधीवाद से प्रभावित दिखाई देता है। उसने असहयोग आन्दोलन में ही कालेज की शिक्षा को अधूरी छोड़ दिया था। भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन तीव्रगति से बढ़ रहा था और स्वाधीन भारत के नव निर्माण के लिए अनेक प्रकार के स्वप्न लिए जा रहे थे। 'पराधीन से मुक्ति' का एक लक्ष्य मानकर भी राजनीतिक क्षेत्र में विभिन्न-दलों ने साधन के रूप में विभिन्न-विचार धाराओं को अपनाया। रूस में होने वाली समाजवादी क्रान्ति ने भारतीय नवयुवकों को अपनी ओर आकर्षित किया और वे उस समय गाँधी को अपना नेता मानते हुए भी समाज-

वादी विचार के बने। समाजवादी विचारधारा में भी दो वर्ग थे—एक तो क्रान्ति के लिए हिंसा और अहिंसा सभी उपयुक्त समझता था और उसके वैधानिक तरीके या गाँधी के अहिंसक असहयोग के मार्ग को साधन के रूप में अपनाने का पक्षपाती था इस प्रकार साधनों के ऊपर विवाद और विचार विनिमय शुरु हुए जिनसे भारतीय विचार-जगत में अनेक विचारधाराओं ने प्रवेश किया। मार्क्सवाद, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, सुधारवादी समाजवाद, साम्यवाद आदि ने भारतीय-साहित्य और विचार क्षेत्र में क्रान्ति करदी। स्वाभाविक था नई राजनीतिक चेतना साहित्य को भी अनुप्राणित करती। साम्यवादी विचारधारा ने शोषण और अन्याय के प्रति विद्रोह की भावना जाग्रत कर साहित्य में नई प्रवृत्तियों को जन्म दिया। हिन्दी साहित्य में क्या भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में भी प्रगतिवाद एक विद्रोही चेतना के रूप में आगे बढ़ा है। शोषण की समाप्ति और साम्य की स्थापना—इसके मुख्य आधार हैं। शोषण की समाप्ति के लिए शोषक वर्ग की सत्ता से विद्रोह अनिवार्य है। इस युग में वर्ग दूसरों के श्रम के शोषण पर पलता है—इसलिए अनिवार्य है कि शोषितवर्ग-शोषकवर्ग के विरुद्ध विद्रोह कर उठे। साहित्य में इस वर्ग-चेतना का विश्लेषण करने पर प्रगतिवाद की विशेषताएं और स्पष्ट होती हैं। परन्तु जिस समय आधुनिक साहित्य में इस प्रवृत्ति का जन्म हुआ उस समय अंग्रेज़ों के साम्राज्य-वादी शोषण के विरुद्ध-विद्रोह की भावना वाले किसी भी साहित्य को प्रगतिवादी कह दिया जाता था परन्तु आज स्थिति दूसरी है—अंग्रेज़ों के जाने के बाद भी भारत में साम्राज्यवादी शोषण का अन्त नहीं हुआ है इसके प्रतिकूल अन्य सामाजिक आर्थिक शोषण जनता के जीवन को और अधिक संकटग्रस्त बनाते जा रहे हैं और यह स्थिति यहां ही नहीं संसार के अनेक देशों में है इसलिए ज्यों-ज्यों शोषण विभिन्न रूपों में सामने आता है त्यों त्यों उसके प्रति विद्रोह भी अपना रूप बदलता है। यही कारण है कि आज वह साहित्यकार, जिसने अंग्रेज़ों के भारत से विदा होने को ही साम्राज्यवादी शोषण का अन्त मानकर यह अनुभव नहीं किया कि जनता के दुख-द्वन्द्व को दूर करने करने के लिए मानवीय विकास के हित जिस जागरूक चेतना की आवश्यकता है, उसे न पनपने देने के लिए साहित्य समाज और संस्कृति के क्षेत्र में शोषण की अनेक प्रचलित परम्पराओं से विद्रोह करना है, उसे अनेक समालोचक प्रगतिवादी नहीं मानते। आज प्रगतिवाद का अर्थ है, साम्राज्यवादी, और पूंजीवादी शक्तियों द्वारा समाज, साहित्य और संस्कृति आदि जन-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादक श्रम-शक्तियों के होने वाले शोषण के प्रति जनता में विद्रोही भावना भर कर एक ऐसे मनुष्य के निर्माण की प्रेरणा देना जो तमाम

प्रतिरोधों पर विजय प्राप्त करके समता विराट विश्व-मानवता का निर्माण कर सके।

इस नई चेतना के प्रति 'पन्त' का बौद्धिक आकर्षण हुआ। शोषित के प्रति उनमें बौद्धिक सहानुभूति जागी और शोषण के विरुद्ध भावुक विद्रोह। इसीलिए वे विचारों से पूर्णतया मार्क्सवादी नहीं बन पाए उनके इस बौद्धिक जागरण में प्रगतिवादी विचारधारा के पूर्ण द्वन्द्वात्मक दर्शन की प्रेरणा का अभाव है। किन्तु प्रारम्भिक युग की कल्पना भावना और एकान्त सौन्दर्य भावना से हटकर कवि जन जीवन की ओर आकर्षित हुआ है। उसने ग्राम की पीड़ित और उपेक्षित जनता के चित्र खींचे और उनके प्रति बौद्धिक सहानुभूति दिखाते हुए शोषण के विरुद्ध एवं नवयुग की प्रशंसा में अपने उद्गार प्रगट किए। इस युग की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' प्रतिनिधि रचनाएं हैं।

युगवाणी

'युगवाणी' में शोषणहीन जन-युग की आकांक्षा, जनता की नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की माँग, मध्ययुगीन रूढ़ियों की प्राचीनता के प्रति विद्रोह है और निवास, भोजन और मानसिक विकास के अनिवार्य नैतिक-अधिकार का समर्थन है। कुछ आलोचकों ने युगवाणी को भारतीय साम्यवाद की वाणी कहा था और इस दृष्टि से उनके भविष्य के लिए बड़ी आशा बाँधी थी। परन्तु आज वे आलोचक पन्त में आध्यात्मिक परिवर्तन देखकर मानेंगे कि उस समय 'पन्त' का जन्म-जीवन के प्रति एक बौद्धिक खिंचाव हुआ था और शोषण एवं उत्पीड़न के विरुद्ध उनके उद्गार उस आकर्षण की प्रेरणा से ही उत्पन्न हुए थे। कवि ने स्पष्ट लिखा है:—

"मैंने युगवाणी में मध्ययुग की संकीर्ण नैतिकता का घोर खण्डन किया है। और जनता के मन में जो अंध विश्वास और मृत आदर्शों के प्रति मोह घर किए हैं, उसे छुड़ाने का प्रयत्न कर उन्हें नवीन जागरण का संदेश दिया है।"

इसलिए 'युगवाणी' पूर्ण सैद्धान्तिक निरूपण नहीं है—उसमें कवि ने नवीन जागरण की जिस प्रकार अनुभूति की है—उसे उसी प्रकार अभिव्यक्त करने का युगवाणी में सहज कवि-प्रयास किया है। वह उस युग की कल्पना करता है जहाँ:—

"श्रेणि में मानव नहीं विभाजित
धनबल से हो जहाँ न जन-श्रम शोषण
पूरित भवजीवन के निखिल-प्रयोजन

इस प्रकार वह शोषण और वर्गहीन मानव-समाज की कल्पना करता है है और आगे सामूहिक-कृषि का भी समर्थन करता है:—

कर्षक उद्धार पुण्य इच्छा है कल्पित
सामूहिक कृषि-कल्प अन्यथा कृष मृत।

उपरोक्त पंक्तियों में साम्यवाद की स्पष्ट प्रतिध्वनि है। ऐसे वर्गहीन समाज की स्थापना में सत्य और अहिंसा को इष्ट मानते हुए संक्रांति काल में 'जन-श्रम' की बात कह कर हिंसा की क्रान्ति शक्ति की ओर भी वह संकेत करता है।

नहीं जानता युग-विवर्त में
होगा कितना जन-क्षय
पर मनुष्य को सत्य-अहिंसा
इष्ट रहेंगे निश्चय।"

'युगवाणी' में बुद्धि की प्रधानता है और उसके अनुसार भाषा में एक विशेष प्रकार की चुस्ती है। किसान का यह शब्द चित्र है:—

वज्र मूढ़, जड़ भूत, हठी वृष बांधव कर्षक
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक

इस किसान के मूर्तरूप में दयनीय स्थिति के प्रति बौद्धिक सहानुभूति है। इसी प्रकार मध्यवर्ग का चित्र है:—

'मध्य वर्ग का मानव, वह परिजन पत्नी प्रिय'

'युगवाणी' की भाषा में सूक्ष्मता और विश्लेषण की शक्ति है, जिसे 'पन्त' ने काव्य का एक संस्कार और अलंकार माना है। युगवाणी में भौतिकता के प्रति प्रबल आकर्षण होते हुए भी कवि आत्मा के प्रति आस्था रखता है इसलिए 'युगवाणी' पूर्ण भौतिक दर्शन का सैद्धान्तिक निरूपण नहीं हुआ है और उसमें अध्यात्म दर्शन के भौतिक दर्शन के समन्वय के प्रयत्न का आभास मिलता है। अनुभूति के परिवर्तन के साथ अभिव्यक्ति के प्रकार में भी परिवर्तन होता है। यद्यपि 'युगवाणी' की शैली में सौन्दर्य युग की रचनाओं जैसा मांसल सौन्दर्य नहीं फिर भी उसमें बुद्धि-रस का प्रखर आलोक है जो सरलता से चित्रांकन और विश्लेशरण करता है। युगवाणी में सिद्धांत और चिन्तन की प्रमुखता है।

ग्राम्या

परन्तु ग्राम्या में यही शैली भावात्मक हो गयी है। 'ग्राम्या में' ग्राम-जीवन का दर्शन है। ग्रामीण जीवन के विभिन्न रूपों और कुरूपों के सुन्दर शब्द-चित्र और भाव-चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। ग्रामीणों के उत्पीडन, बेबसी और वेदना के प्रति कवि की मार्मिक सहानुभूति है। यद्यपि 'ग्राम्या' में भी कवि-दर्शक ही है परन्तु बुद्धि के आसन पर बैठ कर भी वह हृदय की आंखों से जीवन के दर्शन करता

है। कवि पीड़ा, दुख और दैन्य से भरे हुए ग्राम के प्रति संवेदनशील है वह उसके कुरूप और सुरूप दोनों को अपनी दृष्टि में स्थान देता है। ग्राम, ग्राम कवि ग्राम-चित्र आदि कविताओं में ग्राम के विराट रूप के विविध चित्र हैं। कवि की घोषणा है :—

मनुष्यत्व के मूल तत्व ग्रामों में ही अन्तर्हित
उपादान भावी संस्कृति के भरे यहां हैं अविकृत

ग्राम के विराट रूप के विविध चित्रों के अतिरिक्त ग्रामीण व्यक्तियों के भी अनेक मार्मिक चित्र हैं जो ग्राम के अतिरिक्त जीवन की हलचल को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। ग्रामवधू, कठपुतले, वह बुड्ढा, मजदूरनी और ग्राम नारी आदि ग्रामीण व्यक्तित्व के सजीव चित्र हैं। ग्राम संस्कृति के विभिन्न चित्र भी ग्राम्या में प्रस्तुत किए गए हैं। धोबियों, चमारों और कहारों के नृत्य पर लिखी गई कविताएँ ग्राम के लोक नृत्यों के विविध दृश्य सामने खड़ा कर देती हैं। आधुनिक युग के काव्य-साहित्य में लोक जीवन पर ऐसी पुष्ट-स्फुट कविताएँ किसी अन्य कवि ने नहीं लिखीं। 'ग्राम्या' भारतीय ग्राम का चित्र है, उस चित्र में बुद्धि और विवेकजन्य करुण सहानुभूति की रेखाओं में भावना के रंग भरे गए हैं। युगवाणी में सिद्धांतों का स्फुट-निरूपण है और चिंतन है। 'ग्राम्या' में वह लोक जीवन है जिसके लिए कवि सिद्धांतों का चिंतन करता है। युगवाणी बुद्धि है तो 'ग्राम्या' भाव। पहला सिद्धांत है और दूसरा जीवित आधार। कला की दृष्टि से भी ग्राम्या में लोक रस की प्रधानता और भाषा में ग्राम-चित्रों को प्रस्तुत करने की ऐसे शब्दों की योजना, जिनमें ग्राम-जीवन ध्वनित हो उठे। शैली में निरीक्षण और सूक्ष्मता तक पहुँचने की विशेषता है और वह भावात्मक है। पन्त का प्रकृति-प्रेम इसमें लोक-प्रेम बनकर उद्भूत हुआ है परन्तु लोक-प्रेम उनकी बुद्धि का आकर्षण है इसलिए प्रकृति सौन्दर्य के वर्णन में पन्त का जो सहज माधुर्य रहता है, वह इसमें नहीं। इन चित्रों में करुणा का स्पर्श है।

तीसरा युग : अध्यात्म युग

परन्तु इस बौद्धिक जागरण में पुनः परिवर्तन हुआ; क्यों कि उसमें ऐसे तत्व पहले से ही वर्तमान थे। प्रगतियुग की रचनाओं में वे गांधी-वाद से साम्यवाद की ओर आकर्षित हुए थे परन्तु उस समय भी उन्होंने भूत और आत्मा के समन्वय का संकेत अनेक स्थानों पर किया था। सन् ४० तक 'ग्राम्या' रचना समाप्त हो चुकी थी और उसके बाद देश में विशेष उथल-पुथल हुई, सन् ४२ के आन्दोलन का प्रभाव देश के मस्तिष्क पर पड़ा। कवि पन्त बीच में कुछ अस्वस्थ रहे और कुछ दिनों पाँडुचेरी के सन्त अरविंद के सम्पर्क में रहे। उन्होंने योगी अरविंद की आध्यात्मिक साधना का कविता द्वारा अभिनन्दन

किया। लोक-जीवन से वे पुनः दूर से हो गए। इस बीच अस्वस्थ रहने के कारण वे एकान्त में अधिक रहे। ऐसी स्थिति में मनन-शील व्यक्ति का दृष्टिकोण दार्शनिक बन जाता है। उसका एकान्त उसे अंतर्मुख बना देता है। रचनाओं के प्रगति-युग में कवि का मूर्त-समस्याओं और साम्यवादी लोक-जीवन दर्शन की ओर जो खिन्चाव था, वह युगीन प्रभाव से उत्पन्न अस्थायी बौद्धिक जागरण मात्र था। इससे उसे अपने सहज रूप में बदलते देर नहीं लगी। 'ज्योत्स्ना' में जिस आध्यात्मिक मानववाद के दर्शन हुए थे, वही इस युग में समन्वय के आधार पर विकसित होने वाला अन्तर्चेतनावादी नवमानव-वाद बन गया। पंत का अध्यात्मवाद का आधार विरक्ति नहीं, मानव के मानसिक विकास के प्रति मनोवैज्ञानिक अनुरक्ति है। पंत मानते हैं कि बाह्य के विकास के लिये अन्तर का विकास होना अनिवार्य है। अविकसित चेतना पार्थिव-विकास में सहायता नहीं कर सकती। इसलिये वे भूत और चेतना, आध्यात्म और भौतिकता और मन और मस्तिष्क का समन्वय करके एक पूर्ण मानवीय विकास की कल्पना करते हैं। उनका आध्यात्मवाद मनोवैज्ञानिक आध्यात्मवाद है, जो अन्तश्चेतना के विकास के आधार पार्थिव मानवता के पूर्ण विकास के लिये उत्सुक है। इसलिये उसमें भूतसृष्टि के प्रति विरक्ति नहीं, अनुरक्ति है—एक सात्विक सुधारवादी अनुरक्ति।

इस युग की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं—'स्वर्ण धूलि' स्वर्ण-किरण' और 'उत्तरा'। कवि स्वर्ण शब्द का प्रयोग चेतना के प्रतीक के रूप में किया है। 'उत्तरा' की भूमिका में कवि ने अन्तश्चेतनावादी नवमानववाद को स्पष्ट किया है। स्वर्ण धूलि' की अधिकाँश रचनाओं का आधार सामाजिक है और स्वर्ण किरण में चेतना प्रधान कविताएं हैं। 'स्वर्ण किरण' की सर्वोदय शीर्षक रचना में कवि ने अपने आध्यात्मिक मानववाद के दर्शन को प्रस्तुत किया है।

भू रचना का भूतिपाद युग
हुआ विश्व-इतिहास में उदित
सहिष्णुता सद्भाव शांति के
हों गत संस्कृत धर्म समन्वित!
वृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम
मानवता को करे न खण्डित
बहिर्नयन विज्ञान हो महत्
अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित
एक निखिल धरणी का जीवन
एक मनुजता का संघर्षण

विपुल ज्ञान संग्रह भव-पथ का
विश्व क्षेम का करे उन्नयन

इसमें स्पष्ट है कि कवि विश्व को अखिल मानवता के भेदों को मिटा कर एक विश्व संस्कृति के निर्माण के लिये उत्सुक है, पूर्व और पश्चिम के देश-भेद विज्ञान और ज्ञान के बुद्धि-भेद और धरती और मानवता के सांस्कृतिक भेद को अन्तश्चेतना के समन्वय सूत्र से जोड़ कर विश्व संस्कृति का वह चरम उन्नयन चाहता है।

'स्वर्ण किरण' में प्रकृति और जीवन के प्रति आध्यात्मिक आकर्षण है। अनुभूति और चिन्तन की प्रमुखता है, मांसल सौन्दर्य की कल्पना की न्यूनता है। 'स्वर्ण किरण' में उपनिषद की भावनाओं से अनुप्राणित अध्यात्मिक चेतना प्रधान कविताएं हैं इसमें प्रकृति की चेतना के प्रति पूजा की भावना है। 'स्वर्ण-धूलि' में सामाजिक उत्थान की रचनाएं भी हैं। 'पतिता' एक ऐसी ही रचना है जिसमें नारी की शारीरिक पवित्रता को आत्मिक पवित्रता की दृष्टि से देखने का आग्रह है। इसके अतिरिक्त 'स्वर्ण-धूलि' में चांदनी, मर्मव्यथा, स्वत्व बन्धन आदि गीति काव्य की दृष्टि से श्रेष्ठ रचनाएं हैं। इन दोनों 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्ण-किरण' में जीवन के बाह्य और अन्तर पक्षों का सूक्ष्म विश्लेषण है।

'उत्तरा' और 'युगपथ' आध्यात्मिक चेतना प्रधान युग की ही कृतियां हैं। इनमें जीवन सृष्टि की भूत और चेतन प्रगति का समन्वय करने की साधना है। कवि भूत का सुधार चेतन के विकास से शरीर का संस्कार मन के विकास से करने का स्वप्न लेता है और इस प्रकार वह जीवन के प्रति एक मध्यमार्ग अपनाता है, इसमें द्वन्द्व कम, संघर्ष कम, सन्धि सौम्यता अधिक है। आज वे समझौते की बात करते हैं:—

'साहित्य के क्षेत्र में मान्यताओं की दृष्टि से हम मार्क्सवाद या अध्यात्मवाद की दुहाई देकर जिन वादग्रस्त नक्शों में उलझ रहे हैं, उससे अच्छा यह होगा कि हम एक दूसरे के दृष्टिकोणों का आदर करते हुए दोनों की सच्चाई स्वीकार करें।

'मैं वर्गहीन समाजिक विधान के साथ ही मानव, अहन्ता के विधान की भी नवीन चेतना के रूप में जन-संघर्ष के अतिरिक्त अन्तर्मानव का संघर्ष देखता हूँ।'

इस प्रकार वह बाह्य संघर्ष के साथ एक आध्यात्मिक संघर्ष के भी दर्शन करता है और भावी चेतन विकास युग के जन्म के लक्षण वर्तमान संघर्षरत सृष्टि के गर्भ में करता है:—

जाने से पहले ही तुम आ गये
यहां इस स्वर्णधरा पर

मरने से पहले तुमने नव जन्म ले लिया
धन्य तुम्हें हे भावी के नारीनर

काट रहे तुम अन्धकार को
छांट रहे मृत आदर्शों को
काव्य चेतना में डुबा रहे
युग मानव के संघर्षों को।

इसी दृष्टि से 'युगपथ' में कवि कहता है:—

मैं कहने आई रुको रुको
मति ही में मत बह जाओ

ओ इच्छा से पागल सरिते
सोचो मन को समझाओ।

इस प्रकार 'युगपथ' और 'उत्तरा' में वर्गगत चेतनाओं के समन्वय का आध्यात्मिक आदर्श प्रस्तुत किया गया है जो कवि की संघर्ष से पलायन की मूल प्रवृत्ति का द्योतक है—इसीलिये अध्यात्मयुग की रचनाओं में सौम्यता, शान्त-भाव और अलौकिक ज्योति का प्रतिबिम्ब है, लोक-जीवन के यथार्थ संघर्ष का प्रतिबिम्ब कम।

"इस प्रकार 'उतरा' और 'युगपथ' दोनों ही चिन्तन प्रधान कवि के दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने वाली अन्तश्चेतनावादी कविताएं हैं, जिनकी भाषा में सूक्ष्म बौद्धिक विश्लेषण की शक्ति है, माँसल सौंदर्य का आकर्षण कम। इधर पन्तजी का सम्बन्ध रेडियो से हो गया है और उसके लिये उन्होंने कई 'ध्वनि-रूपक' लिखे हैं, जिन्हें 'ज्योत्स्ना' की परम्परा की लघु रचनाएं कह सकते हैं। भावनाओं के और प्रकृति के उपकरणों के प्रतीक इसके पात्र होते हैं, जिनमें श्रव्य के गुण हैं, दृश्य के नहीं। 'विद्युत-वसना' उनके ध्वनि रूपक का एक उदाहरण है।

इस प्रकार पन्त की रचनाओं का तीन युगों में विभाजन करके देखने से उनकी कला और विचारधारा के विकास का संक्षिप्त इतिहास हमारे सामने आ जाता है प्रथम युग में सौंदर्य भावना की प्रधानता है परन्तु उसके उत्तर काल में चिन्तन और बुद्धि का जागरण प्रारम्भ हो जाता है, जो प्रगतियुग (द्वितीययुग)

में प्रौढ़ता को प्राप्त करता है। जो मानववाद सौन्दर्य युग में जन्म लेता है वह प्रगतियुग में लोक जीवन के रस से प्लावित होता है, जिसका वौद्धिक दर्शन कवि साम्यवाद से प्रभावित दृष्टि से करता है। और तृतीय युग—अध्यात्म युग है। जो मनोवैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर आधारित मानववाद है जिसमें चेतना और आदर्श का समन्वय है जो पन्त का नवमानववाद है।

रामचरण महेन्द्र

पन्त की एकांकी कला

पन्त की एकांकियों का आधार मुख्यतः सामाजिक समस्याएँ हैं, गौण रूप से उनमें राष्ट्रीय एवं आध्यात्मिक भावनाएँ भी निहित हैं। कुशल लेखक ने एकांकी-कला का विवेचन करते हुए कवि के सभी एकांकियों का सच्चा मूल्यांकन प्रस्तुत किया है।

पन्त के एकांकियों की दो विशेषताएँ हमें अनायास ही आकर्षित करती हैं— उनका नैतिक आदर्शवाद, जो उनकी सामाजिक सुधारवादी वृत्ति का परिणाम है, तथा प्रतीकात्मक-संकेतों से युक्त शैली के अभिनव प्रयोग। ये दोनों गुण सर्वत्र उपलब्ध हैं, चाहे उनके 'युग-पुरुष,' 'छाया'; 'मानसी' को लें, अथवा पाँच लम्बे दृश्यों के 'ज्योत्स्ना' रूपक का अनुशीलन करें।

पंत के एकांकियों का आधार मुख्यतः सामाजिक समस्याएँ हैं, गौण रूप से आपने राष्ट्रीयता के क्षेत्र में भी छींटाकशी की है। समाज के क्षेत्र में अनेक छोटी बड़ी समस्याओं को उठाया गया है, तथा संकेत रूप में उनका हल भी प्रदान किया गया है। सामाजिक धर्मान्धता, अंध-विश्वास, जीर्णशीर्ण रूढ़ियों से प्रादुर्भूत आधुनिक संसार की समस्याओं को सुलझाने के लिए उन्होंने कुछ मौलिक सिद्धान्तों की सृष्टि की है, इनके फलस्वरूप 'ज्योत्स्ना' रूपक की सृष्टि हुई। 'युग-पुरुष' में धर्म और सम्प्रदायों के झगड़ों से ऊपर राजनैतिक, आर्थिक कोलाहल से परे, पुराने अंधविश्वासों और मान्यताओं को लाँघ कर जो एक नया इन्सान आज भारत में जन्म ले रहा है, उसकी एक झाँकी प्रस्तुत की गई है। यह हमारे भीतर से उठने वाली सच्ची मानवता और संस्कृति की पुकार है। 'मानसी' मानव के अन्तर्जगत् से सम्बन्धित है। 'छाया' भारतीय विवाह-पद्धति, नारी की असमर्थता, विवशता और कसक-पीड़ा की रोती हुई तस्वीर है। यह समाज के शिकंजे में फँसी हिन्दू नारी की ज़िन्दा कब्र है, जो जीवन के रूप में न जाने कब से दारुण मृत्यु तथा आत्महनन का भार ढो रही है। यह हमारे समाज में नारी के मूक दयनीय जीवन का एक करुण उदाहरण है, जिसके हृदय की प्रत्येक धड़कन में युग-युग से नारी की निःशब्द व्यथा छटपटा रही है।

इनमें भद्र परिवारों तथा शिक्षित समाज को आधार बनाया गया है। भद्र जीवन के असंतोष, प्रेम, ईर्ष्या, सन्देह का सफल चित्रण है। हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क के तर्क का संघर्ष है, भावनाओं की अपेक्षा बुद्धि का प्रकाश है। कल्पना तथा रोमांस के लोक में [illegible] आलोचक बन गये हैं। [illegible] युग की विचार-धारा और सामाजिक विचारों का

ज्ञान कराना, व्यवहारिकता से उन रूढ़ियों पर प्रहार करना, जनता में जागरण प्रस्तुत करना उनका उद्देश्य है।

दुःखान्त तथा सुखान्त दोनों ही शैलियों के अन्तर्गत पंत जी ने सुधारक एकांकियों के सफल प्रयोग प्रस्तुत किए हैं। 'छाया' दुःखान्त शैली का एक गौरव-पूर्ण प्रयोग है। 'युग-पुरुष' मध्य में करुण होता हुआ अन्त में एक निश्चित् आदर्श की झांकी देकर सुखान्त बना दिया गया है। कवित्व के निखार, काव्य-कल्पना तथा भावुकता ने इसका अन्त प्रभावोत्पादक बना दिया है।

विचार-धारा एवं समस्याएँ

'युग-पुरुष' एक मध्य श्रेणी के परिवार की विवाह समस्या से सम्बन्धित है। इसमें शिबू महेश, यूसुफ, लक्ष्मी, प्रभा इत्यादि चार पात्र हैं। यूसुफ और प्रभा बचपने से साथ साथ खेल कर बड़े हुए हैं। हिन्दू कन्या प्रभा का विवाह यूसुफ मुसलमान से नहीं हो सकता। धार्मिक रूढ़ियाँ मार्ग में बाधक हैं। इसी प्रश्न को गंभीरता से लें, तो यह युसूफ और प्रभा का व्यक्तिगत प्रश्न नहीं यह तो सम्पूर्ण भारत का प्रश्न है। धर्म की खाइयाँ खोदने के कारण ही देश के दो टुकड़े हुए हैं। लेकिन हम सब को यह सब जानते बूझते भी केंचुए की चाल से आगे बढ़ने वाले समाज के भीतर रहना होता है, हमारे भीतरी दुःखों पर भी बिना जाने ही एक नकाब पड़ा रहता है। यूसुफ इसी परेशानी में एक शहर से दूसरे शहर की खाक छानता फिरता है, किन्तु इसके रंज का निचार घटने के बदले बढ़ता ही रहता है। शिबू की मा लक्ष्मी पुराने विचारों की है। वह इसे निन्द्य समझती है। विवाह अन्यत्र पक्का हो जाता है, लेकिन हो नहीं पाता। प्रभा और यूसुफ देश-सेवा की बलिवेदी पर आत्म-बलिदान करते हैं। धर्म के पारस्परिक भेद-भाव, घृणा, द्वेष विस्मृत कर देश में नये प्राणों का संचार करने का महाव्रत धारण करते हैं।

समाज, वर्ग, सम्प्रदाय, रूढ़िगत संस्कारों के विरुद्ध इस एकांकी की समस्या का हल शिबू के इस वक्तव्य से देखिये। प्रसंग में पन्त ने अपना जीवन-दर्शन, आने वाले मानव का स्वरूप, नवीन जीवन-दृष्टि और बौद्धिक क्रान्ति की सूचना दी है:—

शिबू—"मैंने निश्चय कर लिया है कि प्रभा की शादी नहीं होगी"'प्रभा और यूसुफ जैसे अनेक युवक-युवतियों के अन्य बलिदान की ज़रूरत आज हमारे देश को है"'उन्हें अपने हृदय का रक्त दान देकर, खून की कमी से मुर्दादिल, आज की बीमार मनुष्यता में नया जीवन भरना है। धर्मों और सम्प्रदायों के झगड़ों के ऊपर जो एक नया आदमी—एक बड़ा इन्सान—आज मनुष्य में

भीतर जन्म ले रहा है—उसमें इन्हें—आपस के घृणा द्वेष को भुला कर—नए प्राणों का संचार करना होगा"'आज यही हमारे भीतर उठने वाली संस्कृति की पुकार है (युग-पुरुष लाठी को ठक से मंच पर मारता है) क्यों यूसुफ़, तुम क्या कहते हो?

यूसुफ़—(गद्-गद् स्वर से)"'मैं कहता हूँ आज हमें गाँवों में क्या कुछ कम काम करना है!"'गाँवों की सफ़ाई का इन्तज़ाम है"'जनाने मर्दाने अस्पताल खुलवाने हैं, बच्चों की शिक्षा दीक्षा का प्रबन्ध करना है। खेतों की पैदावार बढ़ानी है, गाँवों के उत्सवों और त्योहारों को सँवारना है। जनता में नाच गानों और भूले हुए कला-कौशल को जगाना है, और भी बहुत से काम हैं—मैं कहता हूँ, क्या यहाँ की इन्सानियत अशिक्षा के अंधकार में और गरीबी के दल-दल में हमेशा यों ही घिनौने कीड़ों की तरह रेंगती रहेगी?

शिबू—तब ठीक है! आज जो युग पुरुष मनुष्य के भीतर से क़दम बढ़ा रहा है, वह समुद्र में तैरते हुए बरफ़ के उस भारी चट्टान की तरह है, जिसका सबसे बड़ा भाग अभी हमारी चेतना की गहराइयों की तहों के नीचे तैर रहा है। हम जो कुछ देख रहे हैं, वह उसका सब से छोटा ऊपरी हिस्सा भर है—आगे की पीढ़ियाँ उस युग पुरुष की विराट् महानता को अधिक पहचान सकेंगी।—उनकी आँखों के सामने नवीन मानवता के प्रकाश से जगमगाता हुआ, उसका ज्योतिर्मय स्वरूप धीरे-धीरे नाचने लगेगा।—तब आज के धर्म, नीति, सत्य, मिथ्या के वाद-विवादों में खोये हुए, रोटी के टुकड़े के लिए मोहताज़, हृदय और मन की भूख से घायल, इन ठिगने, बौने, बिना रीढ़ के पुतले के बदले हम धरती पर आने वाले, चौड़े सीने से, संस्कृत और अहिंसक मनुष्य को चलता फिरता देखेंगे—जिनके भाल पर मनुष्य-मात्र का गौरव झलकता होगा—जिसका धर्म मानव-प्रेम और जीवन सुन्दरता का आनन्द होगा—।"

उपरोक्त उद्धरण में आने वाले नये मानव की, उसके धर्म, दर्शन, भावना और महानता की एक झाँकी दी गई है। पन्त की कल्पना के भारत में अतीत गौरव, स्वच्छता, शिक्षा, सत्य, अहिंसा, समृद्धि का उज्ज्वल रूप वर्तमान है। वे गाँवों तथा शहरों के मध्य की एक नवीन सृष्टि चाहते हैं, जहाँ सचाई के साथ शिक्षा, सफ़ाई, सुन्दरता सम्मिश्रित हो कर दूर तक फैली हुई खेतों की हरियाली, पर जाड़ों की धूप की तरह हँसती हुई आज की ज़िन्दगी का चेहरा परिवर्तित हो जायेगा। पन्त की प्रेरणा रामराज्य से है, पर उसमें सरस स्निग्धता के समावेश की कल्पना उनकी मौलिक देन है।

समाज तथा उसकी रुढ़ियों की चट्टानों में दबे हुए मनुष्य के संघर्ष को पन्त ने यथार्थवादी नेत्रों से देखा है। शिबू की क्रान्ति एक ऐसे व्यक्ति की क्रान्ति है,

जो समाज की कठोर सामंती शृंखलाओं के विरुद्ध विद्रोह करती है। शिबू का जलता विद्रोह व्यक्ति समाज के खंड खंड कर डालना चाहता है। उनका इन्सानियत का सपना नई परिस्थितियों की प्रतिक्रिया से जन्म लेता है। सामाजिक क्रान्ति का संकेत करता हुआ 'युग-पुरुष' का एक उद्धरण देखिये—

"यूसुफ—"ओफ़ ! इन महीनों में गंगा जी में जितना पानी नहीं बहा, उससे भी ज्यादा हमारे देश का खून बह चुका है—लेकिन प्रभो ! इतनी नफ़रत, इतनी लूट मार—इतने आँसू—इतने धुएँ के बादल ! इतने बड़े ज़ुल्म और हैवानियत की आँधी, जैसे इसे हिलाये बिना ही इसके ऊपर से निकल गई। गाँवों की लहलहाती हुई हरियाली में पला हुआ इन्सानियत का ख्वाब अपने मुहब्बत के पंख फैला कर इस ज़माने के ज़ुल्मों को अपने भीतर छिपाये हुए है !

शिबू—ये सब हमें ठन्डे दिल से समझने की बातें हैं—एक ज़माने का नकशा होता है, एक इन्सानियत की पुकार—एक ओर व्यक्ति है, एक ओर समाज। एक ओर मनुष्य के हृदय की सच्ची, सनातन, पवित्र भावना है, दूसरी ओर मिटती हुई पिछली दुनियाँ के मज़हबों, कौमों, नीतियों और चलनों का आग का विरोध का झगड़ा—एक ओर ईश्वर का संकेत है, दूसरी ओर आदमी के घमण्ड की हुंकार—एक ओर है अहिंसा, सत्य का आत्मबल, दूसरी ओर मक्कारी, फ़रेबी और ज़ुल्मों की ताकतों का मोर्चा—यह है दो जीती जागती कौमों के दिलों की धड़कन को मिलाने और उन्हें एक बड़ी ज़िन्दगी के सुरों में बाँधने का सवाल ! आज भीतर से आने वाली एक नई रोशनी, एक नई ज़िन्दगी की सुबह को मुर्दों के खड़े किए हुए नफ़रत और अँधियाले के पहाड़ रोक रहे हैं।"

और इस समस्या का हल यूसुफ़ देता है। पन्त जी के अनुसार "यह मज़हब या महज़ कौमों के लिए केवल रास्ता बनाने का ही प्रश्न नहीं है। यह है, कब, किस हद तक आगे बढ़ा जाय। समाज को किस तरह अपने साथ लिया जाय।" इसके सम्बन्ध में यूसुफ़ कहता है—

यूसुफ़— इसका सवाल ! आज हमें अपने देश के लिए कड़वी से कड़वी घूँट को भी स्वादिष्ट और मीठी बना देना है। यह तभी हो सकता है जब हम समाज और व्यक्ति दोनों की कठिनाइयों को ठीक ठीक तोल सकें और उनकी मुसीबतों का अन्दाज़ लगा कर उन्हें नई ज़िन्दगी के ढाँचे में ढाल सकें। क्योंकि बहुत मुमकिन है कि राह बनाने के बदले हम खाई ही खोद बैठें।"

'युग पुरुष' में पंत ने समाज, धर्म, रूढ़ियों के अतिरिक्त राजनीति पर भी दृष्टि डाली है। उनके राजनीतिक विचारों का आभास यत्र तत्र मिलता है, यद्यपि यह गौण रूप में ही हुआ है। उनके अनुसार देश को बाह्य स्वराज्य तो प्राप्त

हो गया है, बाहरी शासक अवश्य चले गए हैं, किन्तु सांस्कृतिक और आन्तरिक दृष्टि से भारतीय अब भी गुलाम हैं। स्वराज्य पाने पर भी हमारी बुद्धि, हृदय विचार धारा रूढ़ियों की गुलाम है। हम नई बात ग्रहण करते हुए डरते हैं। पुरानी जीर्ण शीर्ण परम्पराओं के बन्धनों से मुक्त नहीं होना चाहते। 'युग-पुरुष' का एक प्रसंग देखिए—

शिबू— ''' नहीं सोचता था कि स्वराज्य पाने पर भी हम लोग स्वतन्त्र नहीं हो सके!

युसूफ़—धीरे धीरे ही तो सुधार होगा, भाइयो ?

शिबू—क्या सुधार होगा ? ... मैं शासन या अमन चैन की बातें नहीं कर रहा हूँ''' मैं देख रहा हूँ कि देश आगे बढ़ने के बदले दो तीन सौ साल और पीछे चला जा रहा है! '''हममें जो खराबियाँ कभी पहले रही होंगी, वे आज हमारे भीतर फिर से अपना सिर उठा कर हमारे राष्ट्रीय जीवन को बनने नहीं दे रही हैं। इतने गिरोहों, फिर कौमों, इतने मतों और विचारों में'''बल्कि इतने धर्मों और मूढ़ों में बँट कर आज हमारी राष्ट्रीय चेतना टुकड़े टुकड़े हो रही है।"

पंत जी के अनुसार स्वतन्त्रता का उन्मेष घर से होना चाहिए। हम घरों के बन्धन, अत्याचार छोड़ें, वर्ग धर्म के संघर्ष के ऊपर उठें। युग युग के बैर, कुभाव विलुप्त हो जावें। इस एकांकी का युग पुरुष धर्म, वर्ग, राजनीति के क्षुद्र दायरों से ऊपर विराट् मानवता का प्रतीक बन कर उपस्थित होता है। वह मानवता का उद्धार चाहता है मानवता की रक्षा, विकास तथा सामूहिक सर्वांगीण उन्नति ही 'युग पुरुष' का दिव्य सन्देश है। इसमें कवि पंत विचारक के रूप में प्रकट हुए हैं, दृष्टिकोण बौद्धिक है। वे एक नया सन्देश लेकर हमारे सामने आते हैं। हमारे सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की कमज़ोरी पर जैसे उंगली रख देते हैं।

'छाया' युगनारी का विवेचन है। इसकी समस्या गृहस्थी में होने वाले अत्याचार, और नारी की दुःखद, दयनीय, बेबसी की अवस्था का चित्रण है। सतीश सुनीता नाम की मध्यवर्गीय एक युवती से प्रेम करता था, किन्तु कुछ व्यक्तिगत कारणों से सुनीता का विवाह प्रमोद से हो जाता है। स्वयं सतीश ही सुनीता का परिचय प्रमोद से कराता है। खेल खेल में प्रमोद सुनीता को जीत लेता है। प्रमोद और सुनीता का विवाह हो जाता है। पुत्र भी उत्पन्न हो जाता है, पर सुनीता अपने सखा और प्रेमी सतीश को विस्मृत नहीं कर पाती। दोनों प्रेमी मिलते हैं। एक क्षण जीवन की कठोर यथार्थता को विस्मृत करना चाहते हैं, पर

सुनीता का पिता यह पसन्द नहीं करता। दोनों को विवश होकर पृथक् हो जाना पड़ता है।

इस एकांकी की समस्या मनोवैज्ञानिक है। विवाह के पश्चात् भी सुनीता अपने शैशव तथा यौवन की प्रथम स्नेह-अनुभूतियाँ अन्तर्जगत् से बाहर नहीं कर पाती। उसकी स्मृतियाँ बेबसी से करुण रुदन करती हैं। समाज उसे बांधे हुए है। उसके भाई, पिता, परिवार का नियन्त्रण उस पर है। वह दूसरे की पत्नी है। एक पुत्र की मां है, किन्तु उसका प्रेम समाज की चट्टानों के नीचे अब भी दबा हुआ दम तोड़ रहा है। सुनीता के निम्न शब्दों से पंत जी ने इस एकांकी का सार भर दिया है—"जीवन की वह भयानक छाया मैं ही हूँ···मैं जीवन के रूप में न जाने कब से दारुण मृत्यु तथा आत्महनन का भार ढो रही हूँ।" सुनीता पतनोन्मुख समाज के शिकंजों में जकड़ी हुई नारी का एक चित्र है। वह मानसिक दृष्टि से सच्चे आनन्द से वंचित, अस्वस्थ समाज की अंधप्रथाओं का शिकार, विकृत पुरुष के चंगुल में फँसी है। उसके हृदय के प्रत्येक धड़कन में युग युग से नारी की निःशब्द व्यथा छटपटा रही है।

नारी के उद्धार की समस्या का हल देते हुए इसी एकांकी में पंत जी ने सतीश के मुँह से कहलवाया है:—

"केवल हमारी स्त्रियों और विशेष कर नव-युवतियों को घर से बाहर इस बड़े सामाजिक जीवन में भी अपना स्थान बना लेना है। उनके बिना हमारा समाज एकदम अधूरा है। उन्हें पुरुषों के साथ नवीन लोक जीवन तथा मानव का निर्माण करने में हाथ बँटाना है···केवल इसी प्रकार हमारा गृहस्थ जीवन परिपूर्ण तथा आनन्द-मंगलमय बन सकता है···हम दाम्पत्य प्रेम तथा घरों में विभक्त पारिवारिक जीवन को जरूरत से ज्यादा महत्व देते हैं···और अपने असली और बड़े परिवार—उस सामाजिक जीवन को भूल गए हैं, जिसकी पसलियों के भीतर हमारे गृहस्थ-जीवन का हृदय धड़कता है···मैं चाहता हूँ कि लोकप्रिय निर्माण के इस महान् कार्य को अपना सको! हमारे देश में शिक्षित अशिक्षित स्त्रियों की पीढ़ियों के बीच में एक बहुत बड़ी खाई है। तुम्हारी पीढ़ी का काम है कि तुम नई पीढ़ी के लिए रास्ता बनाओ। अपने बाल बच्चों के लिए सुन्दर स्वरूप, सामाजिक जीवन का निर्माण करो।'

'युग पुरुष' तथा 'छाया' दोनों ही भारतीय वैवाहिक जीवन में क़ैद असमर्थ और निष्क्रिय बन्दिनी नारी के लिए नूतन सन्देश प्रदान करते हैं। यह सन्देश नये समाज, नये राष्ट्र और नये सिरे से परिवार का निर्माण है। इन एकांकियों के मध्य में कारावद्ध नारी की वेदना सिसकती है, किन्तु अन्त में

आशावाद का एक संदेश देकर वह आर्द्र-तरल-स्निग्धता में परिणत हो गई है। मानव जगत् में पंत जी नर की अपेक्षा नारी से अधिक प्रभावित हैं। सुनीता, प्रभा इत्यादि नर की चिर-प्रभुता तथा उसके द्वारा स्थापित रूढ़ियों की शिकार हैं।

'ज्योत्स्ना' पाश्चात्य ढंग का संकेतात्मक एकांकी है, जिसमें मनुष्य की भावनाएँ पात्रों के रूप में अवतरित होकर आधुनिक समस्याओं पर प्रकाश डालती हैं। यह लम्बा नाटक है, जिसे एकांकी के अन्तर्गत लिया जा सकता है। डा० नगेन्द्र ने इसके पाँच भागों को अंक माना है, किन्तु इन्हें पांच दृश्यों के रूप में माना जाय तो यह एक लम्बा एकांकी बन जाता है। स्वयं पंत जी की ओर से यह निर्देश नहीं है। आइये इसे पांच दृश्यों का एकांकी मान कर चलें।

इसका कथानक संक्षिप्त है "संसार में सर्वत्र ऊहापोह और घातक क्रान्ति देखकर इन्दु उसके शासन की बागडोर अपनी सहचरी ज्योत्स्ना को दे देता है, जो स्वर्ग से भू पर आकर पवन और सुरभि—अथवा स्वप्न और कल्पना की सहायता से संसार में प्रेम का नवीन स्वर्ग, सौंदर्य का नवीन आलोक, जीवन का नवीन आदर्श स्थापित कर देती है।"

पंत मानववादी विचारक हैं। मानव के साथ जगत् का कल्याण है। यदि मानव रूढ़ियों और पुराने संस्कारों से मुक्त होकर ऊँचा उठे तो मानव-समाज का कल्याण हो सकता है। मानवता के ह्रास का उल्लेख 'ज्योत्स्ना' में कई स्थानों पर है। आज के संसार के दो चित्र देखिए:—

ज्योत्स्ना इन्दु से निवेदन करती है—"मर्त्यलोक से मानवी भावनाएँ धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही हैं। प्रेम, विश्वास, सत्य, न्याय, सहयोग, और समत्व जो मनुष्य और आत्मा के देव-भोजन हैं, एकदम दुर्लभ हो गए हैं। पशुबल घृणा, द्वेष और अहंकार सर्वत्र आधिपत्य जमाये हैं। अंधविश्वासों की घोर अंधनिशा में चारों ओर जाति भेद, वर्ण भेद, धर्म-भाषा-भेद, देशाभिमान, वंशाभिमान, दानवों की तरह हिमाकार रूप धारण कर मानवता के जर्जर हृदय पर तांडव नृत्य कर रहे हैं। विश्व का विशाल आँगन, राष्ट्रवादों की गगन चुम्बी भित्तियों से अनेक संकीर्ण कारागारों में विभक्त हो गया है, जिनके शिखर पर दिन रात विनाश के बादल मंडरा रहे हैं। अर्थ और शक्ति के लोभ में पड़ कर संसार की सभ्यता ने मनुष्य जाति के उन्मूलन के लिए संहार की इतनी अधिक सामग्री शायद ही कभी एकत्रित की होगी।"

तीसरे दृश्य में स्वप्न ज्योत्स्ना को पृथ्वी का परिचय इन शब्दों में कराता है। इसमें पंत का व्यंग्य दर्शनीय है:—

"एक ओर धर्मान्धता, अंधविश्वास और जीर्ण रूढ़ियों से संग्राम चल रहा है, दूसरी ओर वैभव और राशि का मोह मनुष्य की छाती को लौह शृंखला की तरह जकड़े हुए है। बुद्धि का अहंकार, प्रखर त्रिशूल की तरह बढ़कर, मनुष्य के हृदय को स्वार्थ की नोंक से छेद रहा है···।"

अन्त में स्वप्न और कल्पना एक छाया प्रदर्शन द्वारा सुप्त मानव-जाति में नव संस्कारों को जाग्रत करते हैं। ये नवीन संस्कार भक्ति, शक्ति, दया, सत्य, श्रेय, सत्यानुराग, साधना, धर्म, निष्काम कर्म, करुणा, समता, स्नेह, कला इत्यादि हैं, इनके प्रसार द्वारा पंत जी विश्वबन्धुत्व का आदर्श उपस्थित करते हैं।

विचारक पंत ने मानव समाज में गृहस्थ, धर्म, राजनीति, आर्थिक व्यवस्था, पारिवारिक वैषम्य, सेक्स समस्या, रूढ़िवादिता, विकसित मानववाद, कला, सदाचार इत्यादि प्रायः सभी समस्याओं पर अपने मौलिक विचार एकांकियों में प्रस्तुत किये हैं। आधुनिक सभ्यता एवं समाज को सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक प्रेम एवं कला सभी दृष्टिकोणों से देखा है। उनका निष्कर्ष एक ऐसा समाजवाद है, जिसमें मानव पूर्ण रूप से विकसित और परिपुष्ट हो सकता है।

कला-पक्ष

कला पक्ष के क्षेत्र में संकेतात्मक और प्रतीकात्मक प्रणाली का एकांकी में उपयोग पंत की निजी देन है। 'छाया' तो सम्पूर्ण ही प्रतीकात्मक है। पीछे की दीवार पर एक सादे परदे का विधान है, जो छायाभिनय के काम में लाया जाता है। इस परदे पर युगनारी की एक निश्चल, धुँधली सी बृहदाकार छाया झूल रही है। यह नारी की छाया चिरशोषित भारतीय नारी की प्रतीक है। रंगमंच पर जो प्रदर्शित किया जाता है, वह संकेतात्मक रूप में छायाभिनय में दिखा दिया जाता है। सुनीला जब अपने पूर्व प्रेमी सतीश से प्रारम्भ में मिलती है, तो पर्दे पर पड़ी स्त्री की छाया अधिक स्पष्ट होकर सौंदर्य चेष्टाएँ करती है। रंगमंच के पात्रों के विचार तथा भावों का उतार-चढ़ाव यह छाया करती रहती है। जब सतीश तथा सुनीला स्नेह द्रवित हो कर एक दूसरे की ओर मुस्कराते हैं, तो पर्दे की छाया साफ़ नज़र आती है और ललित चेष्टाएँ करने लगती है। गत स्मृति से हर्षाभूत होकर जब सुनीला अपनी स्नेह-स्निग्ध दृष्टि सतीश की आँखों में डालती है, तो पर्दे पर एक युवती की छाया युवक की बाँहों में दिखाई देती है। जब दोनों असफल और निराश प्रेमी निःस्पन्द दृष्टि से देखकर एक दूसरे के मन का भाव जानना चाहते हैं, तो पर्दे की युवती की छाया छोटा बड़ा आकार धारण कर निकट और दूर आती जाती है। सतीश और विनय ठहाका मार कर हँसते हैं, तो सुनीता दोनों हाथों से अपना मुँह छिपा लेती है। पर्दे की छाया

बार बार उठने का प्रयत्न कर, जैसे वह अपने से लड़ रही हो, आँधी में लता की तरह थर-थर काँप कर जमीन पर ढेर हो जाती है। सुनीता का पिता मनीश को सन्देह की दृष्टि से देखता है। उनके चेहरे पर घृणा-मिश्रित भाव हैं। इसी का प्रतीक पर्दे पर पड़ता है। वहाँ हम देखते हैं ह्रास युग के दर्प बलिष्ठ मनुष्य की कठोर छाया, जो अपने सीने के ऊपर बाँहें मोड़कर उद्यत भाव से खड़ा है। सुनीति कुमार ऊन के पुलन्दे को कुर्सी पर फेंक कर चले जाते हैं। पर्दे पर लोक निर्माण में निरत नर नारियों की छाया झूलती है।

'युग पुरुष' में परदे के फटते ही दाँई ओर से एक गठीले बदन का नाटा बूढ़ किसान सिर पर छोटा सा गँवई साफ़ा लपेटे, घुटने तक की धोती लपेटे, लाठी टेकता हुआ प्रवेश करता है, और मंच के दूसरी ओर बिल्कुल सामने जा कर बैठ जाता है। वह बीच बीच में कभी तौलिये से मुँह पोंछता है, कभी गला खखारता है, कभी विचार मग्न सा, अपनी श्वेत मूछों पर हाथ फेरता रहता है। नेपथ्य से उनके आसपास बदन से टकरा कर कुछ पीले पत्ते गिरते हैं। गिरते हुए पत्ते वसन्त के प्रतीक हैं। जब शिबू कहता है—"चर्खा चलाना आसान नहीं" तो वह इसका अर्थ बहुत गहन और विस्तृत लेता है। युगपुरुष गरदन घुमा कर शिबू पर तीव्र दृष्टि डालता है। जब शिबू कहता है कि "जिन बनावटी बातों की वजह से हमारी असलियत छिप जाती है, और हमारी इन्सानियत पर पर्दा पड़ जाता है, वह हमने उतार दिए। अब हम इन्सान लगते हैं" तो युग पुरुष प्रसन्न दृष्टि से उन दोनों को देखता है। जब शिबू पारस्परिक ईर्ष्या, घृणा, द्वेष को विस्मृत कर हृदय के भीतर से उठने वाली संस्कृति की पुकार का ज़िक्र करता है, तो युगपुरुष लाठी को ठक से मंच पर मारता है। अर्थात् इन सभी विचारों, दृष्टिकोणों, और मान्यताओं के सम्बन्ध में मूक अभिनय द्वारा अपने विचार प्रकट करता है। अन्त में, जब युसुफ़ और शिबू भारत में नवीन समाज-वाद, मानववाद की प्रतिष्ठा का प्रण करते हैं, तो वृद्ध तीन बार ठक ठक लाठी से आवाज़ करता है। "आज के मिथ्यावादों से मुक्त धरती पर आने वाले चौड़े सीने के संस्कृत और अहिंसक मनुष्य को चलते फिरते देखेंगे, जिसके भाल पर मनुष्य मात्र का गौरव झलकता होगा, जिसका धर्म मानवप्रेम और जीवन सुन्दरता का आनन्द होगा"—यह सुनते ही प्रसन्न हो युग पुरुष लाठी हाथ में ले कर चलने को उद्यत होता है। जब सब स्वयंसेवक स्वतन्त्रता का व्रत लेते हैं, और मंच से अदृश्य हो जाते हैं, तो वृद्ध मंच के मध्य में अकेला हाथ जोड़ कर दर्शकों को प्रणाम करता है और परदा गिरता है।

इन दोनों एकांकियों में हास्य, व्यंग्य, सुख, विचारों तथा दृष्टिकोणों को स्पष्ट करने के लिए पंत जी ने जो कुछ अभिव्यक्त करना चाहा है, वह सांकेतिक ढंग

से प्रतीकों (Symbols) की सहायता लेकर कहा है। 'युगपुरुष' और 'छाया' दो नये ढंग के एकांकी हैं। पंत जी की यह हिन्दी एकांकी साहित्य को नूतन देन है। अभिव्यक्ति का ढंग सर्वथा अभूतपूर्व है।

वस्तु विकास का बड़ा सुन्दर उदाहरण इन एकांकियों में मिलता है। कथानक धीरे धीरे खुलता है और मध्य में अन्तर्संघर्ष के साथ चरम सीमा आती है। पंत जी ने बाह्य संघर्ष की अपेक्षा अन्तर्संघर्ष को विशेष महत्व दिया है। इस अन्त संघर्ष की अभिव्यक्ति के निमित्त 'छाया' में चित्रों की एलबम तथा 'युग पुरुष' में शिबू भइया का पुरानी स्मृतियों को दोहराना— ले लिया गया है। एकांकीकार प्रारम्भिक पूर्व कथन से शुरू कर आश्चर्य, कौतूहल एवं जिज्ञासा उत्पन्न करता हुआ चरम सीमा पर पहुँचता है, फिर धीरे धीरे सुखान्त या दुःखान्त कर देता है। 'छाया' में प्रवेश के पश्चात् गत घटनाओं की व्यंजना आती है, उत्तरोत्तर गति चलती है, कौतूहल बढ़ कर चरम सीमा पर पहुँचते हैं और चरम सीमा के साथ-साथ अन्त आ जाता है। वस्तु विकास के दोनों रूप पन्त में हैं।

इन एकांकियों में बाह्य घटनाएँ कम, अन्तर्द्वन्द्व अधिक है। पश्चिम के एकांकियों की भाँति इनमें विषम परिस्थितियों की अवतारणा प्रमुख स्थान रखती है। दो विभिन्न परिस्थितियाँ अपने सम्पूर्ण सत्य के साथ लड़ती हैं। 'मानसी' अतर्जगत् से सम्बन्धित है। इसमें दृश्य की अपेक्षा श्रव्य भाग अधिक है।

इनके एकांकियों का एक सुनिश्चित, सुकल्पित लक्ष्य होता है। ये केवल मनोरंजन से आप्लावित नहीं, समस्या-प्रधान एकांकीकार हैं। एक ही समस्या की ओर वेग सम्पन्न प्रवाह रहता है। जहाँ समस्या का हल दिया गया है, वहाँ कथोपकथन अपेक्षाकृत लम्बे और विवेचन प्रधान हैं। पंत जी ने संकलन—त्रय का सफलता से निर्वाह किया है। एकता, एकाग्रता और आक-स्मिकता के साथ प्रभाव और वस्तु का भी पूर्ण निर्वाह है। कथावस्तु कुछ जटिल होती है। मध्य में पुरानी स्मृतियों की अभिव्यक्ति द्वारा कथानक को पूर्ण बना लिया जाता है। पंत जी के एकांकियों में उद्घाटन, विकास, चरम सीमा और परिणति—ये चारों विकास अवस्थाएँ स्पष्ट होती हैं।

पंत जी के कथोपकथन साधारणतः संक्षिप्त, मर्म-स्पर्शी और वाक् वैदग्ध्य युक्त होते हैं। इनसे चरित्र-चित्रण का काम लिया गया है। प्रायः पात्रों के मनोभाव, मुखमुद्रा तथा कार्यों को प्रकट करने वाला भाव रंगसूचना में निर्देशित कर दिया जाता है। प्रारम्भिक कथोपकथन संक्षिप्त,प्रायः एक वाक्य वाले होते हैं जिनमें साधारण संवाद द्वारा वस्तु-स्थिति एवं पात्रों के मनोभावों की व्यंजना रहती है। आगे बढ़कर जब बौद्धिक तथा तार्किक तत्त्व अधिक आते हैं, तो ये लम्बे हो जाते हैं। 'युगपुरुष' 'ज्योत्स्ना' 'मानसी' 'छाया' इत्यादि सभी में लम्बे कथोपकथन भी हैं। 'ज्योत्स्ना' में काव्य की मिठास के कारण ये सुन्दर लगते

हैं, किन्तु साहित्यिक भाषा संस्कृत बोझिल भाषा का भार वहन नहीं कर पाते। कुछ कृत्रिम से हो जाते हैं। अमूर्त भावनाओं का मूर्त स्वरूप में प्रकट होकर गंभीर, ठोस तथा सैद्धान्तिक वार्तालाप साहित्यिक दृष्टि से उत्कृष्ट होते हुए भी कृत्रिम है। 'ज्योत्स्ना' में नाटकीय दृष्टि से और भी कई त्रुटियाँ हैं। इसके वार्तालाप में सजीवता की कमी है, कार्य (Action) और चरित्र विकास की ओर भी कलाकार की रुचि नहीं है। "पात्र भावनाओं के पुतले हैं, उनका मांसल व्यक्तित्व नहीं।" स्वगत का प्रयोग नहीं है। 'युगपुरुष' और 'छाया' कथोपकथन की दृष्टि से सबसे सफल आधुनिकतम नाटक हैं। ये यथार्थवाद तथा भावात्मक आदर्शवाद के अपूर्व सम्मिश्रण से बने हैं। इन दोनों में कथोपकथन समस्त शक्ति संचित कर वस्तु (Plot) को क्रमशः खोलता हुआ चरम सीमा तक बढ़ता है। यद्यपि इनमें तर्क और बुद्धि से बोझिल दो चार लम्बे वक्तव्य भी हैं, किन्तु न तो ये वादविवाद का ही रूप ग्रहण करते हैं, और न पात्र उपदेशक का रूप ग्रहण कर व्याख्यान ही देते हैं। मध्य में उन्हें थोड़ा-थोड़ा काट कर भावना से पूर्ण बनाकर चतुरता से उपदेशात्मक अंश प्रस्तुत किया गया है। इनके कथोपकथन में तड़प और मर्मस्पर्शिता है। अभिनय की दृष्टि से भी दोनों एकांकी सफल हैं।

अपने रंगसंकेतों में पंत जी पाश्चात्य एकांकीकारों के समीप हैं। 'युगपुरुष', 'छाया', 'ज्योत्स्ना' में लम्बे लम्बे बिल्कुल पाश्चात्य ढंग के सुविस्तृत रंगसंकेत मौजूद हैं। इनका उपयोग स्टेज की व्यवस्था, पात्रों के रूप कल्पना, और भाव के उद्दीपन के लिए हुआ है। पन्त जी की एक और विशेषता नेपथ्य के अन्दर से गान या भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियों द्वारा वातावरण की सृष्टि करना भी है। 'ज्योत्स्ना' की रंगसूचनाएँ काव्य-मधुरिमा से स्निग्ध हैं। दृश्यों के चित्रण में पन्त जी की चितेरी कल्पना, काव्य के माधुर्य तथा भाषा की रंगीनी द्वारा बड़े सुन्दर चित्र उपस्थित किए गए हैं। दो एक चित्र देखिये, इनका मितव्यय, शब्द-चयन तथा वर्णन चातुर्य दर्शनीय है :—

"गेरुए मलमल की धोती पहिने, प्रौढ़ उम्र संध्या, निष्कंप दीपशिखा की तरह दत्तचित्त बैठी है। मृणाल सी लम्बी, पतली खुली बाहें; वक्षःस्थल के साँझ के सरोज बारीक सुनहरी कंचुकी से कसे; दमकते भाल पर दो एक चिंता की रेखाएँ, भौंहें पतली कुछ अधिक झुकी हुईं; स्निग्ध शरद आनन; शान्त गम्भीर मुद्रा, कपोल, कंधों एवं पृष्ठ-भाग पर रुपहले-सुनहले बाल बिखरे।"

—ज्योत्स्ना

पंत जी ने एकांकी के क्षेत्र में सर्वथा नवीन प्रयोग किए हैं। कविता की

भाँति एकांकियों में संकेतात्मक शैली के बड़े सफल प्रयोग किए हैं। आपने सामाजिक नाटकों में आपने अनेक सामयिक विषयों की ओर ध्वनि आकृष्ट किया है। 'ज्योत्स्ना' के तथा 'छाया' में सुंदर गीतों का भी कलात्मक प्रयोग किया है। एकांकियों पर भी आपके काव्य की स्पष्ट छाप है। इनमें पच्चीकारी कम और भावना अधिक है। आपने एकांकियों में एक नवीन सृष्टि की ओर इंगित किया है।

डॉक्टर देवराज

पंत का भाव-जगत्

पंत की प्राथमिक रचनाओं में चित्रानुरागिता, प्रकृति-प्रेम और नारी-सौन्दर्य की उन्मुक्त भावनाओं का प्रसार है। किन्तु भौतिक-यथार्थताओं की रगड़ खाकर आज उनकी दृष्टि उद्बुद्ध और मानवमय हो उठी है। कवि के प्रणय की कसक और प्रकृति-सौन्दर्य की ललक वस्तु-जगत् का स्पर्श पाकर अधिक सप्राण और सजग है, किन्तु लेखक के शब्दों में 'उसकी संवेदना अब यथार्थ के अभिनव, युग की आत्मा को प्रकाशित करने वाले, रूपों में प्रसरित होती नहीं दीखती।' पंत जीवन की समग्रता को हल्के हाथों से स्पर्श करके अभी उसे मानों व्यवस्थित अभिव्यक्ति नहीं दे सके हैं।

पन्तजी मुख्यतः सौन्दर्य के कवि हैं, प्रकृति-सौन्दर्य के और उसके बाद, नारी-सौन्दर्य एवं उस सौन्दर्य से उत्थापित आकर्षण भावना के। प्रकृति पन्त की सौन्दर्य-दृष्टि का सहज आलम्बन है, उनकी वाणी का सहज विषय। यह बात महादेवी और प्रसाद के बारे में उस हद तक सत्य नहीं है। महादेवी ने प्रकृति का उपयोग प्रायः आत्मनिष्ठ भावनाओं को साकार करने में किया है, और वहाँ प्रयुक्त सामग्री अपेक्षाकृत परिमित है। प्रसाद भी प्रकृति की उपस्थिति में उस सहज उल्लास का अनुभव नहीं करते जो पन्त की भावचेतना की विशेषता है।

वयः सन्धि में भावुक हृदय बाह्य सौन्दर्य की झलक मात्र से अलोकित हो उठता है, 'पल्लव' और 'गुंजन' में प्रायः आपको इस प्रकार की झलकें ही मिलती हैं। सूक्ष्म विश्लेषणात्मक वर्णन की प्रवृत्ति वहाँ नहीं है, वहाँ बाह्य का निरीक्षण अन्तर के उल्लास से मिश्रित और निरूपित है। महादेवी और प्रसाद की भाँति पन्त अपने पाठकों को गुम्फन की अनावश्यक सूक्ष्मता से नहीं थकाते।

'पल्लव' और 'गुंजन' के कलात्मक सौष्ठव का प्रधान उपादान इन झलकों की प्रचुर नूतनता है। पल्लव, पुष्प, शैल, निर्झर, लहरें, खग, भ्रमर सब में कवि की अपार ममता है और उक्त कृतियों में हमें रूप-रंगों की जैसी मनोरम और विस्तृत चित्रावली मिलती है वैसी, छायावादी काव्य में, अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

पन्त की सौन्दर्य-दृष्टि की प्रधान विशेषता है—कोमलता; प्रकृति एवं नारी की सुकुमार कोमल छवियों से उन्हें सहज ममत्व है।—

'अरे ये पल्लव बाल',
'अरी सलिल की लोल हिलोर,'
"सिखा दो ना, हे मधुप कुमारि,
मुझे भी अपने मीठे गान।"

आदि पंक्तियाँ उनके हृदय की सहज कोमलता को व्यक्त करती हैं। नारी-रूप के वर्णन में भी यह कोमलता सर्वत्र प्रतिफलित है—

"तुम्हारे नयनों का आकाश,
सजल श्यामल अकूल आकाश"

और

'नील रेशमी तम का कोमल खोल खोल कचभार' इत्यादि। कलियों और लहरों की भाँति 'रेशमी' विशेषण भी, कोमलता का वाहक होने के कारण, कवि को विशेष प्रिय है। 'ज्योत्स्ना' में सान्ध्य प्रकाश को जहाँ-तहाँ बड़े कोमल स्पर्शों से चित्रित किया गया है। 'प्रिये प्राणों की प्राण,' 'आज रहने दो यह गृह काज' आदि व्यंजनाएँ भी कवि की अपार कोमलता का परिचय देती हैं। काश कि कोई भाग्यशालिनी नारी इस हृदय के प्रेम का उपभोग कर पाती।

पन्त की वर्ण तथा ध्वनि-संवेदना विशेष विकसित है और उनमें मूर्त चित्र विधान की अपूर्व क्षमता है। ये चीज़ें उनकी प्रकृति वर्णनों को साकार और सजीव बना देती हैं।

'रुधिर से फूट पड़ी रुचिमान,
पल्लवों की यह सजल प्रभात।'

पंक्तियाँ, निर्दोष न होते हुए भी, चित्र का समर्थ-संकेत करती हैं। निम्न पद्य सुलभ उदाहरणों में हैं:—

'मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार

जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण सा फैला है विशाल। —पल्लव

वन में विटपों की डाल-डाल
कोमल कलियों से लाल-लाल
फैली नव मधु की रूप-ज्वाल।'

—गुंजन

निम्न चित्रों में जो पंत के प्रौढ़तर काल की सृष्टि है, काव्य सामग्री की मनोरम चारुता और विज्ञान का एकात्म (Exactness) है—

'बृहद् जिह्म विश्लथ केंचुल-सा
लगता चितकबरा गंगा जल!'

(संध्या के बाद ग्राम्या)

'अन्धकार की गुहा सरीखी उन आँखों से डरता है मन'

और

"हट्टी-कट्टी काठी चौड़ी, इस खण्डहर में बिजली-सी
उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी"

पंक्तियों में उच्चतर कोटि के यथार्थ का सही-सफल अंकन है। यह अंकन कितना कठिन कार्य है, इसे भुक्त भोगी ही जान सकते हैं। हिन्दी आलोचना अभी तक इस कला की पर्याप्त दाद नहीं देती।

पंत की दृष्टि प्रायः विश्व-जगत् से कोमल छवियों—कोमल मधुर ध्वनियों, नव कोमल आलोक, कोमल स्पर्श, सुकुमार मिलन-उल्लास आदि—का चयन करती है, किन्तु सृष्टि में केवल यही चीजें नहीं हैं। फलतः पन्त प्रकृत्या यथार्थ से कतराते हैं और 'ज्योत्स्ना' के दृश्य-विधानों तथा 'स्वीट पी' आदि का वर्णन करते हुए जन कोलाहल से दूर बँगलों में रहने वालों की 'एरिस्टोक्रेटिक' मनोवृत्ति का परिचय देते हैं।

अवस्था-वृद्धि के साथ हमारी भावुकता में संयम आना चाहिए और हमारा यथार्थ का आग्रह बढ़ना चाहिए। 'एक तारा' 'नौका विहार' (गुंजन) आदि में पन्त ने, अपने अनुभूति क्षेत्र की परिधि में ही, यथार्थ का अंकन करने का प्रयत्न किया है। 'ग्राम्या' में यह प्रयत्न बाह्य-रूप तक सीमित न रह कर ग्रामीण पात्रों के व्यक्तित्व-चित्रण में प्रसरित हो गया है, जहाँ 'ग्रामश्री' 'सन्ध्या के बाद' आदि में बाह्य के सूक्ष्म-सही अंकन का आग्रह है, वहाँ 'वे आँखें', 'ग्राम-वधू' आदि में ग्रामीण पात्रों की मनोवृत्ति और चरित्र के उद्घाटन का प्रयत्न है। 'ग्राम्या' में पन्त की कला अपने प्रौढ़ विकसित रूप में दिखाई देती है।

छायावादी काव्य अथवा मनोवृत्ति का एक प्रधान पक्ष प्रकृति-प्रेम है। यह मान्यता मुख्यतः पन्त और कुछ हद तक निराला की कृतियों पर आधारित और उन्हीं से प्रमाणित होती है। पंत की श्रेष्ठता और महत्त्व का यह सबसे बड़ा प्रमाण है। महाकवि अनेक क्षेत्रों में और श्रेष्ठ कवि एक दो क्षेत्रों में अपनी निराली कलात्मक संवेदना को समर्थ अभिव्यक्ति दे पाते हैं। इस दृष्टि से बिहारी और विद्यापति की भाँति पंत का कलात्मक व्यक्तित्व स्पष्ट रूप-रेखा ले सका है।

अवश्य ही इस श्रेष्ठत्व के दर्जे हैं। पन्त के प्रकृति-काव्य में थोड़ी शिकायत की बात यह है कि वे अपनी अखण्ड-अनुभूतियों को दृढ़ एकता में कम ग्रथित कर पाते हैं। हम अपनी बात उदाहरण से स्पष्ट करें। रवीन्द्र की 'उर्वशी' एक उदात्त कृति है, क्योंकि उसमें उनका अनुभव पुंजीभूत रूप में व्यक्त हो सका है। शेली की 'पश्चिम प्रभंजन' और कीट्स की 'नाइटिंगेल' भी ऐसी ही रचनाएँ हैं। वर्ड्सवर्थ की 'कोयल' जैसी छोटी गीतियों में गठन की वैसी ही दृढ़ता है। पन्त की 'परिवर्तन' जैसी कुछ रचनाओं में ही वह गठन पाई जाती है।

अब तक हमने पन्त के काव्य के एक पहलू की बिल्कुल चर्चा नहीं की—

उनके विचार-पक्ष या जीवन-दर्शन की। उसका कारण है : हमारी समझ में पन्त जी अपने विचारों को काव्योचित रूप में कम प्रकट कर पाये हैं।

जिस यथार्थ का हम कला में प्रकाशन करते हैं, वह नितान्त जटिल और बहुमुखी होता है। अनिवार्य रूप से प्रत्येक कलाकार को यथार्थ के विस्तृत क्रोड़ से चित्रों और छवियों का चयन करना पड़ता है। यह चयन स्वभावतः कलाकार की रुचि और दृष्टि से नियंत्रित रहता है। कला में रचयिता की रुचि और जीवन दृष्टि के अभिव्यक्त होने का यही प्रकृत मार्ग है।

कालिदास जैसे कलाकार, विचारक न होते हुए भी, केवल अपनी चयन-क्रिया द्वारा एक सम्पूर्ण युग और सभ्यता को प्रकाशित कर देते हैं। आज का कलाकार विचारक बनने को बाध्य है। पर उसके विचारों के प्रकाशन का तरीका अब भी बहुत कुछ वही है। आज का उपन्यासकार विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व में युग के विशिष्ट रूपों और युग की विभिन्न दृष्टियों को साकार कर देता है— क्योंकि युग की समस्त शक्तियाँ और भावनाएँ अन्ततः व्यक्तियों के ही जीवन में चरितार्थ होती हैं।

पन्त ने विचार-प्रकाशन के इस प्रकृत पथ का अनुसरण नहीं किया है। इसका प्रधान कारण प्रगतिवादी आन्दोलन का प्रभाव है। महादेवी जी के शब्दों में प्रगतिवाद काव्य में मार्क्सवाद का 'अक्षरशः अनुवाद' चाहता है। प्रगतिवादी आलोचक की सबसे बड़ी चिन्ता यह जान लेनी होती है कि लेखक-विशेष का राजनीतिक मतामत क्या है; वह बड़े अधैर्य से इस मतामत की घोषणा की प्रतीक्षा करता है। 'तुम लिख रहे हो और कलात्मक ढंग से लिख रहे हो यह ठीक है— इसकी परीक्षा बाद में होती रहेगी— लेकिन तुम पहले यह बताओ कि तुम कौन, बूर्जुआ अथवा कामरेड, पूँजीवाद के समर्थक या साम्यवाद के— बोलो!' प्रगतिवादियों के भय से बहुत से लेखकों ने स्पष्ट ढंग से वाद विशेष को अनूदित करने की कोशिश की और इस प्रकार अपने कलात्मक व्यक्तित्व को संकुचित और कुण्ठित बना लिया।

पिछले वर्षों से पन्त जी लगातार अपनी विचार सरणियों (Ideologies) का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करते रहे हैं, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि कलात्मक दृष्टि से भी वे अब विकासशील हैं।

संक्षेप में, लेखक के कलात्मक व्यक्तित्व का विकास दो दिशाओं में होता है—एक ओर, अवस्था और रुचियों की वृद्धि के साथ, उसकी अनुभूति का अर्थात् अनुभूत यथार्थ की परिधि का, विस्तार होता चलता है और दूसरी ओर उसकी अभिव्यक्ति में क्रमशः अधिक जटिलता, दृढ़ता एवं अर्थ-गौरव (शब्दों का पूर्णतया सार्थक प्रयोग) का समावेश होता जाता है।

अभिव्यक्ति की दृष्टि से पन्त जी अपने विकास की चरम भूमिका में पहुँच चुके हैं, तत्सम शब्द प्रधान हिन्दी भाषा पर, हमारी सम्मति में, उनका प्रसाद से अधिक दृढ़ अधिकार है। अभिव्यक्ति के एक धरातल का जितना सफल निर्वाह पन्त कर सकते हैं वैसा प्रसाद नहीं। इसकी परीक्षा के लिए आप 'स्वर्ण-धूलि' की प्रथम कविता लें, और 'कामायनी' के, एक जगह से उठाये हुए, किन्हीं भी आठ पद्यों से उसकी तुलना कर लें। १

किन्तु अनुभूति की दृष्टि से पन्त की सम्वेदना अब यथार्थ के अभिनव, युग की आत्मा को प्रकाशित करने वाले, रूपों में प्रसरित होती नहीं दीखती। फलतः एक ओर जहाँ उनकी वाणी में एकरसता बढ़ रही है, वहाँ दूसरी ओर वह पूर्व संचित प्रकृति-चित्रों से, गहरी ममता के बिना, क्रीड़ा करती दिखाई देती है। उत्तर-कालीन रवीन्द्र के काव्य में भी यही बात पाई जाती है।

यौवनोत्तर काल में हम किसी भी कलाकार से नये प्रकृति और प्रेम-काव्य की नहीं, शायद नये वस्तु-बोध की भी नहीं, नवीन-जीवन विवेक की ही माँग कर सकते हैं। यह जीवन विवेक वही कलाकार दे सकता है जो अपने संवेदनशील वर्षों में सतर्क भाव से जीवन को समग्रता में देखने का प्रयत्न करता रहा हो, पर अभी तक उस समग्रता को व्यवस्थित अभिव्यक्ति न दे सका हो। क्या पन्त के नये धार्मिक काव्य में हमारा देश वैसा जीवन-विवेक प्राप्त कर सकेगा?

---

१ कामायनी के अन्तिम ढाई सर्गों में अभिव्यक्ति प्रौढ़तर है।

विश्वम्भर 'मानव'

छायावाद, रहस्यवाद और पंत

आधुनिक रहस्यवाद लौकिक-वृत्ति को रमाने वाला अनुष्ठान और अगोचर सत्ता के सौन्दर्य-समारोह की रहस्यमय भावुक कल्पना है, जिसमें प्रकृति की सौन्दर्य-सुषमा रहस्यमय चेतन से अनुप्राणित हो कर छलक पड़ती है। पंत की भाव-निरत आत्मा छायावाद-रहस्यवाद की पर्तों में पैठती हुई आत्म-जागरूक दर्शक की भांति आश्वस्त है, जिसमें लोल भावनाओं के आवेग एवं प्रेमाराधन के साथ साथ विश्व की धड़कन सुनने की भी क्षमता है, यों कवि के बौद्धिक-विकास के साथ उसकी रहस्य-भावना विकसित नहीं, वरन् ह्रास को प्राप्त हुई है।

आधुनिक युग वादों का युग है। काव्य की आलोचना भी इसी से अभी वादों को मूल्यांकन के आधार बना कर चल रही है। वादों को लेकर इतना कोलाहल मचाने पर भी आश्चर्य की बात है कि अभी तक उनके सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ अधिक नहीं कहा गया। किसी साहित्य में आलोचना की इससे अधिक डाँवाडोल स्थिति क्या हो सकती है कि पूरे पचास वर्ष व्यतीत होने पर भी, उसमें एक ऐसा ग्रन्थ न हो जो विभिन्न वादों के स्वरूप का निरूपण प्रामाणिक रूप से कर सके। छायावादी आलोचकों को लें तो दो आलोचक एक मत के दिखाई नहीं देते। उनके दृष्टिकोणों पर ध्यान दें तो पता चलता है कि छायावाद को कोई किसी रूप में देखता है और कोई किसी रूप में। कोई उसे वस्तु मानता है, कोई शैली, कोई समन्वयवादी उन्हें दोनों मानता है। कोई उसे रहस्यवाद का अंग मानता है और कोई रहस्यवाद को उसका अंग। कोई दोनों में कोई अन्तर नहीं मानता। कोई उसे आधुनिक गीतिकाव्य का पर्याय मानता है और कोई उसका विशिष्ट अंश। कोई उसे काव्य की कोई गंभीर वृत्ति स्वीकार नहीं करता और दूसरा उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभेदों की चर्चा करता है। इस समस्त वाद-विवाद के भीतर से सामान्य पाठक क्या ग्रहण करें ?

छायावाद

प्रकृति में चेतना के आरोप को छायावाद कहते हैं। यह आरोप आलंकारिक रूप में न हो, वास्तविक ढंग का हो। कहने का तात्पर्य यह कि प्रकृति में चेतना की अनुभूति की प्रतीति पाठक को वर्णन से ही होने लगे। मनुष्य को इस बात में कुछ आनन्द आता है कि वह यह देखे कि जैसे सुख दुःख का अनुभव वह करता है, उसी प्रकार और सभी करें। दूसरे शब्दों में प्रकृति में मानवीय भावों का आरोप ही छायावाद है।

प्रकृति चेतन है या जड़ यह एक प्रश्न है। पशु पक्षियों के जीवन को तो हम स्पष्ट रूप से चेतना-सम्पन्न पाते हैं। लता, पुष्प, वृक्ष आदि का जो वानस्पतिक जीवन है, उसे भी हम जड़ कैसे कह सकते हैं। लता और वृक्ष बढ़ते और अन्त में सूखते हैं। इसी प्रकार फूल विकसित होकर मुरझाते हैं। अच्छा, पृथ्वी है। उसे क्या कहें ? वैसे तो पृथ्वी भी आकाश में घूमती है—

एक एक कण गतिशील है। ऐसी दशा में कवि यदि प्रकृति को जड़ स्वीकार नहीं करता और उसे मानवीय क्रिया-कलापों से युक्त देखता है तो हमें उसकी दृष्टि की सराहना करनी पड़ती है, संभव है कवि की दृष्टि जहाँ पड़ती है वैज्ञानिक की अभी वहाँ न पड़ी हो; पर काव्य के क्षेत्र में कवि की दृष्टि ही मान्य है, वैज्ञानिक की नहीं।

अतः छायावाद को समझने के लिए तीन बातों को स्मरण रखना चाहिए।

(१) छायावाद का सम्बन्ध केवल प्रकृति के जीवन से है।

(२) इसमें प्रकृति चेतन मानी जाती है।

(३) प्रकृति में वे सारी भावनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं जो नर-नारी के जीवन में किसी भी प्रकार उत्पन्न हो सकती हैं।

छायावाद-काल में प्रकृति को चेतना से युक्त देखना एक सामान्य प्रवृत्ति ही हो गई थी। यह प्रवृत्ति प्रसाद, महादेवी और निराला में भी पाई जाती है। जहाँ तक पंत जी का सम्बन्ध है उन्होंने उसे सबसे अधिक मानवीय क्रिया-कलापों से [illegible] चितवन डालते हैं, उनका गिरि सुमन-दृगों से अवलोकता है, उनका उपवन फूलों के प्यालों में अपना यौवन भर-भर [illegible] के मेघों के बाल मेमनों से गिरि पर फुदकते हैं, [illegible] पर नाचती हैं, विटपी की व्याकुल प्रेयसि छाया बाँह खोलकर कवि को गले लगाने की क्षमता रखती है, उनकी दृष्टि में दशमी का शशि अपने तिर्यक मुख को लहरों के घूँघट से झुक-झुक कर, रुक-रुक कर मुग्धा-सा दिखलाता है, उनका मलयानिल उर्वी के उर से तंद्रिल छायांचल सरका देता है।

रूप और आकार

छायावाद में प्रकृति का क्रियाशील जीवन ही देखा जाता है; अतः यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि जब कवि प्रकृति का वर्णन करे तो प्राकृतिक वस्तुओं के रूप और आकार की निश्चित रेखायें दे। दूसरे शब्दों में यह प्रकृति का मानवीकरण हुआ। मानवीकरण और इसमें यही अन्तर है कि मानवीकरण एक प्रकार का आरोप है और छायावाद में कवि को प्रकृति वैसी लगती ही है। यह अंतर बहुत सूक्ष्म है और प्रत्येक स्थान पर यह बतलाना कठिन होगा कि मानवीकरण का यह चित्र आरोपित है या वास्तविक। नीचे सन्ध्या और चाँदनी के दो चित्र देते हैं—

(१) *शांत स्निग्ध सन्ध्या सलज्ज मुख*
देख रही जल तल में,

नीलारुण अंगों की आभा
छहरी लहरी दल में।

—युगवाणी

(२) *नीले नभ के शतदल पर*
वह बैठी शारद-हासिनि,
मृदु करतल पर शशि-मुख धर
नीरव, अनिमिष, एकाकिनि।

—गुञ्जन

चेतना

पंत जी ने प्रकृति की एक एक वस्तु में चेतना पहचानी है। प्रकृति का उन्होंने शरीर ही नहीं देखा, मन भी देखा है और देखी हैं उस मन की भावनाएँ भी। सरिता, सुमन, नक्षत्र, बादल आदि के सम्पर्क में वे आते हैं तो उनके रूप निहारने की अपेक्षा उन्हें उनके हृदय की बात सुनना अधिक भाता है। सरिता के सम्बन्ध में अपनी आध्यात्मिक माँ से वे कहते हैं—

मैं भी उसके गीत सीखने
आज गई थी उसके पास,
उसके कैसे मृदुल भाव हैं
उज्ज्वल तन, मन भी उज्ज्वल।

—वीणा

उज्ज्वल नीलाकाश में रात को प्रहरी के समान जगने वाले तारों के सम्बन्ध में उनका ऐसा विश्वास है—

जग के अनादि पथ-दर्शक वे
मानव पर उनकी लगी दृष्टि!

—युगांत

नक्षत्र पर पंत जी की एक रचना (एक तारा) 'गुञ्जन' में भी है। किसी एकाकी तारे को देखकर वे कहते हैं कि वह अपनापन खोजता फिरता है। इस तथ्य के दर्शन से वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि उसी को नहीं, सभी को किसी न किसी प्रकार की आकांक्षा जीवन-भर चंचल रखती है। जब आकांक्षा उमड़ती है तो वह किसी न किसी प्रकार के बन्धन को स्वीकार करना जानती ही नहीं—

चिर आकांक्षा से ही थर थर, उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर!

अविरत इच्छा ही में नर्तन; करते अबाध रवि, शशि, उडगन,
दुस्तर आकांक्षा का बंधन !

इसी प्रकार पवन का कलियों को चूमकर उनके मान का मोचन करना या सरसी को स्पर्श कर उसके प्राणों को चंचल करना, सरिता का अपनी मूक व्यथा को भुलाने के लिए रात-दिन गाते रहना, बादलों का कभी मृग के समान चौकड़ी भरना और फिर मतंगज के समान झूमना, कोकिल का कवि के हृदय की बात समझना आदि के उदाहरण भी प्रकृति की सप्राणता और उसकी चेतना के उदाहरण हैं।

सम्बन्ध

जिस प्रकार मानव-जगत् में, उसी प्रकार प्रकृति-जगत् में भी एक दूसरे के प्रति सम्बन्ध चलते हैं। 'वीणा' में अन्धकार को रात का सहचर और 'पल्लव' में छाया को वृक्ष की प्रेयसी बतलाया गया है—

(अ) *अब न अगोचर रहो सुजान !*
निशानाथ के प्रियवर सहचर !
अन्धकार स्वप्नों के यान !

(आ) *श्रमित तपित अवलोक पथिक को*
रहती यों क्यों दीन मलीन ?
ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसि !
विश्व-वेदना में तल्लीन !

'ज्योत्स्ना' में जहाँ प्रकृति का एक विराट रूपक उपस्थित किया गया है, बहुत से सम्बन्ध आपस में स्थापित किए गए हैं। पवन संध्या को चाची कहता है, सुग्गा अम्मा और उल्लू मौसी, छाया उसे जीजी कहती है। इसी प्रकार ज्योत्स्ना को बहू कहती है और इन्दु उसे प्रियतमा बतलाता है।

प्रेम

प्रकृति के प्रेम का जीवन भी बिल्कुल वैसा ही है जैसे नर नारी का। यह दूसरी बात है कि उतनी स्पष्टता से हमारी दृष्टि प्रकृति की प्रेम क्रीड़ाओं पर नहीं पड़ती। प्राकृतिक वस्तुओं में आकर्षण की भावना पंत जी की किसी भी रचना में देखी जा सकती है। प्रेम के प्रभाव से प्रकृति की एक वस्तु दूसरी वस्तु के निकट कैसे खिंची आती है, यह पन्त जी ने अनेक स्थलों पर प्रदर्शित किया है—

(क) *विजन निशा में किंतु गले तुम,*
लगती हो फिर तरुवर के।

छाया : वीणा

(ख) *नवल कलियों के धोरे झूम,*
प्रसूनों के अधरों को चूम।

मधुकरी : पल्लव

मिट्टी की सौंधी सुगंध से
मिली सूक्ष्म सुमनों की सौरभ,
रूप, स्पर्श, रस, शब्द, गन्ध की
हरित धरा पर झुका नील नभ!
क्या समीर ने लिपट विटप को
किया पल्लवों में रोमांचित?
अंगड़ाई ले बाँह खोलना
सिखलाया डालों को कंपित!
क्या किरणों ने चूम खिलाए
रंग भरे फूलों के आनन?
सृजन प्राण रे स्पर्श प्रेम का
सच है, जीवन करता धारण!

प्रेम की दृष्टि से देखें तो—

(१) जब आकर्षण नर-नारी के बीच होता है तो उसे प्रेम कहते हैं।

(२) जब यह आकर्षण प्रकृति की दो वस्तुओं के बीच होता है तो उसे छायावाद कहते हैं।

(३) और जब यही आकर्षण आत्मा-परमात्मा के बीच होता है तो उसे रहस्यवाद कहते हैं।

यह व्यापक प्रसार अनन्त रहस्यमय है। सृष्टि के प्रारम्भ काल से अनेक दृष्टियों से इस पर विचार होता आया है; फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमें कोई अन्तिम और संतोषप्रद उत्तर मिला। एक जिज्ञासा शांत होती है तो दूसरी उठ खड़ी होती है। लगता है जिज्ञासा का कभी अन्त न होगा।

जहाँ बहुत सी वस्तुओं का लक्ष्य एक होता है, वहाँ उनकी गति भिन्न होने पर भी उनमें विरोध नहीं होता। चरम सत्य धर्म, दर्शन और काव्य तीनों का विषय है। धर्म प्रधानतः, काव्य अंशतः और दर्शन अंततोगत्वा इस पर

विचार करता है। धर्म में विश्वास का, दर्शन में तर्क का और काव्य में भावना का प्राधान्य रहता है। इस चरम सत्य का दूसरा नाम ब्रह्म है। दर्शन से जो सिद्ध है, धर्म से जो विश्वसनीय है, वही काव्य में प्रिय बन जाता है। इस प्रकार दर्शन से पुष्ट धर्म का रहस्यवाद ही काव्य का रहस्यवाद बन जाता है। किसी और स्थान पर धर्म, दर्शन और काव्य चाहे मेल न खाते हों, परन्तु रहस्य में उनका सहज समन्वय हो जाता है। यदि सत्य एक वृक्ष है, तो दर्शन उसकी जड़, धर्म तना और काव्य किसी डहडही शाखा पर फूटने वाला रसगन्धमय सुमन।

यह काव्य दो प्रकार का होता है (१) लौकिक (२) अलौकिक। अलौकिक काव्य को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं (१) सगुण काव्य (२) निर्गुण काव्य। सगुण के उपासक भक्त कहलाते हैं और निर्गुण के प्रेमी रहस्यवादी।

व्याख्या

आत्मा और परमात्मा की परस्पर प्रणयानुभूति को रहस्यवाद कहते हैं। यह एक प्रकार का प्रणय व्यापार ही है, परन्तु अध्यात्म के क्षेत्र का। यह प्रायः जिज्ञासा से उत्पन्न होता है और दर्शन एवं विरह के उपरांत मिलन में समाप्त हो जाता है। एक रहस्यवाद ऐसा होता है जिसका आधार साधना होती है, एक ऐसा होता है जिसका आधार केवल भावना होती है; हिंदी साहित्य में संतों और सूफ़ियों का रहस्यवाद साधनात्मक रहस्यवाद है, आधुनिक कवियों जैसे प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी का भावनात्मक। काव्य के क्षेत्र में भावनात्मक रहस्यवाद का भी उतना ही महत्व है जितना साधनात्मक रहस्यवाद का। इसकी दृष्टि से भावनात्मक रहस्यवाद साधनात्मक रहस्यवाद से निश्चित रूप से अधिक सरस होगा।

पंत की रहस्य-वृत्ति

पंत जी के रहस्यवादी होने में वाह्य-प्रभावों का हाथ रहा है यह सत्य है। रवीन्द्र की गीतांजलि इन प्रभावों में मुख्य है। गीतांजलि के एक गीत के अनुकरण पर उसी प्रकार का गीत 'वीणा' में पंत जी ने रखा। परन्तु उनके स्वभाव के भीतर वह सब कुछ विद्यमान् था जिससे वे रहस्यवादी बनते। सुन्दर के प्रति वह आकर्षण जो उन्हें प्रकृति, नारी और व्यापक जीवन की ओर खींच लाया, रहस्यवादी बनाने में सहायक हुआ। उनकी जिज्ञासा-भावना ने किसी भी समय उनका साथ नहीं छोड़ा। महत्व के प्रति आत्म-समर्पण भी उनमें प्रारम्भ से ही बना हुआ है।

अपने उपास्य के प्रति पंत जी की भावना निर्दिष्ट नहीं है। 'वीणा' में दो

भावनाएँ समान रूप से काम कर रही हैं। उस अलौकिक सत्ता को उन्होंने कहीं माँ माना है और कहीं प्रियतम। पर भावना की यह अनिर्दिष्टता कबीर में भी पाई जाती है। वे परमात्मा को कहीं पिता रूप में, कहीं माँ रूप में, कहीं सखा रूप में और कहीं प्रियतम रूप में देखते हैं। परमात्मा लिंग-भेद से परे है; अतः उसकी धारणा किसी भी रूप में, किसी भी भाव में की जा सकती है।

माँ

'वीणा' की आधी से अधिक रचनाएँ माँ को निवेदित हैं। यह माँ बहुत बड़ी माँ है। विराट् विश्व की जननी है। भावों को निवेदन करने वाली बालिका बहुत छोटी है। पर बालिका के लिए माँ, माँ ही है—वात्सल्यमयी। इन रचनाओं में एक विलक्षण प्रकार का भोलापन पाया जाता है। यह भोलापन ही इन प्रारम्भिक रचनाओं की मार्मिकता का मुख्य कारण है।

परन्तु यह बालिका सुसंस्कृत और बोधमयी है। सभी रहस्यवादियों के समान पंत ने यह माना है कि एक दिन उनमें और उनकी माँ में इतना अन्तर न था। माँ प्रकाश का स्रोत उषा थी और वह उसी से उत्पन्न प्रभात-वेला पर अन्धकार बीच में आ गया, उसे काटने के लिए दीपक जलाना होगा जिससे भविष्य में माँ के मुख के फिर दर्शन हो सकें—

जब मैं थी अज्ञात प्रभात
माँ! तब मैं तेरी इच्छा थी
तेरे मानस की जलजात!

तब तो यह भारी अन्तर
एक मेल में मिला हुआ था,
एक ज्योति बनकर सुन्दर;
तू उमंग थी, मैं उत्पात!

अब तेरी छाया सुखमय
अंधकार में नीरवता बन
माँ! उपजाती है विस्मय,
उठ रे, उद्यत हो अज्ञात!
यह सुहाग की है प्रिय रात!

यह दीपक अपने सम्मुख धर
जिसके पीछे गिरे मोह की
छाया, अन्तर हो गोचर,
वह भविष्य होवे अवदात!

'वीणा' की रचनाएँ गहन पुनीत अनुराग की रचनाएँ हैं। एक बालिका के हृदय में माँ के प्रति जितना आर्द्र अनुराग हो सकता है, उतना इन कविताओं में पाया जाता है। यह बालिका कभी माँ के रम्य रूप का ध्यान कर आह्लादित होती है, कभी उसकी शक्ति पर चकित और कभी उसके वात्सल्य का परिचय पा रो पड़ती है। अतः पंत की इस विराट माँ का परिचय है अनंत रूप, अनंत शक्ति, अगाध वात्सल्य। दूसरी दिशा में हैं विस्मय, आत्म-समर्पण, आँसू। कवि अनुभव करता है कि माँ के गीत कभी पूरे न होंगे।

पर अब करती हूँ अनुमान
मुझमें कितना था अज्ञान!
जीवन भर भी माँ! मैं पूरे
गा न सकूँगी तेरे गीत,
अपनी वाणी में स्वर भर।

विनय

पंत जी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं। अपने इस विश्वास को अपने काव्य-ग्रंथों में उन्होंने बराबर प्रकट किया है। यदि भक्त का तात्पर्य शिव, शक्ति, राम और कृष्ण की भक्ति से है तो भक्त नहीं हैं। जैसे आज के बहुत से शिक्षित व्यक्ति संसार को परिचालित करने वाली एक शक्ति में विश्वास करते हैं वैसे ही पंत जी करते प्रतीत होते हैं। उनकी रचनाओं के अध्ययन में ईश्वर संबंधी उनकी कई धारणाओं का पता चलता है—

(१) ईश्वर है।

(२) उसमें विश्वास करने से हमें बल मिलता है।

(३) उसके प्रति भाव का संबंध संभव है।

पंत जी ने 'गुंजन' में घोषित किया था—

जग जीवन में उल्लास मुझे,
नव आशा, नव अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे;
चाहिए विश्व को नव जीवन।

अपनी रचनाओं में कवि ने ईश्वर से अनेक प्रकार की प्रार्थनाएँ की हैं। प्रार्थना की है कि संसार को सुख दो, समृद्धि दो, नवीन जीवन दो; मनुष्य के स्वप्न और सत्य, ज्ञान और कर्म को संतुलित कर दो; उसमें एकता की भावना भर दो, उसे नवीन कल्पना, नवीन चेतना, और नवीन सौन्दर्य-बोध देकर चिर

प्रगति के पथ पर डाल दो। और इसके अतिरिक्त ऐसा क्या है जो वे अपने प्रभु से मनुष्य के लिए नहीं माँगते।

(१) बरसो सुख बन, सुखमा बन,
बरसो जग जीवन के घन।

—गुंजन

(२) आज स्वप्न को सत्य,
सत्य को स्वप्न बना नव-सृष्टि बसाओ।
निखिल ज्ञान को कर्म,
कर्म को ज्ञान बना भव मूर्ति सजाओ।
आज विश्व को व्यक्ति,
व्यक्ति को विश्व बना जग जीवन लाओ।
सत्य बनाओ, हे,
मेरे जीवन-स्वप्नों को
सत्य बताओ।

—युगवाणी

(३) हों शांत जाति विद्वेष, वर्ग गत रक्त समर,
हों शांत युगों के प्रेत, मुक्त मानव अन्तर!
संस्कृत हों सब जन, स्नेही हों, सहृदय, सुन्दर,
संयुक्त कर्म पर हो संयुक्त कर्म निर्भर।
राष्ट्रों से राष्ट्र मिलें, देशों से देश आज,
मानव से मानव, हो जीवन निर्माण काज,
हो धरणि जनों की, जगत स्वर्ग, जीवन का घर,
नव मानव को दो, प्रभु, भव मानवता का वर।

—ग्राम्या

जहाँ तक अपने लिए वरदान माँगने का संबंध है, कवि केवल इतना चाहता है कि वह अपने को जन सेवा के योग्य बना सके।

नित्य-कर्म-पथ पर तत्पर धर,
निर्मल कर अंतर,
पर-सेवा का मृदु पराग भर,
मेरे मधु संचय में।

विनय संबंधी रचनाओं का एक व्यक्तिगत पक्ष है जो 'उत्तरा' में अधिक प्रस्फुटित हुआ है। 'उत्तरा' की कुछ रचनाओं में कोमलता, सरसता और भाव-

मग्नता की मात्रा अधिक हो गई है। वहाँ कवि केवल अपने संबंध से ईश्वर को पुकारता है, अतः यह सीधी पुकार हृदय पर सीधा प्रभाव करती है। देखिए—

नमन तुम्हें करता मन
हे जग के जीवन के जीवन
स्मरण तुम्हें करता मन !
अश्रु-पूत अब मेरा आनन
तुहिन धौत वारिज के लोचन
यह मानस की बेला पावन
करता तुम्हें समर्पण।

प्रियतम

अध्यात्म-चिंतन के कई पक्ष हो सकते हैं। एक यह कि ईश्वर में केवल विश्वास हो। दूसरा यह कि उसे एक शक्ति मानकर उससे प्रार्थना की जाय। तीसरा यह कि उससे कोई सम्बन्ध स्थापित कर उसके प्रति प्रेम का अनुभव किया जाय। प्रेमानुभूति की दो कोटियाँ हैं (१) ईश्वर को पुरुष और अपने को नारी मानना जैसे कबीर और महादेवी में (२) ईश्वर को नारी और स्वयं को पुरुष समझना जैसे जायसी आदि सूफियों में। ये दोनों ही कोटि के प्रेम रहस्यवाद के अन्तर्गत आते हैं। पंत ने भी अपने काव्य में कहीं-कहीं उनसे प्रेम का सम्बन्ध स्थापित किया है और बड़ी कोमलता के साथ उस प्रेम की अभिव्यक्ति की है और यहीं वे एक रहस्यवादी के रूप में हमारे सामने आते हैं।

रूप का वर्णन करते हुए 'वीणा' में वे कहते हैं—

जिसकी सुन्दर छवि ऊषा है
नव बसंत जिसका शृंगार,
तारे हार, किरीट सूर्य-शशि
मेघ केश, स्नेहाश्रु तुषार,
मलयानिल मुख-वास, जलधि मन,
लीला लहरों का संसार,
उस स्वरूप को तू भी अपनी
मृदु बाँहों में लिपटा ले—

उस ओर का आभास पंत जी की 'मौन-निमंत्रण' रचना में कुछ मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उधर के ये मौन संकेत प्राकृतिक तत्वों के

माध्यम से व्यक्त हुए हैं। आकाश और समुद्र से, प्रभात और रात से, पावस और मधुमास से, ज्योत्स्ना और अंधकार से, जागृति और स्वप्न-काल से ऐसा क्या है जिससे कवि हृदय को उसका मौन-निमंत्रण नहीं मिलता? इस निमंत्रण के दूत हैं तारे और लहरें, ओस की बूंदें और खद्योत, विद्युत् और सौरभ आदि। ये संकेत बड़े कोमल और सुकुमार हैं एवं अत्यन्त संस्कृत हृदय द्वारा ही ग्रहण किए जा सकते हैं—

स्वर्ण, सुख, श्री सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर
विहग कुल की कल कंठ हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर,
न जाने, अलस-पलक दल कौन
खोल देता तब मेरे मौन।

बिछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण अवसान,
शून्य शय्या में श्रमित अपार
जुड़ाती जब मैं आने प्राण,
न जाने मुझे स्वप्न में कौन
फिराता छाया जग में मौन,

इस रहस्यमय के प्रति केवल जिज्ञासा वृत्ति ही कवि की नहीं है, एक प्रकार की अनुभूति भी है। यह अनुभूति कितनी ही सूक्ष्म, कितनी ही अनिर्दिष्ट हो पर अस्पष्ट नहीं है। कवि की आत्मा उनका परिचय पुरुष रूप में देते हुए कहती है—

न जाने कौन, अये द्युतिमान
जान मुझको अबोध अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान,
अहे सुख दुख के सहचर मौन!
नहीं कह सकती तुम हो कौन!

व्यक्ति लाख प्रयत्न करने पर भी अपनी चेतना की पुकार को नहीं दबा सकता, ऐसा पन्त जी का विश्वास है। जिस प्रकार तट समुद्र को बाँधने का कितना ही प्रयत्न करे, परन्तु जब पूर्णिमा का चंद्र उगता है तो ज्वार के रूप में समुद्र उमड़ ही पड़ता है। इसी प्रकार मिट्टी मनुष्य को कितना ही बाँधने का प्रयत्न करे, पर उसके प्राण कभी-कभी उस महामिलन के लिए आकुल होंगे ही—

इस धरती के उर में है उस
शशि-मुख का असीम सम्मोहन,
रोक नहीं पाते भू के तट
जीवन-वारिधि का उद्वेलन।
—स्वर्ण किरण

'युगांतर' में कवि प्रश्नों का शुष्क उत्तर नहीं चाहता, रहस्य से तदाकार वृत्ति के लिए आकुल है, सत्य से परिचय की नहीं, उसकी अनुभूति की माँग करता है—

इन प्रश्नों का मुझे नहीं
शब्दों में दो प्रिय उत्तर,
तदाकार कर हृदय
सहज समझा दो हे करुणाकर!

और फिर एक दिन जगत और जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण ही बदल जाता है—

खिल उठा हृदय,
पा स्पर्श तुम्हारा अमृत अभय!
खुल गए साधना के बंधन,
संगीत बना उर का रोदन;
क्यों रहें न जीवन में सुख दुख,
क्यों जन्म मृत्यु से चित्त विमुख?
तुम रहो दृगों के जो सम्मुख
प्रिय हो मुझको भ्रम, भय, संशय!
तुम सुन्दर से बन अति सुन्दर
आओ अन्तर में अन्तर तर,
तुम विजयी जो, प्रिय, हो मुझ पर
वरदान, पराजय हो निश्चय!

"जहाँ तक छायावाद का सम्बंध" वहाँ अब तक कवियों ने प्रकृति को अपने दृष्टिकोण से देखा था, पंत ने उसे निरपेक्ष दृष्टि से देखा; अब तक उसे जड़ समझा जाता था, पंत ने उसे चेतन माना, अब तक उसे किसी न किसी प्रकार मानव जीवन से सम्बद्ध करके रखा गया था, पंत ने उसके जीवन को अपने में पूर्ण और स्वतंत्र घोषित किया। प्रकृति के प्रति यह अभिनव दृष्टिकोण बीसवीं शताब्दी की ही विशेषता है और इस सम्बन्ध में दो मत नहीं कि प्रकृति की इस

मुक्ति में पंत जी का सबसे बड़ा हाथ है। पर जहाँ तक रहस्यवाद का सम्बन्ध है वहाँ पन्त जी का काव्य रहस्य-भावना के विकास की नहीं, ह्रास की कहानी है। प्रारम्भ में उनकी सुकुमार वृत्ति जिस सौंदर्य प्रेम के कारण अनन्त सत्ता का चिंतन करने में लीन रही, बाद में वही अन्य विषयों की ओर मुड़ी। 'वीणा' में परमात्मा का, 'ग्रंथि' में लौकिक रूप का, 'पल्लव' में प्रकृति का प्रेमी कवि रहा है। 'युगांत' में यही कवि मानवता का प्रेमी बन जाता है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में समाजवाद के आधार पर मानवतावाद की प्रतिष्ठा कवि ने की है। इस प्रकार ब्रह्म से प्रकृति, प्रकृति से नारी, नारी से लोक-हित तक कवि आया है अर्थात् अलौकिकता से उसका उतार बराबर लौकिकता की ओर हुआ है। अब एक प्रकार के नव चेतनावाद को कवि ने फिर अपनाया है। उसकी स्थापना है कि सुख के भौतिक साधनों को एकत्र करने के साथ ही मनुष्य को वैसी आत्मिक उन्नति की ओर भी ध्यान देना चाहिए। बाहर-भीतर का विकास एक-सा होना चाहिए। इस चेतनावाद का रहस्यवाद से अभी कवि कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाया। पर यह चेतनावाद है अध्यात्मवाद का दूसरा रूप ही। बहुत सम्भव है कवि कभी इसे रहस्यवाद में बदल दे।

डॉक्टर सत्येन्द्र

हिन्दी काव्य में नवारम्भ :
पंत का स्वर्ण-काव्य

'स्वर्ण-काव्य में कवि मनुष्यत्व के भावी रूप-दर्शन से ज्योतित हो उठा है। जग-जीवन के द्वन्द्वों से परे और स्थूल से सूक्ष्म की ओर अभिमुख होकर उसने 'मानव-मानवी' को उस दिव्य, सुस्थिर मनोलोक में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है जहाँ लोक-हित की दृष्टि से अनंत मंगलमय संकल्पों का उन्मेष होगा।

आज से पूर्व के पन्त को हम दो रूपों में पाते हैं। पहला रूप इस कवि का छायावादी है। छायावादी काव्य के प्रवर्त्तक प्रमुख कवियों में इनका महत्व-पूर्ण स्थान रहा। प्रसाद के साथ पन्त और निराला की जोड़ी की धूम थी। उस काल के नवोन्मषी नवयुवक कवियों को पन्त ने सबसे अधिक प्रभावित किया। पन्त की शैली और भूषा दोनों ही की छाप नये हृदयों पर पड़ी।

छायावादी युग में इस कवि ने 'वेदना' के स्वर झंकृत किये;

'वियोगी होगा पहला कवि
आह से निकला होगा गान'

ये शब्द इसी कवि ने सुनाये। यह 'वेदना' सौन्दर्य की साधना के लिये थी। सौन्दर्य की अनन्त-अनादि अनुभूति की झाँकी के लिये कवि निकला था—उसकी कल्पना जैसे-जैसे उसे ग्रहण करने के लिये बढ़ती जाती थी, वैसे ही वह अधिक रहस्यमय होता जाता था (प्रकृति के व्यापारों में 'सौन्दर्य' की झलक थी, पर सौन्दर्य की यथार्थ अनुभूति नहीं थी। उन प्रकृति के व्यापारों में उसे संकेत मिले, मौन निमन्त्रण मिले—जल, थल, पावस (सावन-भादों) बन, पर्वत सभी की सुषमा में उसे कुछ और का आभास मिला। सौन्दर्य के साथ यहाँ वेदना एकाकार हो गयी।)

वेदना और सौन्दर्य के अनुकूल ही कोमलता और सौष्ठव इनकी अभिव्यक्ति का प्रधान गुण हो गया। 'पल्लव' के 'सा' सादृश्य-बुद्धि से 'गुञ्जन' में कवि 'रे' प्रत्यक्ष-संबोधन 'तद्भुत'—बुद्धि पर आरोह कर गया। सादृश्य में सौन्दर्य से अनुप्राणित सादृश्य था, पर 'गुञ्जन' में वह स्वयं-प्राण हो गया। कवि की दृष्टि में प्रेयसी का रूप निखर आया—पर यहीं कवि की अनुभूति का पलड़ा दुर्बल हो उठा; उसमें बौद्धिक 'अहं' जग पड़ा। 'रे' तक पहुँचकर, वह 'अरे' कह बैठा। जहाँ उसका अहं एकदम विलुप्त हो जाना चाहिये था, वहाँ वह बाहरी ठोकरों से जग पड़ा। उसने सौन्दर्य के अनन्त प्राणवान रूप की जो अनुभूति वेदना के बल से प्राप्त की थी, वह कल्पना स्वर्ग से भूमि पर गिरी और भू-शिला से टकरा कर विच्छिन्न हो गयी।

कवि को लगा कि युग पलट रहा वह पहले स्वर में गा उठा।

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र—

और अब कवि 'बुद्धि' के हाथों बिक गया। युगान्तर और युगवाणी की चर्चा में प्रवृत्त होकर वह ग्राम की भाषा तक पहुँचा और उसका यह समस्त व्यापार बौद्धिक था। अनुभूति बुद्धि से परास्त होती रही, कवि 'स्व' 'पर' से परास्त होता रहा—यों कवि 'प्रगतिवादी' बना। सिद्धान्त ने कवि को क्रूर करों से मसल डाला। तभी कवि मरणासन्न दिखायी पड़ा और जब कवि 'मृत्यु' से 'अमृत्यु' के लोक में आया, पुनरुज्जीवन पाकर जाग्रत हुआ तब उसे फिर नया आलोक मिला, उसकी अब नई अभिव्यक्ति कुछ नये प्रकाश के साथ थी।

× × ×

उसकी नई कविता उसके पुनरुज्जीवन का काव्य है। कवि की दृष्टि पहले से बदल गयी है। कवि ने अनुभव किया है कि उसे कोई गम्भीर कार्य सिद्ध करना है। तभी उसने 'स्वर्ण-किरण' के 'स्नेह-समर्पण' में डॉ० एन० सी० जोशी, से ये शब्द कहे हैं—

'डॉक्टर साहब, मुझे आपने,
दिया पुनः नव जीवन।
गीत गा सकूँ फिर विधि का था,
उसमें गूढ़ प्रयोजन॥'

इन पंक्तियों में पुनः नव-जीवन प्राप्त करने पर आंतरिक प्रसन्नता के साथ 'विधि' में आस्था का विशेष भाव प्रकट हुआ है। निश्चय ही इसमें 'विधि' का गूढ़ प्रयोजन था कि इस कवि को गीत गा सकने का पुनः अवसर मिले। यह कवि पहले तो सौन्दर्य की अनुभूति के आकाशीय स्वर्ग में विचरण करता रहा था, 'भू' से उसे विरक्ति थी, वह वहाँ चरण भी नहीं रखना चाहता था, फिर अनायास ही वह भू-पर 'नहुष' की भाँति आ पड़ा— अभिशप्त होकर। स्वर्ग के द्वार उसके लिए अवरुद्ध हो गये। यह कवि आदम की भाँति किसी हव्वा के बहकाने से 'ज्ञान-वृक्ष' के फल खा गया। विशेष प्रबुद्ध हुआ। ज्ञान पाकर उसे उस समय तक की अपनी स्थिति पर लज्जा आने लगी। और यह अब 'धरती' पर था। धरती को उसने देखा—समझा। दुःख की साँस लेकर रह गया। वह जान गया कि 'न वह, न यह'। उसे अब नया रहस्य प्रकट हो गया था। वह अब उसी 'रहस्य' के गूढ़ प्रयोजन को अपने गीतों में भर लेना चाहता है।

× × ×

कवि की इस नयी वाणी में न तो वह चपलता है जो पहली अवस्था की कविताओं में थी, न वह देहाकुलता है जो बाद के काव्य में थी। कवि में आश्चर्य-मय 'आशा' का सञ्चार हुआ है। आशा का पर्याय वही 'स्वर्ण' है, जो

पहले किरण की भाँति बाहर से आकर एक प्रसन्न परिवर्तन प्रस्तुत कर देता है। तभी कवि उद्धत होकर स्वर्ण-किरण का 'अभिवादन' करते हुए गा उठा है—

"हँस, लो स्वर्ण किरण,

\+ + +

स्वरों में हँसी लहर
ज्योति का जगा प्रहर,
चेतना उठी सिहर
स्वर्ण यह दिव्य अमर"

\+ + +

और कवि यह कामना करने लगा—

"युगों का तामस हरण
करे यह स्वर्ण किरण"

नव जीवन के नवोल्लास में वह यह स्वीकार कर रहा है कि

"जादू बिछा दिया इस भू पर।
तुमने सोने की किरणों की,
जीवन हरियाली बो बो कर॥"

'स्वर्ण किरण' ने आकर जो प्रकाश दिया है, वह 'स्वर्णधूलि' में निज निर्माण के तत्व के रूप में प्रस्तुत हुई है, तभी कवि वहाँ यह उत्कण्ठा से पूँछ बैठा है,

"स्वर्ण बालुका किसने बरसा दी
रे जगती के मरु थल में
सिकता पर स्वर्णाङ्कित कर
स्वर्णिक आभा जीवन मृग जल में।"

और यहाँ अब कवि यह चाहने लगा है कि—

"बीज बनें नव ज्योति वृत्तियों के
जन मन में स्वर्ण धूलि का"

तथा—

"चीर आवरण भू के तम का
स्वर्ण शस्य हो रश्मि अंकुरित
मानस के स्वर्णिम पराग से
धरणी के देशांतर गर्भित!"

आज कवि ने और भी गम्भीरता पूर्वक विचार करना आरम्भ कर दिया है। उसने अपने इस काव्य के द्वारा उस विचार के फलस्वरूप कई समाधान प्रस्तुत कर दिये हैं। उसके समक्ष जो समस्यायें प्रस्तुत हुई हैं, उन पर बहुत स्पष्ट और दृढ़ मत उसने प्रकट किया है। साथ में कला के राग का अवसान भी नहीं होने दिया है। जिस प्रकार 'भारत-भारती' के कवि ने कभी आमन्त्रित किया कि—

'हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या अभी
आओ विचारें आज मिल कर ए समस्यायें सभी'

उसी प्रकार 'स्वर्ण-किरण' में यह कवि भी बुला रहा है—

"आओ सोचें द्विपद जीव
कैसे बन सकता मानव,
शक्ति-मत्त होकर भू देव न
बन जाए भू—दानव।

× × ×

आओ लोक-समस्याओं पर
मिल कर करें विवेचन
विश्व सभ्यता के मुख पर
से हटा मृत्यु अवगुण्ठन।"

इन्हीं बातों पर विचार करने के लिए उसने वैदिक ऋषि के शब्दों में यह प्रार्थना भी की है—

"असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्माऽमृतं गमय।
आर्ष मन्त्र के ज्योति तरंगित ये उदात्त स्वर
ध्वनित आज भी अन्तर्नभ में दिव्य स्फुरण भर
असत् तमस औ मृत्यु सलिल में हमें पार कर
सत्य, ज्योति, अमृतत्व धाम के, जीवन ईश्वर।"

इसी मन्त्र को उसने पुनः 'स्वर्ण-धूलि' में मंगलकामना के रूप में सबसे आरम्भ में यों दिया है—

"मुझे असत् से ले जाओ हे सत्य ओर
मुझे तमस से उठा दिखाओ ज्योति छोर,
मुझे मृत्यु से बचा बनाओ अमृत मोर।

बार बार आकर अन्तर में हे चिर परिचित,
दक्षिण मुख से, रुद्र, करो मेरी रक्षा नित!"

अब कवि के हृदय में 'सत्य, ज्योति और अमृतत्व' के लिए आग्रह बढ़ गया है। 'पक्ष-पात' से वह ऊपर उठा है, और उसने यही चाहा भी है कि सभी पक्षपात से ऊपर उठें; 'कौवे के प्रति' कविता में ये पंक्तियाँ मनन योग्य हैं।

"पक्षपात है नाम कामना का
जो दुख की कारण
उज्ज्वल सभी प्रकाश नहीं रे
काला नहीं सभी तम !
इस प्रकाश के शिखी पिच्छ से
रूप अनेक मनोहर,
जिनमें लिप्त मनुज मन रहता
लोभ स्वार्थ हित तत्पर !
अंधकार, के रूप विविध,
घनश्याम इन्द्रधनु जलधर
उर्वर रखते भू को, मोहक
काली कोकिल के स्वर !
ज्योति हंस औ' तमस
काक इन दोनों से जो है पर
उसी सर्वगत पर जो केन्द्रित
रहे मनुज का अंतर,
हंस रहें जग में मयूर औ'
वायस रहें परस्पर !
सब के साथ अपाप विद्ध,
स्थित प्रज्ञ रहे जग में नर"

कवि ने स्पष्ट ही सर्वगति की प्रतिष्ठा करने का उद्योग किया है। हंस, मयूर और वायस के रहने की भावना में सर्वोदय का भाव है। सत्य की शोध में कवि यहाँ पहुँचा है। यहीं हम 'इन्द्रधनुष' की ये पंक्तियाँ उद्धृत करेंगे—

"तर्कों वादों सिद्धांतों से
बुद्धि प्राण जन पीड़ित

नीति रीति शाखा पंथों में
धर्म प्राण अति सीमित
द्रव्यमान पद के अर्जन में
रत स्त्री-प्रिय नव शिक्षित
महा मृत्यु के पूजन में
वैज्ञानिक राज्य नियोजित"

इनमें कवि ने मानव के दुःखों का निदान प्रस्तुत किया है।

उसने मानव को इस स्थल पर चार कोटियों में विभक्त किया है—(१) बुद्धिप्राण जन, (२) धर्मप्राण जन, (३) स्त्री-प्रिय नवशिक्षित जन, (४) वैज्ञानिक और राजकीय जन।

प्रत्येक कोटि का जन किसी न किसी प्रधान विकार का शिकार है। कवि का ज़िक्र ऊपर दिया जा चुका है। बुद्धि-प्राण जन तर्क, वाद और सिद्धान्त के जटिल जाल में फँसा हुआ है; धर्म-प्राण जन नीति-रीति, विविध सम्प्रदाय और उनके जन अनुष्ठानों से आकुल है; नवशिक्षित स्त्री-प्रिय है, यह द्रव्य, भाव और पद-लोलुपता में उन्मत्त है। वैज्ञानिक और राज्यसत्तावादी जन महामृत्यु के पूजन में निरत है। समस्त संसार के पर्यवेक्षण के उपरान्त यही यथार्थता कवि को विदित हुई है। उसे इसमें 'मानव' का रूप सुरक्षित नहीं दीखता। ऐसी अवस्था में उसे निराशावादी और नास्तिक हो जाना चाहिए था—किन्तु इस अस्वस्थकर वृत्ति को ही उसने 'तमस' की संज्ञा दी है। इस अन्धकार से वह अब निकलता प्रतीत हो रहा है। 'स्वर्ण-किरण' से उसकी वाणी में आस्था और आस्तिकता का जो आशामय उल्लास कमल कोष की भाँति विकसित हुआ था, वह 'स्वर्णधूलि' में पराग की भाँति अणु-अणु में पूर्ण आश्वस्त भाव से व्याप्त हो गया है।

इस नये काव्य का सबसे प्रधान और प्रमुख स्तर यही आस्तिक आस्था और प्रतीति है—

'चीर हृदय के तम का गह्वर
स्वर्ण स्वप्न जो आते बाहर
गाते वे किस ज्योति प्रीति
आशा के गीत प्रतीति से मुखर?'

ज्योति, प्रीति, आशा और प्रतीति ये शब्द आस्तिक आस्था के पर्याय हैं। तुलसी में जिस प्रकार राम रमा हुआ है, प्रत्येक पंक्ति और उसके भाव में आज पन्त में ज्योति, प्रीति, आशा और प्रतीति अन्तर्व्याप्त है। इस आस्था, इस प्रतीति का केन्द्र समन्वय से अनुप्राणित केन्द्र-सत्ता भी है—यही 'ईश्वर' है। इस ईश्वर को ही कवि ने 'मृत्युञ्जय' में देखा है, और घोषित किया है—

'ईश्वर को मरने दो हे मरने दो,
वह फिर जी उट्ठेगा, ईश्वर को मरने दो!
वह क्षण क्षण मरता, जी उठता,
ईश्वर को नित नव स्वरूप धरने दो!'

पर यह केन्द्र-सत्ता व्याप्त—समस्त सत्ता है—इसी कविता में कवि ने इस ईश्वर की परिभाषा दी है—

'एक दृष्टि से, एक रूप में, देख रहे हम
इस भूमि को, जग को, औ'
जग के जीवन को निश्चल।
इसमें सुख दुख जरामरण हैं, जड़ चेतन,
संघर्ष शांति—यह रे द्वन्द्वों का आशय!'

यह तो एक दृष्टि से दर्शन है। कवि कहता है—

'परम दृष्टि से, परम रूप में यह है ईश्वर,
अजर अमर औ' एक अनेक, सर्वगत, अक्षर,
व्यक्ति विश्व जड़ स्थूल सूक्ष्मतर!'

ईश्वर की इस व्याख्या से कवि ने 'एक' और 'परम' दो दृष्टियों और दो रूपों के भेद को स्पष्ट कर दिया है और दोनों में 'सत्य' की प्रतिष्ठा कर दी है—'मरने' और 'जीने' को एक ही रूप दिया है। इस 'चिर' और 'अचिर' दोनों से आवृत्त 'जगत' में उसे 'विकास' नहीं मिल सकता, 'परिणति' ही मिलेगी।

फलतः इस 'प्रतीति' ने उसे 'विकास-वाद' के विरुद्ध 'परिणति-वाद' का अनुयायी बनाया है—

'नित्य पूर्ण यह विश्व चिरन्तन,
पूर्ण चराचर, मानव तन मन,
अन्तर्बाह्य पूर्ण चिर पावन!
केवल जीव वृद्धि पाते हैं,
वे परिणत होते जाते हैं,
जीवन-क्षण, जीवन के युग,
जीवन की स्थितियाँ
परिवर्तित परिवर्धित होकर
भव इतिहास कहाते हैं!

छाया प्रकाश दोनों मिल कर
जीवन को पूर्ण बनाते हैं!
यदि जैसा संग्राम
नाम जीवन का,
अमृत और विष ही परिणाम
उदधि-मन्थन का,
तब परिणति ही है इतिहास सृजन का,
क्रम विकास अभ्यास मात्र रे मन का!'

इस कविता की 'यदि' पूर्व पक्ष की आशङ्का के रूप में है, कवि के पूर्व मानस का वह प्रतिनिधित्व करती है—तभी 'आशङ्का' इस कविता का शीर्षक है। 'तब' उत्तर पक्ष का निश्चित उत्तर है और निर्भ्रान्त भाव प्रकट करता है! जीवन की पूर्णता विरोधी तत्वों के समन्वय में है। यहाँ 'छाया-प्रकाश' की सहजात सहगमनीय अमरता स्वयं सिद्ध हो गयी है—

'यह छाया भी है अविच्छिन्न
यह आँखमिचौनी चिर सुन्दर
सुख दुख के इन्द्र धनुष रङ्गों की
स्वप्न सृष्टि अज्ञेय, अमर!'

अमरता का भाव 'विकासवाद' के विरोध में स्वयं ही उदय होता है। 'आत्मा' भी यहाँ छूटी नहीं है। कवि ने उसके महत्व और उसकी शक्ति को सबसे महान् माना है—मानवता का लक्ष्य ही उसने मानवमन को आत्मा के अभिमुख करना समझा है। उसका विश्वास है कि—

"पिघला देगी लौह मुष्टि को आत्मा की कोमलता
जन-बल से रे कहीं बड़ी है मनुष्यत्व की क्षमता।"

जैसा संकेत किया जा चुका है, इस आस्तिक-आस्था के साथ, इस ईश्वर आत्मा और परिणति के भाव के साथ यह कवि प्राचीनता का भी गायक बन गया है। वैदिक-भावों में उसे अत्यन्त आनन्द मिलने लगा है। वह उन वैदिक-भावों का आज व्याख्याता बन गया है। उपनिषदों के प्रति उसका आकर्षण छायावादी युग से ही था, किन्तु उस युग में वह आकर्षण गहरा नहीं हो पाया था। इस पुनरुज्जीवन के नव-काव्य में उसके भावों का गम्भीर धरातल ही नहीं साधारण धरातल भी वैदिक-भावों क अनुकूलता ग्रहण किये हुए हैं। इस भाव ने उसे भारतीय-संस्कृति के प्रति भी श्रद्धालु बना दिया है, भले ही यह श्रद्धा कवि की

नयी व्यवस्था के साथ हो। तभी हमें जन्म-भूमि का वह गीत मिलता है जो उस ने 'स्वर्णधूलि' संग्रह में दिया है। जिसमें राम, लक्ष्मण, सीता, कृष्ण, सावित्री, अहिल्या का उल्लेख हुआ है; तभी वह भारतीय ऋषित्व को 'अरविन्द' के द्वारा अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता है, तभी वह 'अशोकवन और 'लक्ष्मण' जैसे काव्य भेंट करता है, तभी वह 'भक्ति प्राण श्री मैथिलीशरणजी गुप्त' के चरण छूता मिलता है :—

"योग्य नहीं कुछ भेंट, आप चिर मैथिलीशरण,
गीत मैथिली के गा छूता स्नेह से चरण।"

किन्तु कवि ने 'मैथिली' सीता की एक व्याख्या प्रस्तुत कर दी है। कवि का 'अशोक वन' एक रूपक काव्य बन गया है।

'क्या अशोक बन है, क्या सीता ?
वह सुख वैभव स्वर्ग, और यह।
जन-मङ्गल की मूर्ति पुनीता॥'

कवि ने राम-कथा को युग-विकास की व्याख्या के रूप में ग्रहण किया है। उनकी ऐतिहासिक बौद्धिकता यहाँ प्रश्नोत्तर रूप में एक अमर कहानी का अर्थ समझने में प्रवृत्त मिलती है।

इस समस्त आस्था की प्रतीति-प्रीति-भक्ति-भाव-भूमि के साथ कवि ने वर्तमान कलुष को भी देखा है।

"आज क्षुधा है, शोषित श्रम है,
नग्न प्रजा तम पीड़ित।
प्रीति रहित है अजित काम,
कामना न किञ्चित विकसित॥
अभी नहीं चेतन मानव से,
भू जीवन मर्यादित।
अभी प्रकृति की तमस शक्ति से,
मनुज नियति अनुशासित।"

इस विकृत और अत्याचारपूर्ण स्थिति को देख कर भी कवि के हृदय में कोमलता की शक्ति की जय का भाव प्रबलता पूर्वक उदय हुआ है। उसने हिंसा का विरोध किया है; उसने जड़ता का विरोध किया है, उसने मनुष्य के विभेदों का विरोध किया है। उसने नर-नारी के विभेद के प्रति घोर असन्तोष प्रकट किया है। वह 'अर्ध्वमानव' और 'मनुष्यत्व' के भावी रूप-दर्शन के आनन्द से ज्योतित

हो उठा है, स्थान-स्थान पर उसी चेतन मानव की कल्पना के मधु से उसके काव्य का कटु भी मधुर हो उठा है—वर्गहीन और जातिहीन समाज से भी श्रेष्ठ समाज का भाव इस कवि ने 'नर-नारी' के साम्य को स्थापित करके दिया है। उसने नर-नारी को काम के अत्याचार से ऊपर उठाने का दिव्य उद्योग किया है।

"छोड़ नहीं सकते हैं यदि जन।
नारी मोह, पुरुष की दासी उसे बनाना,
देह द्वेष औ काम क्लेश के दृश्य दिखाना,
तो अच्छा हो छोड़ दें अगर
इस समाज में द्वन्द्व स्त्री पुरुष में बँट जाना।"

इस महान कवि ने आज अपने काव्य के लिए कुछ स्थिर भूमि प्राप्त कर ली है। वह शुद्ध मानवता का पुजारी बन गया है, और कोमल मधुर कल्पनाओं से उसका काव्य मानव मन में सत, प्रिय और शान्त किन्तु कर्मठ संकल्पों का उन्मेष कर रहा है। कवि की यह वाणी अवश्य ही कल्याणकारिणी सिद्ध होगी।

कृष्णकुमार सिनहा

गुंजन : एक परिचय

प्रस्तुत लेख में पन्त की सुप्रसिद्ध कृति 'गुञ्जन' की विवेचना करते हुए उसका संक्षिप्त मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है, जो पाठक की जिज्ञासा को जाग्रत करता हुआ कवि की उदात्त कल्पना और उसकी कला के महत्त्व को व्यंजित करता है।

भाव और विचार दोनों दो वस्तु हैं, परन्तु दोनों का सम्बन्ध अभिन्न है। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। भाव हृदय की सम्पत्ति है और विचार मस्तिष्क की उपज। 'पल्लव' के उपरांत 'गुंजन' का आगमन हुआ। पल्लव के बाद ही कवि पर दहिक और दैविक विपत्तियों का आक्रमण हुआ। इसी बीच कवि दर्शन और उपनिषद् के अध्ययन की ओर झुके तथा जीवन-रहस्यों के अनुसंधान में प्रवृत्त हुए। इस प्रकार उनके कवि-जीवन की दिशा बदल गई। कवि की इच्छाओं के संसार में कुछ समय तक नैराश्य और उदासीनता छा गई। मनुष्य के जीवन के अनुभवों का इतिहास बड़ा ही करुण प्रमाणित हुआ। जन्म के मधुर रूप में मृत्यु दिखाई देने लगी, वसन्त के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का अस्थिर पंजर !

'खोलता इधर जन्म लोचन
मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण
वहीं मधु ऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती, जीवन है भार।'

मेरी (कवि की) जीव-दृष्टि का मोह एक प्रकार से छूटने लगा और सहज जीवन व्यतीत करने की भावना में एक तरह का धक्का लगा। इस क्षणभंगुरता के 'बुद्बुदों के व्याकुल संसार' में परिवर्तन ही एकमात्र चिरंतन सत्ता जान पड़ने लगी। मेरे (कवि के) हृदय की समस्त आशा-आकांक्षाएँ और सुख-स्वप्न अपने भीतर और बाहर किसी महान् चिरंतन वास्तविकता का अंग बन जाने के लिये, लहरों की तरह, अज्ञात प्रयास की आकुलता में ऊब-डूब करने लगे।

किन्तु दर्शन का अध्ययन विश्लेषण की पैनी धार से जहाँ जीवन के नाम-रूप-गुण के छिलके उतार कर मन की शून्य परिधि में भटकता है, वहाँ वह छिलके में फल के रस की तरह व्याप्त एक ऐसी सूक्ष्म संश्लेषणात्मक सत्य के आलोक से भी हृदय को स्पर्श करता है कि उसकी सर्वातिशयता चित्त को अलौकिक आनन्द से मुग्ध और विस्मित कर देती है। भारतीय-दर्शन ने मेरे (कवि) मन को स्थिर कर दिया।

'जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन,
बरसो लघु लघु तृण तरु पर हे चिर अव्यय चिर नूतन।'
—गीत

इसी सविशेष कल्पना के सहारे हम कह सकते हैं कि कवि ने अपने जीवन के प्रति एक नवीन आशा-समन्वित दृष्टिकोण को लेकर ईश्वर, जीव, प्रकृति, मुक्ति आदि समस्याओं पर विचार किया। इसी समय उन पर प्राच्य तथा पाश्चात्य दर्शन तथा अन्य ललित कलाओं का विशेष प्रभाव पड़ा। परन्तु यह उनका बाह्य प्रभाव है जिसने उनकी हार्दिकता को धक्का नहीं दिया। उन्हें भौतिक जगत के आदर्शों के प्रति विश्वास न रह गया, इसीलिये उन्होंने भारतीय आस्तिकता का आँचल दृढ़ता के साथ पकड़ा। यथा—

'ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे।'
गीत, १०

पंत जी के जीवन सम्बन्धी मर्मों एवं उनके विचारों को समझने के लिये 'ज्योत्स्ना' का अध्ययन अनिवार्य है। उन्होंने 'गुंजन' में जो पद्यमय विचार प्रकट किये हैं, वे गद्यरूप में 'ज्योत्स्ना' में बिखरे हुए हैं। उन पर पश्चिम के मार्क्सवाद का अक्षरशः प्रभाव पड़ा है, परन्तु वे कठोर भौतिक युग का प्रतिकार करते हैं, जिसका विचार निम्नलिखित शब्दों में 'ज्योत्स्ना' के द्वारा प्रकट किया गया है। यथा—वह कहती है-'मनुष्य को यथार्थ प्रकाश की आवश्यकता है। इस अनादि और अनन्त जीवन पर अनन्त दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला जा सकता है। ज्ञान-विज्ञान से मनुष्य की अभिवृद्धि हो सकती है, विश्वास नहीं हो सकता। सरल सुन्दर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रखकर मनुष्य-जाति सुख-शान्ति का उपभोग कर सकती है, पशु से देवता बन सकती है।'—इसी ईश्वरत्व पर विश्वास रखकर ही नव-जीवन का निर्माण हो सकता है तथा 'गुंजन' में कवि ने यों लिखा है—

'सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज-सहज सांसों से चलता उर का मृदु स्पन्दन।'
—गीत, १२

कवि को ईश्वर पर विश्वास तो है ही, परन्तु उसने प्रकृति एवं जीव की सत्ता को भी चिरन्तन माना है। वह इन वस्तुओं को नश्वर नहीं कहना चाहता, क्योंकि इनकी नश्वरता में ही संसार असार है और मानव शीघ्र ही विरक्त होने के लिए प्रयत्नशील होने लगेगा। इसीलिए ईश्वर की महत्ता के सदृश प्रकृति और जीव की भी महत्ता है। इनका कम महत्त्व नहीं है—

'मानव दिव्य स्फुलिंग चिरंतन'

में ही अमरता का सन्देश है। जिस प्रकार मानव-जीवन-धारा चिर-व्यापी, चिरन्तन एवं शाश्वत है, उसी प्रकार प्रकृति भी। इसका निर्देश कवि ने 'नौका-विहार' शीर्षक कविता की अन्तिम पंक्तियों में किया है। देखिए—

'शाश्वत लघु लहरों का विलास।
हे जग-जीवन के कर्णधार!
चिर जन्म-मरण के आर-पार,
शाश्वत जीवन नौका-विहार।
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान,
जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझको अमरत्व दान।'

—गीत, ४३

जीवन के अमरत्व के साथ-साथ पुनर्जन्म में विश्वास है, क्योंकि मुक्ति एक प्रकार का बन्धन है—

'तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन।'

गीत, १

वे इस प्रकार की मुक्ति से पलायन करते हैं, क्योंकि मानव के जन्म-मरण को शाश्वत मानते हैं। जिस प्रकार जीव की सत्ता चिरन्तन है, उसी प्रकार प्रकृति की सत्ता भी शाश्वत है। विश्व की सृष्टि सत्य, शिव एवं सुन्दर है। संसार प्रकृतिमय है और वह कवि के हृदय में आह्लादमयी भावनाओं को जन्म देती है। इसके अतिरिक्त कवि का मन संकुचित व्यक्तिगत सुखों की तृष्णा के कारण चंचल रहता है। अस्तु, प्रकृति चिरव्यापी एवं सौन्दर्यमय है—

'प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर,
तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर, सुरवर,
सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि अमर;
निज सुख से चिर चंचल मन,
मैं हूं प्रतिपल उन्मन, उन्मन।'

गीत, १०

जब जगत् के जीव, प्रकृति सुन्दर हैं, तब मानव-जीवन का सुन्दर होना अनिवार्य है; इसीलिए पन्त का कवि कहता है—

'जग-जीवन में उल्लास मुझे,
नव आशा नव अभिलाष मुझे।'

—गीत १०

लेकिन मानव-जीवन इतना सुन्दर नहीं है जितना कवि समझता है। अतः चारों ओर कुहराम मचा हुआ है, क्योंकि सुख-दुःख का प्रश्न कवि के सम्मुख है—

'जग-जीवन में है सुख-दुख;
सुख-दुख में है जग-जीवन।'

—गीत, ६

इसके अतिरिक्त मानव सुख-दुःख के वृत्त से बाहर नहीं आया है और इन दोनों का मर्म उसे अच्छी तरह ज्ञात है—

'सुख दुख न कोई सका भूल।'

—गीत, ९

और जीवन की पूर्णता के लिए एक नवीन मार्ग का अनुसंधान करने को प्रस्तुत होता है। मानव-जीवन के निरीक्षण के उपरान्त कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सुख-दुःख का सम-विभाजन उचित रीति से नहीं हुआ है। सुख या दुःख का आधिक्य ही मानव-जीवन की पीड़ा का मूल कारण है। जीवन की सार्थकता के लिए सुख और दुःख का अनुपातत: मिश्रण अनिवार्य है और तभी जीवन आनन्दमय एवं शान्तिमय हो सकता है। यहाँ कवि का साम्यवादी विचार स्पष्टत: झलकता है, जो पाश्चात्य साहित्य की देन है। जिस प्रकार मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार सम्पत्ति का सम-विभाजन अनिवार्य है, उसी प्रकार सुख-दुःख का वह साम्य चाहता है। देखिए, कवि को सदा व्याप्त रहने वाले सुख या दुःख वांच्छित नहीं—

'मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
नहीं चाहता चिर-दुख।'

—गीत, ४

जीवन में सुख या दुःख का स्थायी रूप से वर्त्तमान रहना भी एक प्रकार का संताप है—

अविरत दुख है उत्पीड़न,
अविरत सुख है उत्पीड़न,

इसीलिए दोनों के सम्मिश्रण में ही जीवन की सार्थकता है और जीवन की पूर्णता के लिए सुख-दुःख समान रूप से बँट जाये—

'सुख-दुख के मधुर मिलन से,
यह जीवन हो परिपूरण;
मानव जग में बँट जावे,
दुख सुख से औ सुख दुख से।'

—गीत, ४

अन्त में कवि मानव-जीवन को हास-अश्रुमय आनन मानता है—

'यह साँझ उषा का आँगन
आलिंगन विरह-मिलन का,
चिर हास-अश्रुमय आनन
रे इस मानव-जीवन का ।'

—गीत, ४

इसी प्रकार कवि प्रसाद ने 'आँसू' में भी लिखा है—

'मानव-जीवन-वेदी पर
परिणय है विरह-मिलन का,
सुख-दुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का ।'

—आँसू : प्रसाद

वास्तव में मानव अपने कल्याण के लिए 'अति इच्छा' करता है, जो जीवन का एक भार बन जाता है—

'बढ़ने की अति इच्छा से
जाता जीवन से जीवन ।'

—गीत, ३

परन्तु 'अति इच्छा' से दुःख की प्राप्ति होने पर भी कवि उस दुःख से मुक्त नहीं होना चाहता—

'दुख इस मानव-आत्मा का
रे नित का मधुमय भोजन,
दुख के तम को खा खाकर
भरती प्रकाश से वह मन ।'

—गीत, ७

'ज्योत्स्ना' में पंत की कल्पना कहती है—'संसार की भौतिक कठिनाइयों से परास्त होकर, उसके दुःखों से जर्जर होकर, मनुष्य की समस्त शक्ति इस समय केवल बाह्य प्रकृति के अत्याचारों से मुक्ति पाने की ओर लगी है, जिसके लिए उसने भूत-विज्ञान की सृष्टि की है। मानव-जीवन के बाह्य क्षेत्रों एवं विभागों को संगठित एवं सीमित कर, अपने आंतरिक जीवन के लिए उदासीन होकर, मनुष्य अपनी आत्मा के लिए नवीन कारा निर्मित कर रहा है।'

कवि ने 'आंतरिक जीवन' की व्याख्या इन शब्दों में की है—

'आत्मा है सरिता के भी
जिससे सरिता है सरिता,
जल जल है, लहर लहर रे,
गति गति, सति सति चिर भरिता।'

—गीत, ३

आत्मा जीवन का आधार-स्तम्भ है और इसके विस्तार में ही मानव का परमानंद अन्तर्हित है। 'अहं ब्रह्म' की यही मूल साधना है। यह मानवता सिहरन, स्पन्दन और कम्पन से आविर्भूत है। मानव-जीवनाकाश में सुख-दुःख वर्तमान है। कवि को यह सुख-दुःख अस्थिर प्रतीत होता है, परन्तु जीवन नित्य और चिरन्तन है। जीवन ही, जो सुख-दुःख से ऊपर है, वह मन का एकमात्र अवलंबन है—

'अस्थिर है जग का सुख-दुख
जीवन ही नित्य-चिरन्तन।
सुख-दुख से ऊपर मन का
जीवन अवलम्बन!'

—गीत, ७

वास्तव में दुःख-सुख का अस्तित्व तो अवश्य है, परन्तु यह चिरन्तन नहीं है। जीवन चिर-स्थायी है और वह दोनों को समान रूप से अपने अन्दर स्थान दिये हुए है। कवि ने जीवन को इस सूक्ष्म दृष्टि से ग्रहण किया है कि वह दृढ़ता पूर्वक कहता है—

'जीवन की लहर लहर से
हँस खेल-खेल रे नाविक!
जीवन के अन्तराल में
नित बूड़-बूड़ रे भाविक।'

— गीत, ६

अतः इस स्थिति से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव-जीवन की प्रत्येक लहर में, चाहे वह सुख की हो या दुःख की, हँसते खेलते बह जायँ। इस प्रकार आत्म-चिंतन की उस ऊर्मि में हम इतने तल्लीन हो जायेंगे कि उसकी प्रत्येक लहर प्रिय प्रतीत होगी। जीवन की जो दौड़ है, उसमें जन्म-मरण का कोई विशेष स्थान नहीं है। इस जन्म-मरण में जीवन की सार्थकता नहीं है। इसी पर एक अंग्रेज कवि ने कहा है—

'Birth is not the beginning of life
Nor death is ending.

Birth and death begin and end
Only a single chapter in life.'

इसीलिए यह कहा गया है कि मानव जन्म-मरण के पचड़े में न पड़कर अग्रसर रहे और अपने जीवन रूपी कर्तव्यों को पूरा करता जाय। मानव का वास्तविक सुख इसी में है कि अपने जीवन की प्रत्येक परिस्थितियों को हँसते-हसते झेल ले क्योंकि इन परिस्थितियों का एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः सम्पूर्ण मानव-जीवन की सार्थकता इसी में है—

'महिमा के विशद जलधि में
हैं छोटे-छोटे से कण
अणु से विकसित जग-जीवन
लघु अणु का गुरुतम साधन।'

—गीत, १२

हम लोगों ने अत्यधिक महत्त्वाकांक्षा के कारण अपने जीवन को विषाद-पूर्ण बना दिया है तथा जीवन का उल्लास भी नष्ट हो गया है। इसीलिए कवि ने कहा है कि अपने अभीष्ट की पूर्ति के लिए छोटी-छोटी परिस्थितियों को हेय दृष्टि से देखते हैं, परन्तु उन्हीं क्षणों के द्वारा अपने जीवन को आह्लादमय बनाना चाहिए—

'सागर-सङ्गम में है सुख
जीवन की गति में भी लय,
मेरे क्षण-क्षण के लघु कण
जीवन लय से हो मधुमय।'

—गीत ३,

इस प्रकार छोटी-छोटी वस्तुओं के प्रति हमारी सहानुभूति का होना अनिवार्य हो जाता है और उसका महत्त्व अधिक बढ़ जाता है। यह कवि-हृदय का स्पन्दन नहीं है, बल्कि विश्व-जीवन की धड़कन है। इसके शब्द कवि द्वारा निर्मित हैं, परन्तु विचार तत्त्व-चिन्तक के हैं। 'पल्लव' का कवि अब जगत् को हास-उल्लासमय न देखकर इस संतप्त जग में अपने अन्तःप्रदेश की सहानुभूति का प्रसार करता है। उसका सौन्दर्य-सुरभित हृदय, दूसरे के प्रणय मधुरित कलित हृदय को देखकर रो उठता है। अपने को—

'तप रे मधुर मधुर मन,
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल

जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुप, उज्ज्वल औ कोमल
तप रे विधुर विधुर मन !
अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम !'

—गीत, १

कवि संसार के संताप से अपने जीवन को अकलुप, उज्ज्वल एवं पापरहित बनाता है। यह इसलिए नहीं कि वह अपनी योग-साधना के द्वारा मुक्ति प्राप्त कर ले। जैसा कि हमने ऊपर लिख दिया है कि कवि जीवन के अमरत्व के साथ-साथ पुनर्जन्म पर विश्वास रखता है; क्योंकि मुक्ति स्वयं एक प्रकार का बंधन है—

'तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन
गंधहीन तू गंधयुक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन!
मूर्तिमान बन, निर्धन !'

—गीत, १

वह जीवन को पावन बनाकर मुक्ति की कामना नहीं करता, क्योंकि वह देवता के निकट पहुँचकर वरदान प्राप्त करने के लिए आतुर नहीं है। वह संसार के साथ ममत्व स्थापित कर मनुष्य के हृदय तक पहुँचकर मानवता का संदेश देना चाहता है। ईश्वर की प्राप्ति में हमारा कार्य सहयोग देता है, पर वह जो कुछ भी देता है अपनी आरती लेकर। परन्तु मनुष्य सफलता-असफलता, सुख-दुःख, जन्म-मरण, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा में हमारा सहायक बनेगा, आत्मा से आत्मा मिलाकर। शरीर की भिन्नता अवश्य रहेगी, परन्तु आत्मा एक, अमर, शाश्वत एवं चिरंतन रहेगी। इसीलिए कवि काजी नजरुल ने लिखा है कि हमें किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है और है भी तो केवल मनुष्य की—

'नाई दानव, नाई असर,
चाई न सूर, चाई मानव !'

वस्तुतः जिस दिन यह मानव मानवता के संग संसार की भू पर चरण-पद्म को रखेगा, उसी समय उसी क्षण यह संसार स्वर्गमय हो जायगा। यही मानव हमारा ईश्वर है। कवि ने 'ज्योत्स्ना' के एक गीत में कहा है—

'न्योछावर स्वर्ग इसी भू पर
देवता यही मानव शोभन
अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन-बंधन!'

—'ज्योत्स्ना'

अब यह प्रश्न उठता है कि इस प्रकार का जो भू-स्वर्ग होगा, वह क्या वास्तविक संसार से विरक्त एवं विमुख होकर? कवि के अनुसार, कदापि नहीं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पंक्तियों में देखिए—

'वैराग्य-साधने मुक्ति, से आमार नय
असंख्य-बंधन माझे महानंदमय
लभिव मुक्तिर स्वाद। एइ बसुधार
मृत्तिकार पात्र खानि भरि बारम्बार
तोमार अमृत ढालि दिये अविरत
नाना वर्ण गंधमय। प्रदीपेर मतो
समस्त संसार मोर लक्ष वर्तिकाय
ज्वालाये तुलि बे आलो तोमारि शिखाय
तोमारि मंदिर माझे!
इंद्रियेर द्वार
रुद्ध करि योगासन, से नहे आमार
जे किछु आनन्द आछे दृश्य गंधे गान
तोमार आनन्द र'बे ता'र माझखाने
मोह मोर मुक्ति रूपे उठिबे ज्वलिया,
प्रेम मोर भक्तिरूपे रहिबे फलिया।'

रवींद्रनाथ ठाकुर

अर्थात्—'वैराग्य-साधन से जो मुक्ति होती है वह मुझे नहीं चाहिए। मैं तो (असंख्य सांसारिक) बंधनों के बीच पड़ा हुआ महानन्दमय (सच्चिदानन्दमय) मुक्ति का स्वाद पाऊंगा। इस वसुधा की मिट्टी के बने हुए पात्र में ही तुम (प्रभु) नाना वर्णगन्धमय अपना अमृत बार-बार डाल दोगे। प्रदीप की नाईं मेरा यह संसार (जीवन) लाखों बत्तियों के प्रकाश से, तुम्हारी ही ज्योति-शिखा से उद्भासित होकर, तुम्हारे ही मंदिर (विश्व) में जगमगा उठेगा।

योगासन करने से यदि इन्द्रियों के द्वार रुद्ध होते हैं तो मुझे दरकार नहीं। (संसार के) दृश्य-गन्ध गान में जो कुछ भी आनन्द है, उनके बीच मुझे तुम्हारा

ही आनन्द उपलब्ध होगा। तब मेरा मोह मुक्तिरूप में खिल उठेगा, मेरा प्रेम ही भक्तिरूप में सफल हो जायगा।'

सचमुच मानव के विहग की भाँति स्वच्छन्द रहने में ही जीवन का सौन्दर्य है। कवि ने मानव-जीवन के क्रम का एक ढाँचा दिया है।

> 'सुन्दर से नित सुन्दरतर,
> सुन्दरतर से सुन्दरतम,
> सुन्दर जीवन का क्रम रे
> सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन।'
>
> —गीत, १३

और वह कोरे ज्ञान से बहुत घबराता है। इसे 'शून्य जृम्भामात्र निद्रित बुद्धि की' मानता है। इसीलिए निर्लिप्त दृष्टि से कवि ने कहा है—

> 'मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
> संस्कृति के स्वर्गिक-स्पर्शों का,
> जीवन के हर्ष-विमर्षों का,
> लगता अपूर्ण मानव-जीवन,
> मैं इच्छा से उन्मन, उन्मन।
> जग-जीवन में उल्लास मुझे,
> नव-आशा, नव-अभिलाष मुझे,
> ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे,
> चाहिए विश्व को नव-जीवन,
> मैं आकुल रे उन्मन, उन्मन।'
>
> —गीत, १०

यहाँ पर पंतजी ने यह जिज्ञासा प्रकट की है कि 'विश्व को नवजीवन' चाहिए, उसका स्वरूप क्या हो। इसका उन्होंने स्पष्टीकरण 'ज्योत्स्ना' के शब्दों में यों किया है—

'आदर्श चिरंतन अनुभूतियों की अमर प्रतिमाएँ हैं। वे तार्किक सत्य नहीं, अनुभावित सत्य हैं। आदर्शों को सापेक्ष दृष्टि से देखने पर ही मनुष्य उनकी आत्मा तक पहुँच सकता है। निरपेक्ष सत्य शून्य नहीं, वह सर्व है। प्रत्येक वस्तु का निरपेक्ष मूल्य भी है। आदर्श व्यक्ति के लिए असीम है। देश, काल समाज आदर्श की सीमाएँ हैं, सार नहीं, उनके इतिहास हैं, तत्त्व नहीं।' इससे

स्पष्ट होता है कि उनके आदर्शमय स्वरूप परम्परागत एवं रूढ़िगत नहीं हैं। उनके आदर्श स्वभाव के अनुरूप चलते हैं। प्रवृत्ति-निवृत्ति-मार्ग (Positive, Negative, attitudes) सदैव ही रहेंगे, दोनों ही अपने-अपने स्थान पर सार्थक हैं, पहला भोक्ता के लिए, दूसरा द्रष्टा के लिए, जिसे ज्ञान प्राप्त करना है।'

पन्त ने नवजीवन का शान्तिमय स्वप्न देखा है, वह यह है कि—'संसार से यह तामसी विनाश उठ जाय और यह सृष्टि प्रेम की पलकों में, अपने ही स्वरूप पर मुग्ध, सौन्दर्य का स्वप्न बन जाय।'

पन्त का कवि भौतिकवादी एवं अध्यात्मवादी सिद्धान्तों का समन्वय चाहता है, परन्तु वह पूर्ण न हो सका। क्योंकि—'ज्योत्स्ना' के वेदव्रत के शब्दों में—'पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिमा पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भर एवं अध्यात्मवाद के अस्थिपंजर में भूत या जड़ विज्ञान के रूप-रंग भर हमने नवीन युग की सापेक्षतः परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया।' तथा 'इसीलिए इस युग का ('ज्योत्स्ना' में सांकेतिक भावी युग) मनुष्य न पूर्व का रह गया है, न पश्चिम का। पूर्व और पश्चिम दोनों ही मनुष्य के बन गये हैं।'

इसके सिलसिले में श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने अपने एक निबन्ध 'पन्त और महादेवी' (युग और साहित्य, पृ० सं० ३४८-४६) में लिखा है—'यह पन्त का सापेक्षिक दृष्टिकोण है। किंतु पन्त का निरपेक्ष दृष्टिकोण भी है। वे अपनी दार्शनिक सूक्ष्मता में बहुत ऊपर उठ जाते हैं। एक ओर तो सापेक्षिक दृष्टिकोण से वे यह कहते हैं—

'सुख-दुख के मधुर मिलन से,
यह जीवन हो परिपूरन।'

दूसरी ओर उनका यह निरपेक्ष दृष्टिकोण भी है—

'सुख-दुख के पुलिन डुबाकर
लहराता जीवन-सागर

सुख-दुख से ऊपर मन का
जीवन ही रे अवलम्बन।'

पन्त का यही निरपेक्ष दृष्टिकोण सापेक्षिक दृष्टिकोण को सन्तुलन देता है। सुख-दुःख तथा आत्मा और भूत को पन्त का कवि निमित्तमात्र मानता है, इसीलिए उनके प्रति अनावश्यक लोभ न रखकर उनका [illegible] संकलन कर लेता है। यों कहें कि उभय द्वन्द्वात्मक तत्त्वों से परे एक परम सत्य को पा लेने के लिए कवि

अपने निरपेक्ष दृष्टिकोण में एक तटस्थ द्रष्टा है। हाँ, उसकी तटस्थता मनुष्य की आत्मसाधना की ओर अधिक ममतालु है।'

'गुंजन' में कवि-कल्पना की भांति विचारों का गुम्फन है। वह दार्शनिक विचारों का एक बृहत शब्द-कोष है जिसमें इच्छा, व्यक्ति, समाज, ईश्वर के सम्बन्ध में चिंतन करने योग्य अच्छी सामग्री भरी पड़ी है। इसमें साधना का भरपूर उपकरण है, परन्तु अतिशय साधना लोक-कल्याण के लिए लाभप्रद नहीं, इसीलिए 'सम-इच्छा' जीवन की भीख है—

'साधन भी इच्छा ही है,
सम इच्छा ही रे साधन।'

—गीत, ६

संसार में प्रेम और सहानुभूति प्रकट करने के लिए मानव का जन्म हुआ है। कवि ने मानव का आदर्शमय सुसज्जित मूर्त्त रूप सम्मुख रखा है—

'तुम मेरे मन के मानव
मेरे गानों के गाने;
मेरे मानस के स्पन्दन,
प्राणों के चिर पहचाने।

× × ×

सीखा तुमसे फूलों ने
मुख देख मन्द मुसकाना,
तारों ने सजल नयन हो
करुणा-किरणें बरसाना।'

—मानव

अब पन्त का कवि कल्पनामय छायालोक को छोड़कर भूमि पर आ उतरा और मानव-जीवन के लिए सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि विचारों को प्रस्तुत किया, क्योंकि आज की परिस्थिति ऐसी हो गई है कि मानव भावप्रवण नहीं रह सकता।

रघुवंशनारायण

'गुञ्जन' की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि

पंत की अरूप-वृत्ति, दार्शनिक दृष्टिकोण और जीवन सम्बन्धी मर्मों एवं विचारों से अवगत होने के लिए दार्शनिक-विवेचन अनिवार्य है। 'पल्लव' के बाद 'गुंजन' में उनकी बुद्धि चिरन्तन, शाश्वत सत्य से आ टकराई है, जहाँ जीवन-रहस्य में उनकी अन्तरंग वृत्तियाँ लय हो गई हैं। प्रस्तुत कृति में सुख-दुःख की दार्शनिक विवेचना के पश्चात् कवि ने जीवन की प्रतिकूल स्थितियों में समत्व स्थापित करने का प्रयास किया है।

"मैं पल्लव से गुंजन में अपने को सुन्दरम् से शिवम् की भूमि पर पदार्पण करते हुए पाता हूँ।" —पन्त

'पल्लव' में कवि ने रूप ढूँढ़ा था, 'गुंजन' में वह अरूप ढूँढ़ रहा है। 'पल्लव' में कवि ने सुषमा खोजी थी, 'गुंजन' में वह लोक-कल्याण का संधान कर रहा है। 'पल्लव' में उसके नयन परितृप्त हुए थे, 'गुंजन' में वे परितोष माँग रहे हैं। इसीलिये कवि 'पल्लव' की पल्लवित एवं सुषमा-सिक्त भूमि से 'गुंजन' के चिन्तन-लोक में उतरा है।

पिता के निधन और अपनी दीर्घ रुग्णता के पश्चात् स्वास्थ्य-लाभ के प्रतिक्रिया-रूप में कवि ने 'परिवर्तन' शीर्षक कविता को जन्म दिया, जिसमें कवि सौन्दर्य-द्रष्टा न होकर मानव-द्रष्टा हो गया है—सृष्टि के 'निष्ठुर परिवर्तन' पर वह कातर हो जाता है। मानव-जग में सुख-दुःख, दिवा-निशा, जन्म-मृत्यु आदि का क्रम लगा रहता है।

'आज बचपन का कोमल गात।
जरा का पीला पात!
चार दिन सुखद चाँदनी रात,
और फिर अन्धकार अज्ञात।'

(पृष्ठ ७८ 'पल्लव')

और—

'खोलता इधर जन्म लोचन
मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण'

(पृष्ठ ७९)

जीवन की इस वास्तविक कठोरता से टकरा कर 'पल्लव' और 'गुंजन' के बीच कवि की किशोर भावना का सौन्दर्य-स्वप्न टूट गया। दर्शन और उपनिषद् के अध्ययन ने उसके रागतत्व में मंथन पैदा कर दिया और कवि ने सौन्दर्य-लोक से उतर कर मानव के चिरन्तन भाव-जगत में प्रवेश किया। स्वदेशी आंदोलन एवं छायावाद की विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप कवि पीड़ित मानव के सुख-दुःख को देखने के लिये विकल हो उठा। इस प्रकार 'पल्लव' का

व्योम-विहारी गीत-खग 'गुंजन में' जीवन के विटप पर उतर आया है। कवि ने जीवन-तरु की डाली-डाली फेरी लगाई है और पाया है कि इस तरु की डाली में 'सुख के तरुण फूल' हैं और कुछ 'दुख के करुण शूल'। मानव-उर-आँचल को जहाँ पराग ने सुवासित किया है, वहाँ काँटों ने उसे झाँझर भी किया है—

'देखूँ सब के उर की डाली—
सब में कुछ सुख के तरुण फूल,
सब में कुछ दुख के करुण शूल;
सुख-दुःख न कोई सका भूल ?'

(पृष्ठ सं० १७)

मनुष्य सुख की कामना करता है—निरन्तर सुख-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। किन्तु उसे दुःख ही मिलता है; पग-पग पर उसे 'कुटिल काँटों' का सामना करना पड़ता है—उसके शरीर लहु-लुहान हो जाते हैं। यह कैसी असंगति है। कवि जीवन की इस पहेली पर विचार करता है और पाता है कि हमारे दुःखों के मूल में हमारी मृग-तृष्णा है—हमारी अमर्यादित अभिलाषायें हैं—हमारी 'अति-इच्छा' है। इसीलिये हमारा रुदन है, असंताप है !

'वह जाता बहने का सुख,
लहरों का कलरव, नर्तन,
बढ़ने की अति इच्छा में,
जीता जीवन से जीवन ।'

(पृष्ठ सं० १४)

कवि पन्त जब इस वस्तु-जगत में आँखें दौड़ाता है तो पाता है कि कोई दुःखों के आधिक्य से पीड़ित है तो कोई सुखों के भार से विकल।

'जग पीड़ित है अति-दुःख से,
जग पीड़ित रे अति-सुख से,'

कवि कहता है कि जिस तरह शहद में मधुप के पर भींग जाते हैं और वह गुंजार नहीं कर पाता—वास्तविक आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता, उसी तरह अत्यधिक सुखों में लिप्त रहने वाला मानव सुखों के वास्तविक आनन्द की उपलब्धि नहीं कर सकता। उसका जीवन शिथिल, क्रियाहीन और पंगु हो जाता है। फिर दीर्घ अत्यधिक वेदना से मनुष्य का अन्तर भारी हो जाता है, जिससे उसकी वाणी मूक हो जाती है—स्वर तार-तार हो जाते हैं। हृतन्त्री के तार ढीले पड़ जाते हैं और विपंची निर्वाक् हो जाती है। देखिये—

'अपने मधु में लिपटा कर,
कर सकता मधुप न गुंजन;
करुणा से भारी अन्तर
खो देता जीवन कम्पन।'

(पृ० सं० २०)

अतः कवि चाहता है कि मानव-जगत में दुःख-सुख समान रूप में बँट जाए—न किसी को बहुत अधिक सुख हो, न किसी को बहुत अधिक दुःख हो; कवि चाहता है कि 'सुख-दुख के मधुर-मिलन से' मनुष्य का जीवन पूर्ण हो। कवि के शब्दों में—

'मानव-जग में बँट जावे',
दुख सुख से औ' सुख दुख से।'

(पृ० सं० १६)

और—

'सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरण;
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।'

(पृ० सं० १६)

यह जीवन के प्रति कवि का सामंजस्यवादी दृष्टिकोण है। पंत जी ने कहा भी है—"'गुंजन' में मेरी बहिर्मुखी प्रकृति सुख-दुःख में समत्व स्थापित कर अन्तर्मुखी बनने का प्रयत्न करती है।"

कवि कहता है कि सुख-दुःख क्षणिक है। आत्मा ही चिरन्तन है, शाश्वत है। आत्मा सुख-दुःख के परे है। आत्मानन्द सख-दुःख के कटोर प्रहारों से विचलित नहीं होता।

'अस्थिर है जग का सुख-दुःख,
जीवन ही नित्य चिरन्तन!
सुख-दुख के ऊपर, मन का
जीवन ही रे अवलम्बन!'

सुख-दुःख की दार्शनिक विवेचना के बाद कवि मनुष्य-जीवन के और विविध अंगों पर भी अपना मत देता है।

ईश्वर और सर्ववाद (Pantheism)—पन्त जी को ईश्वर के अस्तित्व पर पूरा भरोसा है। वे कहते हैं:—

'ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे'

किन्तु पन्त जी का वह ईश्वर अद्वैतवाद का ब्रह्म नहीं, उन्हें ईश्वर के प्रत्यक्ष रूप से प्रेम है। अद्वैतवादी ब्रह्म को वे 'मोती वाली मछली' कहते हैं, जिसके पाने के लिये उन्हें सागर के निस्तल जल में जाना होगा—जीवन की गहराई में उतरना पड़ेगा; यह उनके स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल है। वह द्वैत इसलिये पसन्द करता है कि द्वैत में ही उसका व्यक्तित्व सुरक्षित रह सकता है। वह विश्व-सुन्दरी प्रकृति के रस-सौन्दर्य एवं भाव-सौन्दर्य के बीच पैठ कर ही ईश्वर का मनोहारिणी रूप देखना चाहता है।

'सुनता हूँ, इस निस्तल-जल में
रहती मछली मोती वाली,
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल-जल-माली।
आयेगी मेरे पुलिनों पर
वह मोती की मछली सुन्दर
मैं लहरों के तट पर बैठा
देखूँगा उसकी छवि जी-भर।'

(पृ० सं० ७१)

कवि प्रत्यक्ष सत्ता—द्वैत तो मानता है, पर द्वैतवादियों की तरह जड़—चेतन में विभिन्नता वह नहीं मानता। उसका कहना है कि समस्त जड़—चेतन में एक ही प्राण का स्पन्दन है, एक ही आत्मा दोनों में बोल रही है—दोनों के प्राणों में किसी परोक्ष सत्ता का प्रतिबिम्ब है। कवि की भावना सर्ववाद (Pantheism) के बहुत निकट है। सर्ववाद में ईश्वर की कल्पना तो नहीं होती, पर समस्त जड़-चेतन में किसी विराट सूक्ष्म सत्ता का प्रतिफलन मान्य होता है। देखिए:—

'मैं चिर उत्कण्ठातुर
जगती के अखिल चराचर;
यों मौन-मुग्ध किसके बल।'

आत्मा:—कवि पन्त को आत्मा की सत्ता पर पूर्ण आस्था है। आत्मा जड़—चेतन दोनों में समान रूप से विद्यमान कवि मानता है।

'आत्मा है सरिता के भी,
जिससे सरिता है सरिता।'

(पृ० सं० १४)

आत्मा सुख-दुःख के आघातों से कलुषित नहीं होती। यह 'सुख-दुःख के ऊपर मन का अवलम्बन' है।

'सुख-दुख के ऊपर, मन का,
जीवन ही रे अवलम्बन।'

(पृ० सं० २०)

मुक्ति और बन्धन:— मुक्ति के सम्बन्ध में कवि के विचार अत्यन्त सुन्दर हैं। वह वेदान्तवादियों की मुक्ति नहीं चाहता—वह निराकार परमसत्ता में अपने व्यक्तित्व का लोप कर देना नहीं चाहता। वह ऐसी मुक्ति नहीं चाहता जो सदा के लिए उसे विश्व-माधुरी के पान से विलग करदे। कवि दृष्टि में सृष्टि-सौन्दर्य के बीच रहना सच्ची मुक्ति है। सगुण से मुक्त हो कर परमात्मा में समाहित हो जाना तो अदृश्य बन्धन है।

'तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन,
गन्ध हीन तू गन्ध युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन!
मूर्तिमान बन, निर्धन!
गल रे गल निष्ठुर मन।'

(पृ० सं० ११)

कवि जगत के बन्धन के बीच रहना पसन्द करता है। जब उसका हृदय विश्व-सौन्दर्य से तादात्म्य स्थापित कर लेता है तो उसका हृदय विश्व की संकीर्ण कारा से मुक्त होकर अक्षय आनन्द का अनुभव करता है। कबीर की तरह वह भेद के बीच अभेद देखता है—उसके मन के रज और तम-भाव तिरोहित हो जाते हैं—सात्विक भाव का उद्रेक होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार—"हृदय की मुक्तावस्था का नाम ही रस-दशा है। रस-दशा में सहृदय का अन्तःकरण अपनी संकीर्णताओं से मुक्त होकर सभी दिशाओं में प्रसारित होता है और विश्व-सौन्दर्य से अपना अभेद स्थापित कर लेता है।' कवि पन्त भी इसी अवस्था को—रसदशा को—'सहज मुक्ति का मधुर क्षण' मानता है। मुक्ति का मधुर क्षण जीवन के लिए निसर्ग-सिद्ध है, परन्तु वेदान्त के अनुसार जो मुक्ति का सिद्धांत है—परमात्मा में एकाकार होकर जगत के बन्धन से मुक्त हो जाना—कवि के लिए निसर्ग-सिद्ध नहीं है—वह कठोर साधन का विषय है। उस मुक्ति को कवि कठिन बन्धन ही मानता है। जगत के बीच रह कर—भेद-भाव को भूलकर जो मुक्ति की रसदशा मिलती है, उसमें क्षण-क्षण परिवर्तित सौन्दर्य की रमणीयता है, उससे कवि का मन नहीं ऊबता।

'है सहज मुक्ति का मधु-क्षण,
पर कठिन मुक्ति का बन्धन !'

(पृ० सं० २८)

मनुष्य और प्रकृति:—'पल्लव' प्रकृति-काव्य है, 'गुञ्जन' मानव-काव्य। 'गुञ्जन' में प्रकृति मानव-भावों की रंगभूमि है—उसमें चेतना का स्पन्दन है, प्राणों की धड़कन है! प्रकृति और मानव में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का निर्माण एक ही तत्त्व से हुआ—दोनों एक ही प्रकार के सुख-दुःख, आशा-निराशा से प्रभावित हैं। प्रकृति सुश्रृंखलित और सुव्यवस्थित है—उसमें एकस्वरता है, एक संगीत है, मानव में अव्यवस्था है, उसमें एक संगीत का अभाव है। प्रकृति दुःख के क्षणों में भी मुस्कान की ही कली बिखेरती है—पर मानव दुर्दिन में कातर हो जाता है, उसके अन्तस्तल में वेदना का ज्वार उठ जाता है। मानव और प्रकृति में यही अन्तर कवि दिखलाता है:—

'कुसुमों के जीवन का पल
हँसता ही जग में देखा,
इन म्लान, मलिन अधरों पर
स्थिर रही न स्मिति की रेखा।'

(पृ० सं० २१)

नारी-प्रेम और सौन्दर्य—नारी के प्रति कवि का दृष्टिकोण आधुनिक है। मानव-जीवन-रथ के पुरुष और नारी दो पहिए हैं—प्रसाद के ये विचार कवि को पूर्णतः मान्य हैं। कवि जीवन की प्रगति के लिये नारी और पुरुष दोनों में अनन्योन्याश्रयी सम्बन्ध मानता है। नारी पुरुष की पूरक है—

'निखिल जब नारी नर संसार
मिलेगा नव-सुख से नव बार,
अधर उर से उर अधर समान
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण।'

'गुञ्जन' का कवि नारी-मूर्ति में समस्त विश्व की कोमलता, कमनीयता, माधुर्य और सौन्दर्य का समुच्चय पाता है। कवि नारी का सौन्दर्य प्रकृति के सौन्दर्य से बढ़कर पाता है।

'तुम्हारी मंजुल मूर्ति निहार
लग गई मधु के वन में ज्वाल,
खड़े किंशुक, अनार, कचनार
लालसा की लौ से उठ लाल।'

'कपोलों की मदिरा पी प्राण !
आज पाटल गुलाब के जाल,
विनत शुक-नासा का कर ध्यान,
बन गये पुष्प पलाश अराल।'
(पृ० सं० ५६)

प्रकृति के रूपों की जब मूर्तिमत्ता होती है तो नारी मूर्ति का सृजन करती है।

'दिन की आभा दुलहिन बन
आई निशि—निभृत शयन पर,
वह छवि की छुई-मुई-सी
मृदु-मधुर लाज से मर-मर।'
(पृ० सं० ८६)

नारी प्रणय का शाश्वत नीड़ है। किन्तु नारी का प्रेम ऐन्द्रिक नहीं, वरन् उसका सम्बन्ध उसके अन्तर की आत्मा से है—वह आध्यात्मिक प्रेम है। नारी सदा 'आत्म-निर्मलता में' निरत रहती है—

'आत्म-निर्मलता में तल्लीन
चारु चित्रा-सी, आभासीन;'
(पृ० सं० ६४)

कवि ने जहाँ-जहाँ सौन्दर्य का चित्रण किया है, वहाँ नारी के रूप का नहीं, प्रभाव का प्रेषण किया है। नारी का सौन्दर्य अतीन्द्रीय और भावात्मक है। उस सौन्दर्य में उसका उन्मादकारी एवं भावमय व्यक्तित्व की झाँकी मिलती है—

'तारिका-सी तुम दिव्याकार,
चन्द्रिका की झंकार !
प्रेम-पंखों में उड़ अनिवार,
अप्सरी-सी लघुभार,
स्वर्ग से उतरी क्या सोद्गार,
प्रणय-हंसिनि सुकुमार ?
हृदय-सर में करने अभिसार,
रजत-रति, स्वर्ण-विहार !'
(पृ० सं० ६४)

शमशेरबहादुर सिंह

ग्राम्या : एक परिचय

पन्त की 'ग्राम्या' में सामूहिक चेतना और जनवाद की शक्तियों का पूर्ण विकास हुआ है। कवि व्यष्टि का मोह छोड़ समष्टि की धुरी पर आ टिका है, अतएव 'धोबियों के नृत्य,' 'ग्राम-वधू', 'ग्राम-श्री,' 'चमारों का नाच,' 'मजदूरनी के प्रति,' 'कहारों के रुद्र नृत्य' आदि कुछ प्रमुख कविताओं में ग्राम्य-जीवन का मंगलमय रूप प्रत्यक्ष हो उठा है, जिस पर प्रस्तुत लेख में महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है।

उस दिन खासी बहस के बाद यह सवाल उठा था कि क्या हम इन कवि-ताओं को फिर-फिर पढ़ने को लालायित होते हैं? शायद नहीं। और इस सहमति के बाद बहस खत्म हो गयी थी।

एक बड़ी ग़लती हमने की थी।

एक और मित्र के साथ कुछ दिन बाद 'ग्राम्या' की कुछ कविताएं पढ़ रहा था। और उस समय यह बात मुझे महसूस हुई कि नये पंत को हमें सिर्फ अकेले और एकान्त भाव से पढ़ना होगा।

सच तो यह है कि मन-ही-मन धीरे-धीरे जितना ही इस संग्रह को पढ़िए यह कीमती होता जाता है। और उस दशा में नामुमकिन है कि इसमें कम से कम तीन सुन्दर श्रेष्ठ रचनाएँ किसी पाठक को बिलकुल अपने मन की और पसन्द की न मिलें। अलबत्ता यह हो सकता है कि जहाँ वह सिर्फ़ मस्त और बेख़बर होना चाहता हो वहाँ वह अपने आपको ठगा-सा, खोया-सा पाए, और बुरी तरह। या जहाँ वह आग और शोला ढूँढ़ता है, वहाँ उसे अधिक गर्मी नहीं, सिर्फ रोशनी मिले, जिसमें वह कुछ इस तरह अपने आपको पहचानने लगे मानो वह किसी नयी दुनिया में आँखें खोल रहा हो। क्योंकि इस संग्रह में जो नयी बातें हैं—जो कई हैं—वे आज के ही हमारे जीवन की अक्सर देखी-सुनी बातें हैं। मगर वे कुछ इसलिये अजीब, बल्कि अनसुनी-सी लगेंगी, क्योंकि उनमें कवि ने अपने तरीके पर आने वाले दिनों की एक तस्वीर पेश करने की भी कोशिश की है। इस तरीके या ढंग पर कुछ आगे कहूँगा।

× × ×

'इनमें पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है।' ('ग्राम्या' के 'निवेदन' से)

मतलब यह कि 'ग्राम्या' में सामूहिक चेतना भावना के लिए अपील नहीं, अर्थात् हमारे अन्दर से उठकर जो प्रेरणाएँ कल देश और समाज की ताक़त बनने वाली हैं, 'ग्राम्या' का सम्बन्ध मुख्यतः उन्हीं से है। फिलहाल, हमारी नागरिक साहित्यिक भावनाओं के लिए वह है, वह अपील उन्हें अस्थिर-चेतन करने के लिए है, तृप्त करने के लिए नहीं है। उन्हें परिष्कृत, संयत और मज़बूत

करने के लिए है। यह आधुनिक कविता-रस का एक मुख्य हेतु है। 'ग्राम्या' का नया दृष्टिकोण यह है कि इस कविता में आवेश और उद्वेग न होगा। इसे ऊँचे स्वर-तालों में छिपा हुआ एक आंतरिक ठहराव होगा। यह ज़रूरी है। उसकी रस-व्यंजना, कवि का सारा 'मूड' आइना होगा, उसके विशेष दार्शनिक भावों का—उसके दर्शन के अनुरूप तर्क-संगत। यानी, उसकी कविता का 'आधार-पूर्ण' होना बहुत ज़रूरी है।

इस आधार-पूर्णता—वह चीज़ जिस पर ये कविताएँ अन्त में जाकर टिकती हैं—की इस समय विवेचना करने की मुझमें क्षमता नहीं। सिर्फ इतना कहने का साहस करता हूँ, कि उस चीज़ का स्पष्ट अनुभव इन कविताओं में होता है; और वह 'आधार-तल' हमें 'युग-वाणी' की ज़मीन से आगे और कुछ ऊँचा मिलेगा। ऊँचा इसलिए कि वह वर्ग-संघर्ष के बाद स्थापित साम्यवाद को मानवता के अधिक उदार, शाश्वत ऐक्य में परिणत देखता है। उस आदर्श भविष्य में—

'मानव कर से निखिल प्रकृति जग
संस्कृत, सार्थक, सुन्दर'

ही नहीं है, बल्कि सब तर्कवाद डूब गये हैं, और विश्व-संघर्ष शान्त है। अतः शान्त है अपने भौतिक रूप में मार्क्स का ऐतिहासिक चिरद्वन्द्व भी—कवि इसके नियम से इन्कार नहीं करता; लेकिन उनकी दिलचस्पी इस द्वन्द्व-जनित प्रगति के अन्तिम रूपों और चेतनाओं से है। 'पूर्ण जगत् के कारण' से कवि की विनय है—

'हो धरणि जनों की, जगत स्वर्ग-जीवन का घर
नव मानव को दो, प्रभु! भव मानवता का वर।'

'नव इन्द्रिय' में कवि की पुनः कामना है—

'नव मानवता का अनुमान कर सके मनुज
नव चेतनता से सक्रिय!
भव मानवता का साम्राज्य बने भू पर!
दश दिशि के जनगण को प्रिय।'

एक इसी कविता में कवि कहता है—

'एक शक्ति से कहते, जग प्रपंच यह विकसित,
एक ज्योति कर से समस्त जड़ चेतन निर्मित;
सच है यह आलोक पाश में बँधे चराचर
मान आदि कारण की ओर खींचते अंतर!

मानव ही क्यों इस असीम समता से वंचित !
ज्योति भीत, युग-युग से तमस विमूढ़ विभाजित !!'

इस प्रकार हम देखते हैं, कवि चाहता है कि जन-जीवन में उस सत्य का अनुभव हो जो हमें वास्तव में वेदान्त के निकट लाता है। लेकिन किस जन-जीवन का यहाँ जिक्र है ? उसका, जो पहले साम्यवाद से प्रतिष्ठित हो चुका है। अभी आज के जीवन में तो यह आदर्श सामंतवाद का पोषक हो जाएगा। अतः पहले ज़रूरी है, कि जनवाद की शक्तियों का पूर्ण विकास हो; जन-मानव पूर्णतया मुक्त और स्वतन्त्र हो।

'आज युग का गुण है—जन-रूप,
रूप-जन संस्कृति के आधार !
स्थूल, जन आदर्शों की सृष्टि
कर रही नव संस्कृति निर्माण,
स्थूल युग का शिव, सुन्दर, सत्य,
स्थूल ही सूक्ष्म आज, जन-प्राण !'

इसलिए अहिंसा भी आज जनों के हित-बन्धन बन रही है—

'वह मनुजोचित, कब ? जब जन हो विकसित।
भावात्मक आज नहीं वह; वह अभाव-वाचक,
उसका भावात्मक रूप प्रेम केवल सार्थक।
हिंसा विनाश यदि, नहीं अहिंसा मात्र सृजन,
वह लक्ष्य शून्य अब.........

भव तत्व प्रेम साधन है उभय विनाश-सृजन,
साधन बन सकते नहीं सृष्टि गति में बन्धन !'

प्रेम की उदार शक्ति से खाली होने के कारण ही गाँधी जी का अहिंसास्त्र आज देश में सफल नहीं हो रहा।

'स्थूल ही सूक्ष्म आज' का एक सुन्दर उदाहरण 'सूत्रधार' शीर्षक कविता है, जिसमें यन्त्र की विवेचना और व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

'.........मानवता का विकास
यन्त्रों के संग हुआ, सिखलाता नृ-इतिहास।
जीवन सौन्दर्य प्रतीक यन्त्र, जन के शिक्षक,
युग क्रान्ति प्रवर्तक औ, भावी के पथ दर्शक।

वे कृत्रिम निर्मित नहीं, जगत क्रम में विकसित,
मानव की यंत्र, विविध युग स्थितियों में वर्धित।'

यह सही। पर देश के लिये जो अन्तिम मंगलरूप है, वही असम्भव-सा भविष्य में प्रत्यक्ष होने वाला स्वप्न है—

'अहिंसास्त्र जन का मनुजोचित
चिर अप्रतिहत है,
बल के विमुख, सत्य के सम्मुख
हम श्रद्धानत है,
जन भारत हे
जाग्रत भारत हे'

(राष्ट्रगान)

'सफल आज उसका तप संयम,
पिला अहिंसा स्तन्य सुधोपम,
हरती जन मन भय, भव तम भ्रम,
जग जननी
जीवन विकासिनी'

(भारत माता)

जिस 'विकसित मानव' और 'मुक्त हुए जन' से भविष्य का समाज निर्मित होगा, आज उसके एकांकी उदाहरण केवल महात्मा जी हैं—

'पूर्ण पुरुष, विकसित मानव तुम, जीवन सिद्ध अहिंसक
मुक्त-हुए तुम मुक्त हुए जन, हे जग-वंद्य महात्मन्!'

कहना नहीं है कि, आज के ये जग-वन्द्य महात्मन् सामन्त युग के 'विकसित व्यक्ति' से विपरीत दिशा में दूसरे ध्रुव की दूरी पर हैं।

× × ×

इस तरह की नयी कविता के लिये निश्चय है कि पहले शब्द, रस और अभिव्यक्ति पर कवि को असामान्य अधिकार प्राप्त हो जिसका कि महत्त्व उसके बिलकुल छिपे रहने में होगा; और जो स्वयं कोई मामूली बात नहीं।

'वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार,
तुम रूप कर्म से मुक्त, शब्द के पंख मार
कर सको सुदूर मनो नभ में जन के विहार,
ज्योतित कर जन मन के जीवन का अंधकार,

तुम खोल सको मानव उसके निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ?'

सच तो यह है कि 'पल्लव' में शब्द-माधुर्य ने कवि को बहुत मोह लिया था। भावों के साथ उसका संतुलन 'गुंजन' में शुरू हो जाता है; जो 'युगांत' में गम्भीर होकर आगे 'युगवाणी' में कवि को अखरने-सा लगता है। यहाँ तक कि वह अक्सर लिरिक भावना को तिलांजलि तक दे देता है। वह पहली-सी कोमलता कहीं खो जाती है।

'ग्राम्या' में वह श्री एक तरह से फिर लौट आती है, यानी प्रौढ़ और गम्भीर होकर। असल में, 'युगवाणी' के 'काले अन्धकार तन मन का !' के साथ सात-आठ गीतों को 'ग्राम्या' के ही अन्तर्गत समझना चाहिए; क्योंकि 'ग्राम्या' की तरह उनकी शब्द-व्यंजना भी माधुर्य से पुष्ट है। वह माधुर्य भावों में घुला हुआ, छिपा हुआ है। यहाँ तक कि तुक भी इतने स्वाभाविक और पद-विन्यास में इतने खपे हुए आते हैं कि पंक्तियाँ कहीं-कहीं पढ़ने में अतुकांत-सी जान पड़ती हैं। जो एक अनोखा और शायद हिन्दी के लिये नया सौंदर्य है।

एकदम भावों की सच्चाई को ही कवि ने मुख्य रक्खा है। इस सादगी में विस्तार के लिए जितना कम, प्रसाद गुण और प्रभाव के लिए उतना ही अधिक स्थान हो गया है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए कुछ उदाहरण देने आवश्यक होंगे।

खिड़की से

'पूस, निशा का प्रथम प्रहर, खिड़की से बाहर
दूर क्षितिज तक स्तब्ध आम्रवन सोया, क्षण भर
दिन का भ्रम होता, पूनो ने तृण तरुओं पर
चाँदी मढ़ दी है, भू को स्वप्नों से जड़कर
स्पष्ट दीखते—, खिड़की की जाली में विजड़ित,
कटहल, लीची, आम,—पूक गेंदुर से कम्पित,
फाटक औ हाते के खंभे, बगिया के पथ,
आधी जगत कुएँ की कुटिया की छाजन श्लथ,
अस्पताल का भाग, मेहराबें दरवाजे,
स्फटिक सदृश जो चमक रहे चूने से ताजे,
औ'—टेढ़ी मेढ़ी दिगन्त रेखा के ऊपर,
पास-पास दो पेड़ ताड़ के खड़े मनोहर !

ग्राम-श्री

'बालू के साँपों से अंकित
गंगा की सतरंगी रेती

सुन्दर लगती सरपत छाई
तट पर तरबूजों की खेती।

अँगुली की कंघी से बगुले।
कलँगी संवारते हैं कोई,

तिरते जल में सुरखाब, पुलिन पर
मगरौठी रहती सोई।'

वे आँखें

'अंधकार थी गुहा सरीखी
उन आँखों से डरता है मन,

भरा दूर तक उनमें दारुण
दैन्य दुःख का नीरव रोदन!

यह अथाह नैराश्य, विवशता का
उनमें भीषण सूनापन,

मानव के पाशव पीड़न का
देतीं वे निर्मम विज्ञापन

आँखों में ही घूमा करता
वह उसकी आँखों का तारा,

कारकुनों की लाठी से जो
गया जवानी ही में मारा!

बिका दिया घर द्वार,
महाजन ने न ब्याज की कौड़ी छोड़ी,

रह-रह आंखों में चुभती वह
कुर्क हुई बरधों की जोड़ी।'

भारत माता

'भारत माता
ग्रामवासिनी।

खेतों में फैला है श्यामल
धूल-भरा मैला-सा आँचल,
गंगा यमुना में आँसू जल,
  मिट्टी की प्रतिमा
  उदासिनी।

चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमिरांकित
नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,
आनन श्री छाया-शशि उपमित
  ज्ञान मूढ़
  गीता प्रकाशिनी।'

पतझर

  'झरो, झरो, झरो !
जंगम जग प्रांगण में,
जीवन संघर्षण में,
नवयुग परिवर्तन में
मन के पीले पत्तो
  झरो, झरो, झरो !
तुम पतझर, तुम मधु—जय !
पीले दल, नव किसलय,
तुम्हीं सृजन, वर्धन, लय,
आवागमनी पत्तो !
  सरो, सरो, सरो !
जाने से लगता भय ?
जग में रहना सुखमय ?
फिर आओगे निश्चय !
निज चिरत्व से पत्तो
  डरो, डरो, डरो !

जन्म मरण से होकर,
जन्म मरण को खोकर,
स्वप्नों में जग सोकर,

मधु पतझर के पत्तो !
तरो, तरो, तरो !'

कवि ने अपनी रचनाओं में हिंसा और अमंगल को स्थान नहीं देना चाहा है, क्योंकि हमें सबल उद्‌गार चाहिए, करुणा, रोदन और चीत्कार नहीं। इनका तो अर्थ होगा, कवि के शब्दों में अगर कहूँ 'केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना।'

हमें भावों का क्रियात्मक रूप पकड़ना है। मानव ट्रैजेडी के गहन गह्वरों में सिर्फ इसलिये झाँकना है कि उनमें 'जीवन के संस्कार', 'भावी संस्कृत उपादान' और 'मनुष्यत्व के मूलतत्व' मिल सकें; कि जिनसे 'नव मानवता' का निर्माण हो सके।

इसके अतिरिक्त, उस दारुण अन्धकार में खो जाने से बचना ही मंगलकर है। यह बचाव 'केवल बौद्धिक सहानुभूति में ही आसान है।' लेकिन एक सच्चे कवि के लिये आसान नहीं। क्योंकि, उसे तो अपने भावों का खरापन और अपनी कल्पना की धार कायम रखते हुए, उन्हें एक दृढ़, प्रबुद्ध, संयत गतिविधि के आधीन करना होगा। यह उसकी वृत्ति होगी जो कि मूलत: दार्शनिक है। एक साथ कलाकार और आलोचक का जो रूप उसमें प्रत्यक्ष होगा, वह सहसा उसे जनता का कवि नहीं बना सकता, महान चाहे वह उसे बना दे। जनता का कवि जनता के बीच से उठता है, जनता के अहं और उपचेतन की गहराइयों से एक नये, अमर प्राण की तरह। परन्तु बताना आवश्यक है कि इसकी बहस यहाँ एक ग़लत बात होगी।

तब इस कवि का रूप कैसा है ? थोड़े से कुछ उदाहरण हमने देखे। 'ग्राम्या' पढ़ जाने के बाद हम क्या पाते हैं ? 'मूलतत्वों' के खोजने वाले इस निःसंग कवि की दृष्टि ग्रामीणों की आँखों में दूर तक डूबी है; घोर दारिद्र्य की नंगी वृद्ध छाया वह छू सका है ; ग्रामीण लड़कों की 'पशुओं-सी भीत मूक चितवन' भी उसने आँकी और अंकित की है : अगणित ग्रामों के 'चेतना विहीन' 'विश्वास मूढ़' निवासी, कठपुतले 'चिर रूढ़ रीतियों के गोपन सूत्रों में बँध' नर्तन करते उसने देखे हैं; संध्या के बाद— 'गावों के कुलियों और दुकान-दारों के जीवन में रोज़ जो हृदयहीन एक ट्रैजेडी गहरी हो जाती है, उसकी मौन मर्मांतक कथा उसने प्रस्तुत की है। पर इन सबको घेरे हुए जो संध्या की-सी एक ठहरी शांति, प्रकृति का मुक्त, स्वस्थ अनुराग, गंगा का निश्चल स्वर्गिक मर्मर है; जो खेत, वन, कूप, तड़ाग, पथ, पर्व, यात्रा, नहान, नाच-रंग, रास, आदि का खुला हुआ (चाहे क्षणिक सुखी-सा और क्षीण, रूढ़ि-रीति ग्रस्त) जीवन है,—वह जहां एक ओर पूर्वोक्त दृश्यों की भीषणता को अपनी पृष्ठ-भूमि

पर रेखांकित करता है, वहाँ उनमें छिपे आरक्त प्राण-बीजों को खोलकर दिखाता भी है। एक विचित्र सुहास, व्यंग, कटूक्ति और साथ ही एक दबी हुई करुणा और व्यथा उसमें मिली हुई हैं। कवि देश-व्यापी दुर्व्यवस्था के छिपे कारणों को उलट रहा है। पर उसकी उँगलियों में ज़रा कंपन नहीं, बल्कि एक सिद्ध कुशलता-सी लिए हुए उनमें एक स्वस्थ गुदगुदी जो कहीं सरल है कहीं सहज ही क्रूर, और कहीं स्वभावतः कौतुक पूर्ण; पर एक स्वस्थ, निश्छल उत्साह उनमें प्रतिक्षण छिपा हुआ है।

'ग्राम्या' में प्रकृति एक 'पल-पल परिवर्तित' सौन्दर्य-चित्र न रहकर मानव-जीवन की पृष्ठभूमि से कुछ अधिक उभर, उसके दैनिक जीवन का एक अंग, बल्कि उसके जीवन क्रम में एक मूक शक्ति रूप, भावनाओं में एक रस-बोध-सी, उसकी अनजान वैभव, उसकी श्री बनकर आती है। यह क्रम 'युगवाणी' में अच्छी प्रकार आरम्भ हो गया था। गाँव की प्रकृति एक सार्थक शक्ति है। वह फलदा है और मानो कर्म से मुक्त है। मोह-मुक्त वह एक दम नहीं: पर चिंतन-रहित है। वह गाँव का परिचित-अपरिचित स्वर्ग है। ग्रामनिवासियों के आंतरिक दुःखों की एक क्षीण छाया कभी कभी उस पर पड़ जाती है, पर वह शीघ्र ही कहीं खो जाती है।

× × ×

मैं यहाँ दो ख़ास बातों की तरफ़ पाठकों का ध्यान आकृष्ट करूँगा। यानी 'ग्राम्या' में नारी-चित्रण और व्यंग्य।

पहले व्यंग्य या 'सेटायर' को लीजिए।

मनुष्य में स्वास्थ्य-संरक्षण का एक प्राकृतिक नियम है। अनुभूति परिस्थितियों पर विजय पाकर जब हम औरों को भी वैसी ही परिस्थितियों से मुक्त देखना चाहते हैं, पर सामाजिक कारणों से वैसा कर सकना अपनी शक्ति और स्वास्थ्य के लिए असम्भव या हानिकर प्रतीत होता है, तो एक अनजान प्रेरणा हमारी सहानुभूति को ही व्यंग और उपहास का रूप दे देती है, ताकि एक ओर तो अनजाने और परोक्ष में उन लोगों का उद्धार हो जो हमारे व्यंग का शिकार बनते हैं, और दूसरी ओर हमारे बचाव की तटस्थ स्थिति पूर्ववत् बनी रहे। यही स्वाभाविक प्रेरणा, व्यंग और उपहास का नैतिक आधार है।

उपहासकर्ता में तटस्थता न होगी, तो उसका व्यंग कटूक्ति हो जायगा। उसमें यदि उपहास्य की परिस्थिति की-सी पूर्व अनुभूति न होगी, तो वह व्यंग विरस और रूखा होगा। इसके विपरीत, तटस्थता जितनी ही गहरी पूर्व-अनुभूतियों से पुष्ट होगी; तथा उस तटस्थ तल से अनुभूतियाँ जितनी ही साफ़

अन्वेषित होंगी—व्यंग उतना ही स्पष्ट-सार्थक, साथ-साथ उतना ही मार्मिक होगा।

पंत जी के व्यंग की तरलता और गहराई और उसका आस्वादन भी—अभी बहुत कुछ भविष्य की चीज़ है। फिर भी 'ग्राम्या' ने उस भविष्य की ओर एक बहुमुखी संकेत किया है और बहुत स्पष्टतया किया है।

सीधा खुला हुआ नारकीय व्यंग—जिसमें वर्ग-जनित विषमताओं और उपेक्षाओं पर भी छींटे हैं, हमें 'चमार-चौदस के ढंग' में मिलता है—

'अ र र र.........
मचा खूब हुल्लड़ हुड़दंग,
घमक घमाघम रहा मृदंग,
उछल कूद, बकवाद, झड़प में
खेल रहा खुल हृदय उमंग,
यह चमार चौदस का ढंग।

मजलिस का मसखरा करिंगा
बना हुआ है रंग विरंगा,
भरे चिरकुटों से वह सारी
देह हँसाता खूब लफंगा
स्वांग युद्ध का रच बेढंगा।

जमींदार पर फबती कसता,
बाम्हन ठाकुर पर है हँसता,
बातों में वक्रोक्ति, काकु, औ,
श्लेष बोल जाता वह सस्ता,
कल काँटा को कहं कलकत्ता।'

गाँवों में गहनों से ही शरीर लादने की गँवारू प्रथा पर, केवल मात्र गहनों के नाम और वर्णन द्वारा जो एकदम खुली चोट है, वह 'नहान' शीर्षक कविता के अलंकार वर्णन के गांभीर्य में हम देखते हैं:—

'सिर पर है चँदवा शीशफूल,
कानों में झुमके रहे झूल,
बिरिया, गलचुमनी, कर्णफूल।
गल में कटवा, कण्ठा, हँसली,
उर में हमेल, कल चंपकली,
जगनी, चौकी, मूँगे नकली।

बाँहों में बहु बहुँटे जोशन,
बाजूबंद, पट्टी, बाँक, सुभग,
गहने ही गवाँरिनों के धन !'

ग्राम-वधू की विदाई का दृश्य देखिये:—

'भीड़ लग गयी लो, स्टेशन पर,
सुन यात्री ऊँचा रोदन स्वर,
झाँक रहे खिड़की से बाहर,
जाती ग्राम-वधू पति के घर।

चिन्तातुर सब, कौन गया मर,
पहियों से दब, कट पटरी पर,
पुलिस कर रही कहीं पकड़-धर ?
जाती ग्राम-वधू पति के घर।

लो, अब गाड़ी चल दी भर-भर,
बतलाती ध्वनि पति से हँसकर,
सुस्थिर डिब्बे के नारी-नर,
जाती ग्राम-वधू पति के घर।'

'नहान' में कवि की सहिष्णुता अंत में फिर भी प्रकट हो ही गयी है। कवि की आलोचना भी स्पष्ट है। इन सभी कविताओं के पीछे कवि की गम्भीर आलोचनात्मक दृष्टि एकाध बार हमें दिख जाती है। 'ग्राम-देवता' लम्बी रचना है। इसका व्यंग इसके दृष्टिकोण में है। फिर भी विषय की गम्भीर वास्तविकता रह-रहकर उसे ढक देती है। जैसे:—

'राम राम
हे ग्राम्य-देवता, यथा नाम।
शिक्षक हो तुम, मैं शिष्य, तुम्हें सविनय प्रणाम !
विजया, महुआ, ताड़ी, गाँजा पी सुबह-शाम।
तुम समाधिस्थ नित रहो, तुम्हें जग से न काम !
पण्डित, पण्डे, ओझा, मुखिया, औ साधु-सन्त।
दिखलाते रहते तुम्हें स्वर्ग अपवर्ग पन्थ।
जो था, जो है, जो होगा—सब लिख गये ग्रन्थ,
विज्ञान ज्ञान से बड़े तुम्हारे मन्त्र-तन्त्र।'

देश के वर्तमान में छिपे-दबे सांस्कृतिक बीजों के प्रति कवि श्रद्धानत है। व्यंग में निहित आलोचनात्मक गाम्भीर्य समीक्षा के संतुलन द्वारा पंत जी ने शहरों के नारी-जीवन में दिखावटी और सारहीन रंगीनी और विलासप्रियता पर कटाक्ष किया है। वह अत्यंत सरस, सांकेतिक 'स्वीट पी के प्रति' में हमें देखने को मिलता है। इसमें व्यंग ही केवल हो, यह बात नहीं। उसके पीछे जो पीड़ा है, वह मर्मांतक है।

'कुल वधुओं-सी अयि सलज्ज सुकुमार।
शयन कक्ष, दर्शन ग्रह की श्रृङ्गार!
उपवन के यत्नों से पोषित,
पुष्प-यान में शोभित रक्षित,
कुम्हला जाती हो तुम निज शोभा ही के भार!
उन्नत वर्ग वृत्त पर निर्भर,
तुम संस्कृत हो, सहज सुघर,
ओ निश्चय वानस्पत्य चयन में
दोनों निर्विशेष हो सुन्दर!
निबल शिराओं में, मृदुतन में।
बहती युग-युग से जीवन से सूक्ष्म रुधिर की धार।
कुल वधुओं-सी अयि सलज्ज सुकुमार!'

ग्राम्या

'क्या न बिछाओगी जन-पथ पर
स्नेह सुरभिमय
पलक पँखड़ियों के दल!
स्निग्ध दृष्टि से जन-मन हर
आँचल से ढँक दोगी न शूलचय?
जर्जर मानव पदतल?'

खोखले प्रदर्शन मात्र को कवि ने विलायती फूलों के नामों की तालिका दे कर जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह देखने की चीज़ है:—

'नव वसन्त की रूपराशि का ऋतु उत्सव यह उपवन,
सोच रहा हूँ जन जग से क्या सचमुच लगता शोभन।
या यह केवल प्रतिक्रिया, जो वर्गों के संस्कृत जन,
मन में जाग्रत करते, कुसुमित अङ्ग, कंटकावृत मन!

रंग-रंग के खिले फ्लाक्स, वरवीना, छपे डिमांथस,
नत दृग ऐंटिह्नम, तितली-सी पेंजी, पापीसालस;
हँसमुख कैंडीटफ्ट, रेशमी चटकीले नैस्टरशम,
खिली स्वीट-पी—एवाँडम, फिल वास्केट औ' ब्लूबैटम।'

'ग्राम्या' में नारी 'युगवाणी' से भी कुछ अधिक स्पष्ट और व्यापक रूप में आती है—काफ़ी आलोचित-परिवेष्ठित रूप में। कवि ने शहराती नारियों के कृत्रिम जीवन के चित्रण में वास्तविकता के 'टचेज़' अधिक दिये हैं। कवि की ग्राम-नारी फिर भी आदर्श टाइप के निकट की चीज़ दिखती है। उसका अपना व्यक्तित्व यों होता भी कितना है! 'ग्राम श्री' की 'तुलसा' का ही एक उभरा हुआ व्यक्तित्व हमें मिलता है, चित्र एक बार पढ़ने पर भूलता नहीं। और यह सजीव चित्र कुल दो पंक्तियों में है—

'हाँका करती दिन भर बन्दर,
अब मालिन की लड़की तुलसा।'

अस्तु, मुख्य प्रयोजन कवि का यह रहा है कि ग्राम-नारी के मुक्त, स्वस्थ, कृत्रिमता-रहित, कार्य-विरत, अपेक्षित जीवन के सामने झूठी, निष्प्राण, विलास-प्रिय नागरिकाओं को रखे, जिनका जीवन कि 'जग से चिर अज्ञात' अपने ही सौन्दर्य-वर्द्धन में लीन है। उचित ही बहुत कठोर होकर कवि ने हमारे असंख्य ग्राम-युवतियों की तुलना में इनका चित्र दयनीय और तुच्छ दिखाया है। यह है आधुनिका का रूप :—

'लहरी-सी तुम चपल लालसा श्वास वायु से नर्तित,
तितली-सी तुम फूल-फूल पर मँडराती मधुक्षण हित!
मार्जारी तुम, नहीं प्रेम को करती आत्म-समर्पण,
तुम्हें सुहाता रंग-प्रणय, धन पद मद, आत्म-प्रदर्शन!
तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ़ तुम नारी!'

यह मज़दूरनी का चित्र है :—

'सर से आँचल खिसका है—धूल भरा जूड़ा,—
अधखुला वक्ष,—ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा;
हँसती बतलाती सहोदरा-सी जन-जन से,
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप-सा तन से।

निज द्वन्द्व प्रतिष्ठा भूल, जनों के बैठ साथ,
जो बँटा रहीं तुम काम-काज में मधुर हाथ,
तुमने निज तन की तुच्छ कंचुकी को उतार,
जग के हित खोल दिये नारी के हृदय द्वार !'

नारी के प्रति शुरू से ही कवि की जो सुन्दर भावना रही है, उसने वास्तविकता का आधार ले लिया है। उसका व्यापक रूप इस प्रकार और भी ऊँचा उठ गया है। कवि जिस महान स्वतन्त्रता के मुक्त वातावरण में नर-नारी के नये, सार्थक जीवन की कल्पना करता है, वहाँ तुच्छ, संकुचित वासनाओं और भावनाओं के लिये स्थान नहीं। उनकी जगह प्रेम की पवित्र प्रेरणाएँ ले लेती हैं कि जिनके स्पर्श से काम और प्रणय भी जीवन के अन्य नैसर्गिक कर्मों के समान ही मनुष्य के संस्कारों को पहले से अधिक सुन्दर और पावन करते हैं।

'धिक रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन
अङ्कित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन,
तुम प्रेम प्रकट करते थे नारी से कायर !
क्या क्षुधा तृषा औ' स्वप्न जागरण-सा सुन्दर
है नहीं काम भी नैसर्गिक, जीवन द्योतक ?
बन जाता अमृत न देह-गरल छू प्रेम-अधर ?
उज्ज्वल करता न प्रणय सुवर्ण, तन का पावक ?'

नारी की वास्तविक महिमा दिखा कर कवि ने जीवन की विषमताओं का कुछ उपचार प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'स्वीट पी के प्रति', 'स्त्री' 'मजदूरनी के प्रति', 'नारी', 'द्वन्द्व प्रणय' और 'उद्बोधन'—विभिन्न रूप में ये सभी इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। उद्बोधन की पंक्तियाँ हैं—

'खोलो वासना के वसन
नारी-नर !
वाणी के बहु रूप, बहु वेष, बहु विभूषण
खोलो सब, खोलो सब
एक वाणी,—एक प्राण, एक स्वर !
वाणी केवल भावों—विचारों की वाहन,
खोलो भेद भावना के मनोवसन
नारी नर !

समरांगण बना आज मानव उपचेतन मन,
नाच रहे युग-युग के प्रेत जहाँ छाया तन;
धर्म वहाँ, कर्म वहाँ, नीति, रीति, रूढ़ि चलन,
तर्कवाद, सत्य न्याय, शास्त्र वहां, षड् दर्शन;
खण्ड खण्ड में विभक्त विश्व चेतना प्रांगण
कीर्तियाँ खड़ी हैं वहाँ देश काल की दुर्धर!
ध्वंस करो, भ्रंश करो, खँडहर हैं ये खँडहर,
खोलो विगत सभ्यता के क्षुद्र वसन
नारी नर!

नव चेतन मनुज आज करें धरणि पर विचरण,
मुक्त गगन में समूह शोभन ज्यों तारागण।
प्राणों-प्राणों में रहे ध्वनित प्रेम का स्पन्दन,
जन से जन में रे बहे, मन से मन में जीवन;
मानव हो मानव—हो मानव में मानवपन
अन्न-वस्त्र से प्रसन्न, शिक्षित हों सर्व जन;
सुन्दर हो वेश, सबके निवास हों सुन्दर,
खोलो परंपरा के कुरूप वसन,
नारी नर!"

शांतिप्रिय द्विवेदी

पंत का 'युगान्त'

'पंत की प्रगतिशील रचनाओं में 'युगान्त' का वही प्रारम्भिक स्थान है, जो छायावाद काल में उनकी 'वीणा' का। 'वीणा' में अस्पष्ट सौन्दर्य-बोध था, 'युगान्त' में अस्पष्ट युग-बोध। एक में छायावाद का शैशव था, दूसरे में प्रगतिवाद का बाल्यकाल।' 'युगान्त' में कवि जड़ीभूत परिस्थितियों से मुँह मोड़ जीवन की सक्रिय वास्तविकता में प्रवेश करता है। वह मानवता के विकास द्वारा जीवन की पूर्णता में पैठने का प्रयास करता है, जो प्रस्तुत लेख में श्री द्विवेदी जी की गम्भीर लेखनी से साकार हो उठा है।

'युगान्त' के चित्र-रेखाकार ने लिखा है—"अंग्रेजी कवियों के सौन्दर्य-बोध तथा पर्वत प्रदेशों के प्राकृतिक सौन्दर्य से अपने कल्पना-जगत का निर्माण कर लेने पर अपने देश की वाह्य विपन्न दशा से अपने अन्तर्जगत का कहीं साम्य न पाने के कारण पन्तजी का व्यथित चित्त १६२१ से दर्शन शास्त्र की ओर झुका।"—कवि की इस दार्शनिक प्रेरणा का परिणाम था 'परिवर्त्तन', 'पल्लव' का महत् काव्य।

'परिवर्त्तन' के दार्शनिक अनुशीलन के बाद 'गुञ्जन', 'ज्योत्स्ना' और 'पाँच कहानी' में कवि सार्वजनिक अशान्ति का कोई लोक-सिद्ध समाधान नहीं दे सका था। वह व्यक्ति की वृत्तियों और समाज की प्रवृत्तियों में सन्तुलन स्थापित कर रहा था। कवि अपेक्षाकृत दार्शनिक से मनोवैज्ञानिक हो गया था, किन्तु वह स्वप्न-द्रष्टा ही बना रहा, ऐतिहासिक समीक्षक नहीं बन सका था। समस्या का यथार्थ रूप ओझल था। अतएव, 'परिवर्त्तन' के बाद सामाजिक धरातल पर आकर भी कवि को शान्ति नहीं मिली, यह 'युगान्त' से ज्ञात होता है। कवि कहता है—

'मैं सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित, भीतर,
सौन्दर्य, स्नेह, उल्लास मुझे
मिल सका नहीं जग में बाहर।'

'युगान्त' में कवि का दृष्टिकोण प्रायः दार्शनिक है। वह अनुभव करता है—

'लगती विश्री औ' विकृत आज मानव-कृति,
एकत्व-शून्य है विश्व-मानवी संस्कृति!'

कवि प्रकृति की शोभा से मनुष्य को जीवन की सुषमा और आध्यात्मिक (आन्तरिक) एकता से संस्कृति की गरिमा देना चाहता है।

'युगान्त' का कवि यथार्थ से अनभिज्ञ नहीं है, किन्तु यथार्थ से निष्कृति पाने का उसके पास उस समय कोई स्पष्ट मार्ग नहीं था। कवि कहता है—"युगान्त के मरु में मेरे मानसिक निष्कर्षों के धुंधले पद-चिह्न पड़े हुए हैं।'

पन्तजी की प्रगतिशील रचनाओं में 'युगान्त' का वही प्रारम्भिक स्थान है

जो छायावाद-काल में उनकी 'वीणा' का। 'वीणा' में अस्पष्ट सौन्दर्य-बोध था, 'युगान्त' में अस्पष्ट युग-बोध। एक में छायावाद का शैशव था, दूसरे में प्रगति-वाद का बाल्यकाल। 'वीणा' का विकास 'पल्लव' और 'गुञ्जन' में हुआ, 'युगान्त' का विकास 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में।

ऐसा जान पड़ता है कि 'युगान्त' के रचना-काल में कवि का जीवन श्रान्त और श्लथ हो गया था। ऐसी ही स्थिति में उसका ध्यान श्रमजीवी मानव की ओर गया—

'ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग
भारी है जीवन ! भारी पग !!'

कवि को श्रमजीवियों के पगों में अपने भाराक्रान्त जीवन का साम्य मिला। वस्तुतः कविता लिखने के लिए उस समय कवि की मनः स्थिति अनुकूल नहीं थी। किन्तु अपनी साँसों को वह भीतर रोक नहीं सकता था और बाहर के विषाक्त वातावरण से प्राणवायु ग्रहण नहीं कर सकता था, ऐसी ही छटपटाहट में उसके उद्गार दुर्निवार वेग से उच्छ्वसित हो उठे। कवि की इस असह्य विकलता का परिचय 'युगवाणी' के 'आम्र विहग' में मिलता है—

'उन्मुक्त नील...
तुम पङ्ख ढील,
उड़ उड़ सलील
हो जाते लय
निःसीम शान्ति में चिर सुखमय,
जब नीड़ निलय में रुद्ध हृदय
हो उठता पीड़ातुर अतिशय !'

छायावाद युग का कवि प्रत्यक्ष जगत से पलायन करके निःसीम लोक (असीम जगत) में शान्ति उपलब्ध करता था। किन्तु ऐसे अशान्त युग में जब कि—

'चतुर्दिक घहर-घहर आक्रांति
ग्रस्त करती सुख-शान्ति'

—('परिवर्त्तन')

पलायन के लिए अवकाश नहीं है। सबके साथ कवि भी इसी उत्क्रान्त वायुमण्डल में साँस लेने के लिए विवश है।

जीवन के अभाव में भी 'युगांत' का कवि आशान्वित था। वह अनुभव करता था कि वातावरण बदलेगा, मनुष्य को नवजीवन मिलेगा। कवि कहता है—
"युगान्त में निश्चय रूप से इस परिणाम पर पहुँच गया था कि मानव-सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है। जिन प्रेरणाओं से प्रभावित होकर यह कहा था उसका आभास 'ज्योत्स्ना' में पहिले ही दे चुका था।"

कवि जिस युग का अन्त देख रहा था वह सामन्त-युग और पूंजीवादी युग है इन्हीं का अन्त 'युगान्त' है।

मध्ययुग और पूंजीवादी युग की विकृतियाँ मानव के विकास-मार्ग में बाधक हैं। इन युगों ने मनुष्य को आत्म-विस्मृत बनाये रखने के लिए सभ्यता और संस्कृति का भ्रमजाल फैला रखा है। 'युगान्त' में कवि कहता है—

'शत मिथ्या वाद-विवाद, तर्क,
शत रूढ़ि-नीति शत धर्म-द्वार;
शिक्षा, संस्कृति, संस्था समाज,
वह पशु मानव का अहङ्कार।'

इसीलिए कवि चाहता है—

'झरें जाति-कुल-वर्ण-पर्ण घन,
अन्ध-नीड़ से रूढ़ि-रीति छन,
व्यक्ति राष्ट्रगत राग द्वेष रण,
झरें, मरें विस्मृति में तत्क्षण।'

'युगान्त' के आरम्भ में (पहिली कविता में) ही निष्प्राण प्राचीनता के प्रति कवि का तीव्र आक्रोश व्यक्त हो उठा है—

'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र!
हे स्रस्त-ध्वस्त! हे शुष्क-शीर्ण।
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीत-राग, जड़ पुराचीन।'

ये 'जीर्ण-पत्र' मध्य युगों के जीवन्मृत मन्तव्य हैं जो नये विचारों, नये भावों, नये सौन्दर्य, नये संगीत अथवा जीवन के नये वसन्त का स्थान घेरे हुए हैं। इनके झर जाने, पतझर हो जाने पर ही नई सृष्टि पल्लवित, पुष्पित एवं उज्जीवित हो सकती है। इसलिए नवयुग के प्रतिनिधि गायक (गीत-खग कोकिल) को कवि ने पुरातन के विध्वंस और नूतन के सृजन का सन्देश सुनाने के लिए प्रेरित किया है—

'गा कोकिल ! बरसा पावक कण
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बन्धन !'

यद्यपि 'पावक-कण' बरसा कर कवि ने आंतरिक और बाह्य (भौतिक) दोनों ही क्रान्ति करने के लिए कहा है, तथापि 'ज्योत्स्ना' की तरह 'युगान्त' में भी कवि मुख्यतः मनःक्रान्ति (आन्तरिक क्राँति) की ओर है, यह 'मैं सृष्टि एक रच रहा नवल भावी मानव के हित भीतर' से स्पष्ट है।

बाह्य क्रान्ति ध्वंसात्मक है, आन्तरिक क्रान्ति रचनात्मक। पन्त जी लिखते हैं— "बाहरी क्रांति की अभावात्मकता की पूर्ति मेरा मन नवीन मनुष्यत्व की भावात्मक देन द्वारा करना चाहता है। 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र, हे स्रस्त ध्वस्त हे शुष्क शीर्ण,' द्वारा जहाँ पिछली वास्तविकता को बदलने के लिए ओजपूर्ण आह्वान है, वहाँ 'कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर पल्लव लाली' में 'पल्लव' काल की स्वप्न-चेतना द्वारा उस रिक्त स्थान को भरने के लिए आग्रह भी है। ...'ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बन्धन' के साथ ही 'हो पल्लवित नवल मानवपन', 'रच मानव के हित नूतन मन' भी मैंने कहा है।" इस तरह प्रकृति के ध्वंसात्मक और रचनात्मक नियमों को कवि मानव-जीवन में भी चरितार्थ देखना चाहता है। छायावाद का प्राकृतिक दर्शन 'युगान्त' में सशक्त हो गया है। 'युगान्त' का कवि पुरातन-पन्थियों की तरह 'हिम-ताप-पीत, मधु-वात-भीत' नहीं है। प्रकृति की मधुरता से उसमें नव-सृजन का उन्मेष हो गया है।

'परिवर्तन' में कवि ने प्रकृति और मानव-जीवन का पतझर ही देखा था। क्षणभंगुरता ने उसे जीवन से निराश कर दिया था। वह काल-भीरु हो गया था। 'युगान्त' में उसने आत्मबल पा लिया है। अपनी अन्तःस्फूर्ति से कवि मनुष्य को उत्साहित कर रहा है—

'बढ़ो अभय, विश्वास चरण धर !
सोचो वृथा न भव-भय-कातर !'

× × ×

'सुख-दुःख की लहरों के शिर पर
पग धर पार करो भव-सागर !
बढ़ो, बढ़ो विश्वास-चरण धर !'

कवि मनुष्य में ईश्वरीय शक्ति देखता है—

'मानव दिव्य स्फुलिंग चिरन्तन
वह न देह का नश्वर रज-कण !'

'युगान्त' में इसी 'चिरन्तन स्फुलिंग' से ज्वलन्त मानव को कवि ने उसकी अन्तर्निहित शक्ति का बोध कराया है। प्रकृति के कवि ने प्रकृति के प्रतीकों से ही मानव व्यक्तित्व को प्राणान्वित किया है। कहीं 'मिट्टी के गहरे अन्धकार' को (मृण्मय आवरण को) 'बीज' की तरह भेद कर मनुष्य 'जड़ निद्रा' से जग रहा है, संकीर्णता के बन्धनों को तोड़कर अपना 'सत्व' अथवा अपनी मुक्ति पाने का प्रयत्न कर रहा है, कहीं 'खद्योत' की तरह 'अँधियाली घाटी में' अपनी 'हरित स्फुलिंग' (अन्तर्ज्योति) को विकीर्ण कर रहा है।

'युगान्त' में कवि ने मदान्ध भौतिकवाद के प्रतिकूल प्रकाशमान मानववाद को प्रतिष्ठित किया है और उसे अध्यात्म के परम-तत्व (अमृतत्त्व) का सम्बल दिया है।

संक्रमण-काल का अन्धकार स्थायी नहीं है। आज का अन्धकार कल के प्रकाश में लुप्त हो जायगा, उसी के साथ युग-युगों की पर्वताकार खड़ी बाधक शक्तियाँ (प्रभुता, अहमन्यता, सामाजिक जड़ता) भी डूब जायगी, कवि की यही भविष्य वाणी है—

'ये डूबेंगी—सब डूबेंगी
पा नव मानवता का विकाश,
हँस देगा स्वर्णिम वज्र-लौह
छू मानव आत्मा का प्रकाश!'

यद्यपि 'युगान्त' युगान्त है, तथापि लुप्तमान अतीत में जो कुछ प्रकाशमान है उसे भी 'बापू' शीर्षक कविता में स्थान मिल गया है—

'सदियों का दैन्य-तमिस्र तूम;
धुन तुमने कात प्रकाश-सूत,
हे नग्न! नग्न-पशुता ढँक दी
बुन नव-संस्कृत मनुजत्व पूत।'

'बापू के प्रति' उद्‌गीर्ण ये पंक्तियाँ 'युगान्त' के कवि के प्रति भी सार्थक हो जाती हैं—

'आत्मा को विषयाधार बना,
दिशि-पल के दृश्यों को सँवार,
गा-गा एकोऽहं बहु स्याम
हर लिये भेद, भव भीति-भार।'

'युगान्त' में जीवन और कला के विगत युग का पतझड़ और सद्यः प्रस्फुटित युग का नव-पल्लवन है—

'पतझड़ के कृश पीले तन पर
पल्लवित तरुण लावण्य-लोक;
शीतल हरीतिमा की ज्वाला
दिशि-दिशि फैली कोमलालोक !'

कवि ने 'दो शब्द' में लिखा है—"युगांत में 'पल्लव' की कोमल कान्तकला का अभाव है। इसमें मैंने जिस नवीन क्षेत्र को अपनाने की चेष्टा की है, मुझे विश्वास है, भविष्य में उसे अधिक परिपूर्ण रूप में ग्रहण एवं प्रदान कर सकूँगा।"

'युगान्त' में चाहे 'पल्लव' की विशद कलाकारिता न हो, किन्तु उसकी भावना वैसी ही कोमल कान्त है। इसमें 'हिमपरिमल की रेशमी वायु' बह रही है, 'शाश्वत शोभा का अदन' खिला हुआ है, 'कलि के पलकों में मिलन-स्वप्न' है, 'अलि के अन्तर में प्रणय-गान' है। प्रकृति में जहाँ कहीं सृष्टि की सरसता है वहाँ चिड़ियाँ चहक रही हैं—

'वे ढाल-ढाल कर उर अपने
हैं बरसा रहीं मधुर सपने !'

यही उल्लास और शोभा का सहृदय समाज कवि मानव के जीवन में देखना चाहता है।

'युगान्त' में भी कवि भावाविष्ट कलाकार है। वह युगान्त और युगान्तर का गान गीत-विहग की तरह ही सुनाना चाहता है—

'गा सके खगों-सा मेरा कवि
विश्री जग की सन्ध्या की छवि !
गा सके खगों-सा मेरा कवि
फिर हो प्रभात, फिर आवे रवि !'

'युगान्त' में कवि की आत्मा तो छायावाद-युग की है, किन्तु काव्य का कलेवर (कला-विन्यास) बदल गया है। एकाध कविताओं (जैसे सन्ध्या, छाया, मञ्जरित आम्रवन, छवि के नव-बन्धन) को छोड़कर अधिकांश कविताएँ छन्द, भाषा और शैली की दृष्टि से पद्य की सीमा में चली गई हैं। भाषा कहीं-कहीं गद्यात्मक हो गई है। यथा—

'सन्ध्या के सोने के नभ में
तुम उज्ज्वल हीरक-सदृश जड़े,
उदयाचल पर दीखते प्रात
अँगूठे के बल हुए खड़े !'

—('शुक्रतारा')

'जड़े' 'खड़े' : इस तरह के तुक पद्य में ही फिट हो सकते हैं।

पन्तजी कल्पना-कुशल कवि हैं, अतएव 'युगान्त' में गद्य की उभरी हुई पंक्तियाँ (अस्थियाँ) भी तूलिका का रूप-रंग पाकर भावों से भरी-पूरी जान पड़ती हैं।

छायावाद-युग की शब्द-सजीवता 'युगान्त' में भी देखी जा सकती है। यथा—

'वे डूब गये—सब डूब गये
दुर्दम, उदग्रशिर अद्रि-शिखर !
स्वप्नस्थ हुए स्वर्णातप में
लो, स्वर्ण-स्वर्ण अब सब भूधर !'

'दुर्दम, उदग्रशिर अद्रि-शिखर' से आँखों के सामने दुर्लंघ्य और उत्तुंग पर्वत-शिखरों का विराट चित्र खिंच जाता है। रूपक की भाषा में 'अद्रि शिखर' जड़ प्रतिक्रियाओं के प्रतीक हैं। उनका अतिक्रमण कर युग के स्वर्णोदय ने अपने प्रकाश से उन्हें भी शराबोर कर दिया है।

पन्तजी शब्द निष्णात हैं। उन्होंने अपनी सभी कृतियों में कुछ नये शब्द दिये हैं 'युगान्त' में लम्बे-पैने नखों का शक्ति-वाचक एक नया शब्द 'नखर' आया है—

'प्रखर नखर नव जीवन
की लालसा गड़ाकर
छिन्न भिन्न कर दे गत
युग के शव को, दुर्धर।'

तितली को 'तिली' सम्बोधन देकर उसके नन्हें सुकुमार कलेवर को कवि ने और भी सुकोमल कर दिया है—

'प्रिय तिली ! फूल-सी ही फूली
तुम किस सुख में हो रही डोल ?'

तितली को प्यार से 'तिली' कहकर ही कवि का जी नहीं भरा, उसकी शोभा की सूक्ष्मता को व्यञ्जित करने के लिए 'अनिल-कुसुम' भी कहना पड़ा।

कवि शब्दों के द्वारा रूप-चित्रण के अतिरिक्त ध्वनि-चित्रण भी करता आया है। इसका परिचय 'युगान्त' में भी मिलता है।

यथा—

'बाँसों का झुरमुट
सन्ध्या का झुटपुट
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टी-वी-टी—टुट् टुट् !'

ऐसा जान पड़ता है मानों सन्ध्या के सूने वातावरण में छोटी-छोटी चिड़ियाँ अपनी तुतलाहट से जीवन के स्पन्दन की टेक भर रही हैं।

कहीं कहीं कविता में कवि ने नाटकीय टैक्नीक का भी उपयोग किया है।

'छाभा के एकाकी प्रेमी,
नीरव दिगन्त के शब्द मौन,
रवि के जाते, स्थल पर आते
कहते तुम तम से चमक कौन ?'

—('शुक्र')

'चमक' में अभिनय की द्युति-स्फूर्ति है, प्रकृति के प्रहरी की सजग तेजस्विता है।

रंगमञ्च के आकस्मिक पटोद्घाटन की तरह चकित कर देने वाली एक दृश्य-योजना देखिये—

'तारों का नभ ! तारों का नभ !
सुन्दर, समृद्ध आदर्श सृष्टि !
जग के अनादि पथ-दर्शक वे
मानव पर उनकी लगी दृष्टि !
वे देव-बाल भू को घेरे
भावी भव की कर रहे पुष्टि !'

'तारों का नभ, तारों का नभ' कह कर कवि ने दृश्य की रमणीयता और दर्शक के कुतूहल-जनित आनन्द और आश्चर्य की व्यञ्जना की है।

'युगान्त' में पन्त की कवि प्रतिभा का नवीन कैशोर्य्य है। लघु लघु मुक्तकों में युग के बाल्यकण्ठ का सारल्य है। उनमें छायावाद का प्रसाद गुण है। देखिये कितनी सहज रचना है—

'वे चहक रहीं कुञ्जों में
चञ्चल सुन्दर चिड़ियाँ,
उर का सुख बरस
रहा स्वर-स्वर पर।

पत्रों पुष्पों से टपक रहा स्वर्णातप
प्रातः समीर के मृदु स्पर्शों से कँप-कँप !'

तितली, सन्ध्या, छाया, स्वर्णकिरण, मञ्जरित आम्र-तरु, शुक्रतारा और वसन्त के भाव-चित्र इतने सुगम और मनोरम हैं कि वे कलामयी उँगलियों से कसीदे पर फूल-पत्तों और सितारों की तरह कढ़े हुए जान पड़ते हैं।

'युगांत' की 'मञ्जरित आम्रवन-छाया' और 'सन्ध्या' ('कहो तुम रूपसि कौन ?') 'गुञ्जन' की रचना शैली की याद दिलाती है।

'सन्ध्या' शीर्षक कविता तो 'गुञ्जन' काल की ही रचना है। 'प्राण ! तुम लघु गात' की तरह यह एक मनोहर चित्र-गीत है। इस छोटे से प्रगीत में पूर्ण संगीत और पूर्ण चित्र (सांगरूपक) है। बड़ी संक्षिप्त और सरस रचना है।

'युगान्त' में पन्त की कविता का ह्रास नहीं हुआ है। ब्रजभाषा के बाद जैसे द्विवेदी-युग ने हिन्दी कविता का नवीन प्रयोग किया, वैसे ही छायावाद के बाद 'युगान्त' में पन्त ने। उन्होंने द्विवेदी युग के सद्योन्मुख गद्य को छायावाद का अलङ्करण दे दिया। स्वास्थ्य के लिए शरीर के आधार की तरह उन्हें भाव के लिए युग के सुदृढ़ गद्य का आधार लेना पड़ा। 'मैं और मेरी कला' शीर्षक लेख में पन्तजी लिखते हैं—"१६२१ के असहयोग आन्दोलन के साथ ही हमारे देश की बाहरी परिस्थितियों ने भी जैसे हिलना डुलना सीखा है। युग-युग से जड़ीभूत उनकी वास्तविकता में सक्रियता तथा जीवन के चिह्न प्रकट होने लगे। उनके स्पन्दन, कम्पन तथा जागरण के भीतर से एक नवीन वास्तविकता की रूप-रेखाएँ मन को आकर्षित करने लगीं। मेरे मन के भीतर वे संस्कार धीरे-धीरे सञ्चित हो होने लगे, पर 'पल्लव' की रचनाओं में वे मुखरित नहीं हो सके; न उसके स्वर उस नवीन भावना को वाणी देने के लिए पर्याप्त तथा उपयुक्त प्रतीत हुए।"

अपने नये संस्कार और नये स्वर के अनुकूल पन्तजी जिस जीवन और कला की रचना करना चाहते थे उसी का प्राथमिक प्रयोग 'युगान्त' में है। खड़ी बोली की कविता के क्रम-विकास में उसका अपना ऐतिहासिक स्थान है।

'युगान्त' में काव्य-कला के परिवर्त्तन के साथ साथ कविता का आलम्बन भी बदला है। छायावाद युग में प्रकृति आलम्बन थी, 'युगान्त' में मनुष्य आलम्बन है। पहिले मनुष्य और प्रकृति में पार्थक्य नहीं था, दोनों में एकात्म्य था, सारूप्य था। इसीलिए मनुष्य ने प्रकृति में ही अपनी अभिव्यक्ति पा ली थी। यथा—

'उषा सी स्वर्णोदय पर भोर
दिखा मुख कनक-किशोर;
प्रेम की प्रथम मदिरतम-कोर
दृगों में दुरा कठोर;

छा दिया यौवन शिखर अछोर
रूप-किरणों में बोर;
सजा तुमने सुख स्वर्ण-सुहाग;
लाज-लोहित अनुराग !'

—('गुञ्जन': रूप-तारा)

मनुष्य और प्रकृति का साहचर्य्य युग युग से चला आ रहा है—

'यह लौकिक औ' प्राकृतिक कला
यह काव्य अलौकिक सदा चला
आरहा,—सृष्टि के साथ पला !'

—('युगान्त')

किन्तु 'युगान्त' से प्रकृति पीछे छूटने लगती है, मनुष्य का मुरझाया मुख सामने आ जाता है। प्रकृति अब भी एक आदर्श दृष्टान्त के रूप में संश्लिष्ट है, किन्तु मानव जीवन के अवलोकन के लिए प्राकृतिक जगत पार्श्वभाग बन गया है

'हे पूर्ण प्राकृतिक सत्य !
किन्तु मानव-जग !
क्यों म्लान तुम्हारे कुञ्जन,
कुसुम, आतप, खग ?'

प्रकृति तो प्रफुल्लित है ही, मनुष्य के म्लान जीवन को भी कवि उसी की तरह बकसित-प्रमुदित देखना चाहता है। युग के गहनतम विषाद में 'द्वाभा के एकाकी प्रेमी' शुक्रतारा की तरह जागरूक कवि के लिए भी यही स्नेहोद्‌गार निकल पड़ता है—

'अब सूनी दिशि औ' श्रान्त वायु,
कुम्हलाई पङ्कज-कली सृष्टि;
तुम डाल विश्व पर करुणा-प्रभा
अविराम कर रहे प्रेम-वृष्टि !'

यद्यपि 'युगान्त' में कवि स्वभावतः कलाकार है, तथापि कला की अपेक्षा उसने जीवन को महत्त्व दिया है। इसीलिए 'ताज' शीर्षक कविता में कवि कहता है—

'मानव ! ऐसी भी विरक्ति
क्या जीवन के प्रति ?

आत्मा का अपमान,
प्रेत औ' छाया से रति !!'

× × ×

'शव को दें हम रूप-रङ्ग आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?'

जीवन के रचनात्मक निर्माण में निष्क्रिय कला-भवनों का यही वीभत्स रूप है। 'पल्लव' में जिस कवि ने सूक्ष्म 'छाया' को भी अपनी उर्वर कल्पनाशीलता से सजीव कर दिया था, वह 'ताज' में प्रत्यक्ष आधार पाकर भी उसे कोई मूर्त्त कल्पना नहीं दे सका; कवि की कलाकारिता करुणा से कुण्ठित हो गयी।

कवि की सभी कृतियों में जीवन का करुण स्पर्श है, फिर भी साहित्य में उसने दु:खवाद को प्रधानता नहीं दी। 'गुञ्जन' में कवि ने कहा है—

'आँसू की आँखों से मिल
भर ही आते हैं लोचन,
पर हँस-मुख से ही जीवन का
हो सकता है अभिवादन।'

पन्त जी हृदयोल्लास के कवि हैं। 'युगान्त' में भी उनकी रुचिरता का आनन्द प्रसन्न लोक है—

'आह्लाद, प्रेम औ' यौवन का
नव स्वर्ग सद्य सौन्दर्य-सृष्टि,
मञ्जरित प्रकृति, मुकुलित दिगन्त
कूजन-गुञ्जन की व्योम-वृत्ति !'

दि० के० वेडेकर

पंत का 'मानववाद'

पंत ने 'ग्राम्या', 'युगवाणी' आदि अपनी परवर्ती कृतियों में पहले के 'ब्रह्म-चैतन्य' तत्त्व को छोड़कर 'जीव-चैतन्य' के आधुनिक दर्शन-तत्त्व को अपना लिया है, किन्तु उनमें कोरा वस्तुवाद नहीं है। मार्क्सवाद का शिष्यत्व ग्रहण करके भी कवि की आत्मा कलाकार की ही आत्मा है। वह लोकप्राण तो हो उठा है, किन्तु उसमें सामाजिक विकास-शीलता की शक्ति जाग्रत नहीं हो पाई है।

'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' का रचना-काल सन् १९३३-४१ है। इन में हमें पन्त जी का मानव-सम्बन्धी दार्शनिक दृष्टिकोण और मानव संबंधी भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। इन तीनों संग्रहों का मुख्य विषय 'मानव' है।

मानव के 'मूल स्वरूप' और उसके सामाजिक विकास के सम्बंध में कवि की मान्यता क्या है, प्रस्तुत लेख में हम यही देखने का प्रयास करेंगे।

पहले हम सन् '३४-'४१ के पूर्व की पन्त-काव्य की पृष्ठभूमि जानने के लिये उस पर एक विहंगम दृष्टि डाल लें। उससे हमें अपने मुख्य विषय को समझने में सहायता मिलेगी। सन् १९३४ तक की पन्त जी की रचनाओं का अर्थ है—अकृत्रिम निसर्ग काव्य, प्रकृति की भावुक उपासना। कवि की भावनाओं में प्रकृति के रंग-रूप, फूल, निर्झर आदि बसे हुये हैं। कवि उनमें रम गया है। बाल-सदृश वह अपने आनन्द में विभोर उनसे बातें करता है। सन् '२४ की रचना, 'परिवर्तन' में प्रकृति के ऋतु-परिवर्तन के दृश्य ही मानव-जीवन के प्रतीक रूप में आते हैं। सन् '३२ के 'गुंजन' में कवि सृष्टि के सौंदर्य-लोक से मानव-जीवन की ओर आता दिखायी देता है।

'ज्योत्स्ना' सन् '३३ की रचना है, और एक रूपक-नाटक है। इसमें और 'अवगुण्ठन', 'मधुवन' आदि बाद की लम्बी रचनाओं में कवि की मानव-जीवन-सम्बंधी कल्पना का रूप अधिकाधिक स्पष्ट और व्यापक होता गया है।

'३४ के पूर्व की रचनाओं में पन्त जी का मानव-सम्बंधी दार्शनिक दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं है, न परिपक्व। ताहम उसमें एक विशेषता है। मराठी के सुविख्यात 'बाल-कवि' (श्री ठोंबरे) के निसर्ग काव्य से पन्त जी की उस समय की तुलना करने पर यह विशेषता स्पष्ट हो जाती है। आदियुगीन मानव की तरह दोनों प्रकृति की बहुरंगी छवि से सहज ही एकाकार हो जाते हैं; बालसदृश इसी प्रकृति लोक में वे फूल, तितली आदि के साथी बन जाते हैं। "सृष्टि सुन्दर है, प्रेममय है, वह कवि को अपने साथ खेलने के लिये बुलाती है।" इस प्रकार की तादात्म्य भावना दोनों की कविताओं में हमें मिलती है। यह तादात्म्य भावना उस प्रकृति-प्रेम से भिन्न है जो हम वर्ड्सवर्थ की निसर्ग-कविता में पाते हैं, जहाँ कवि का रसिक हृदय प्रकृति के चित्र को मानों बाहर से अनुभव करता है; उससे एकाकार होने का अनुभव प्राप्त करता है तो कल्पना द्वारा। इसके विपरीत बाल सदृश

निसर्ग-काव्य में कवि पूर्ण अर्थ में प्रकृति का अंश हो जाता है, उसी के अन्तर्गत, उसी के साथ मानों उसी की भावनाओं को आत्मप्रतीत करता है।

प्रकृति की शक्तियों को अनुशासित करने अथवा संसार को विजय करने की आधुनिक वयस्क मनुष्य की इच्छा की गंध भी कहीं दूर तक इनकी रचनाओं में नहीं मिलती। दृष्टिपात न कीजिये, पर दोनों में इस मौलिक समानता पर तो ऐसा मालूम होता है, कि—

"आनन्दी आनन्द गड़े, इकड़े तिकड़े चोहिकड़े"?

—की पुकार लगाने वाले बालकवि की आनंदग्राही भावना में भी निराशा की छाया कभी-कभी आ जाती है; पर पन्त जी की काव्य-लहरी में निराशा का स्वर कहीं नहीं सुनायी देता। 'खेड्यांतील-रात्र[1]' 'बुबडास[2]' अथवा 'पाँखरास[3]'-बाल-कवि की सब से सुन्दर रचनाओं में से कोई भी ले लीजिये—'पाँखरास' में ये पंक्तियां आती हैं :

'येईल एक परि धन्य दिवस सौख्याचा,
जो करिल तुम्यासह अंत तुम्या गीताचा'

अर्थात्, परम सुख का एक दिन आयेगा जो तेरे गीत की, तेरे ही साथ समाप्ति कर देगा। इसके विपरीत पन्त जी की रचनाओं को देखिये;

ताजमहल को निर्देश कर वे कहते हैं :

'मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ छाया से रति !!'

("पल्लविनी,' पृष्ठ २५०)

बालकवि में जो एक उदास छाया कभी-कभी हमें नज़र आती है, उसका पन्त जी की रचना में स्थान नहीं; यही उनकी विशेषता है! इस युग की हिन्दी कविता के मूल-प्रेरक महाकवि रवीन्द्रनाथ टाकुर की कविताओं में भी अत्यधिक करुणा हमें मिलती है; और आरम्भ में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव पन्त जी पर भी पड़ा। किंतु उस परम्परा के करुण प्रभाव से यह कवि वास्तव में अछूता रहा, इसका कारण यह है कि वह स्वभाव से ही आशावादी है। "किसी अज्ञात विरहिणी के अनंत गान" अपने हृदय में सुनने वाले कवीन्द्र की परम्परा छोड़ कर पन्त जी आशावादी मानव के स्फूर्तिदायक गीत गाने लगे। आह्लाद के लिये उन्मुख, उनका मन सर्वत्र उनके नैसर्गिक काव्य को स्पन्दित करता है। पन्तजी के निसर्ग-काव्य की पृष्ठभूमि को समझ लेने के बाद अब हम उनके मानव-काव्य को लें।

---

१. अर्थात् 'गांव में रात'। २. अर्थात् 'उल्लू'। ३. अर्थात् 'पक्षी के प्रति'।

सन् १६३४ के बाद कवि अपनी प्रेरणा का स्रोत कहाँ पाता है ? इसका उत्तर होगा—चिर, अबाध प्रगति में, अपने विश्वास में। उसका विश्वास है कि यह प्रगति हमको मानव जीवन के विकास में अनुभव होती है। मानव-प्रगति का सूत्र हाथ आने पर कवि ने मानो प्रकृति को गौण स्थान देने का निश्चय कर लिया है। 'ग्राम्या' में एक जगह पन्त जी कहते हैं :

'जग-विकास क्रम में सुन्दरता सबकी हुई पराजित,
तितली, पक्षी, पुष्प, वर्ग इसके प्रमाण हैं जीवित।
हृदय नहीं इस सुन्दरता के भावोन्मेष न मन में,
अंगों का उल्लास न चिर रहता, कुम्हलाता क्षण में
हुआ सृष्टि में बुद्ध-हृदय जीवों का तभी पदार्पण,
जड़ सुन्दरता को निसर्ग कर सका न आत्म-समर्पण।
मानव उर में भर ममत्व जीवों के जीवन के प्रति
चिर विकास प्रिय प्रकृति देखती तब से मानव परिणति।'

("ग्राम्या," पृ० ७७)

मानव जीवन की ओर आते हुए कवि ने निसर्ग के आकर्षण से अपने आपको कितना मुक्त कर लिया है, यह उपरोक्त उद्धरण में स्पष्ट है; और यह भी स्पष्ट है कि प्रेरणा, प्रगति और परिवर्तन का सार सर्वस्व ही भाव-लोक में मिलता है।

एक बार मानव-जीवन की ओर बढ़ आने पर मानव-जीवन की असंगतियाँ और विपत्तियाँ उसकी समस्त यथार्थता, कवि के सम्मुख उपस्थित हो जाती हैं। सुख के लिये प्रयत्नशील मानव को आपत्तियों के पहाड़ उठाने पड़ते हैं, और असह्य दुःख भोगने पड़ते हैं। इसके मूल में जाने की कवि की इच्छा होना स्वाभाविक ही है। हमारे सामाजिक और वैयक्तिक दुखों का मूल कारण क्या है ? उनको कैसे दूर किया जा सकता है ? पंत जी ने इन प्रश्नों का जो उत्तर दिया है हमें उस पर विचार करना है।

पुराने, मध्यकालीन समाज में स्त्री-पुरुष सम्बंधी नीति-नियम विषमता, ढोंग और दिखावे से भरे होते थे, अतः इनका तीव्र विरोध हिंदू सुधारकों को करना पड़ा। और इन कृत्रिम रूढ़ियों के बजाय हाड़-मांस के मनुष्य की स्वाभाविक प्रणय-भावना को सम्मानित और समादृत बनाने के लिये पंत जी ने इंद्रिय-सुख [illegible]। प्रगति का अर्थ मानव-सुख की वृद्धि में [illegible] अर्थ-वैशिष्ट्य इतना सीधा-सादा होने के [illegible] पूर्ण सत्य, पंत जी ने इस प्रकार रखा :

'मांस मुक्ति है भाव मुक्ति, औ भाव मुक्ति जीवन उल्लास,
मांस मुक्ति ही लोक मुक्ति सब जीवन का जो चरम विकास।'

('युगवाणी,' पृष्ठ ५६)

पंतजी का 'मानव' इस प्रकार सम्पूर्ण रूप से हाड़-मांस का, वास्तविक दुनिया का, मानव है। यह बात ध्यान में रखने योग्य है। साथ ही साथ यह भी समझ लेना है कि उनको 'सुखवाद' में, 'मांस पूजा' में केवल मध्ययुग की साम्प्रदायिक रूढ़ियों का ही निषेध है; इसमें कतिपय योरपीय अथवा भारतीय साहित्यिकों की लैंगिकता नहीं। उदाहरणार्थ डी. एच. लारेंस की लैंगिकता आधुनिक योरपीय सुशिक्षितों में से कुछ लोगों के केवल निराशामूल, अगतिक, विपरीतासक्ति का प्रतिबिम्ब है, और उसकी छाप हमारे ऊपर भी पड़ती जाती है। पंत जी की मानसिक वृत्ति एकदम हट्टी-कट्टी और स्वस्थ है, वह ऐन्द्रिक शरीर-पूजा के रुग्ण विलास में नहीं फँसे। इसका प्रमाण उनकी यह आकांक्षा है जिसको उन्होंने स्पष्ट स्वरों में व्यक्त किया :—

'जीवन की क्षण-धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित,
रक्त मांस की इच्छाएँ जन की हों पूरित।
—मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें,—मानव ईश्वर!
और कौन सा स्वर्ग चाहिये तुझे धरा पर?'

(युगवाणी, पृ० ५६)

'मानव' को महान, विशाल जन-समाज के रूप में देखने वाले पंतजी स्वार्जित प्रतिष्ठा से सम्पन्न, एकाकी, तथाकथित 'स्वतन्त्र' व्यक्ति के ही हृदय के सुख-दुःख के राग में नहीं डूब जाते। इसका एक कारण यह है कि उनके आनंद-ग्राही हृदय में जन-समुदाय की सामूहिक भावना को भी ग्रहण और चित्रित करने की शक्ति है। धोबी, कहार आदि ग़रीब लोगों का जीवन इतना अपूर्ण दयनीय और भिंचा हुआ है कि सामान्य कवि के लिये उनकी सामाजिक भावनाओं में तन्मय और तल्लीन होना तो दूर रहा, उन भावनाओं के अस्तित्व का आभास भी उसे नहीं हो सकता। मगर पंतजी इसके अपवाद हैं। उनकी श्रेष्ठ रचनाओं में 'धोबियों का नृत्य' और 'कहारों का रुद्र नृत्य' का समावेश किया जा सकता है। दलित, शोषित, अधिकार-वंचित लोगों के जीवन में भी उद्दाम राग-रंग कितना उत्साह भर सकता है, और उनके हृदय में छिपी कितनी मस्ती उभार सकता है—यह उपरोक्त कविताओं में हम अनुभव करते हैं। इन कविताओं का प्रत्येक शब्द उमंगभरा भावोद्रेक से ओतप्रोत है। मराठी कवियों में किसी ने जन-समाज के इस सामूहिक राग-रंग और उत्साह का वर्णन किया हो, मुझे नहीं

मालूम। इस वर्ष के मराठी के 'सत्य-कथा' दीपवाली-विशेषांक में श्री आर. श्री. म. माटे की 'देवकाईची देव की झाली' शीर्षक कहानी प्रकाशित हुई है, जिसमें श्री माटेजी ने महार (एक अछूत जाति) के एक सामाजिक उत्सव का भाव-पूर्ण चित्रण किया है। इसमें हम 'कहारों का रुद्र नृत्य' की सी सजीवता और यथार्थता अनुभव कर सकते हैं। उत्सव में तल्लीन जन समूह को उद्देश कर वे कहते हैं:

'वाद्यों के उन्मत्त घोष से गायन स्वर से कम्पित
जन इच्छा का गाढ़ चित्र कर हृदय-पटल पर अंकित,

खोल गये संसार नया तुम मेरे मन में, क्षण भर
जन संस्कृति का तिग्म स्फीत सौन्दर्य स्वप्न दिखलाकर!

युग युग के सत्याभासों से पीड़ित मेरा अन्तर
जन मानव गौरव पर विस्मित : मैं भावी चिन्तन पर!'

('आस्था', पृष्ठ ४६)

पन्त जी की कविताओं में हम प्रगतिशील और प्रयत्नशील मनुष्यों का, और विशेष-रूप से मनुष्य-समाज का, चित्रण देखते हैं। इस दृष्टिकोण से उन्हें जन-समाज का कवि कहना योग्य होगा। तथापि, यह देखना आवश्यक है कि कहीं-कहीं उनके मानव का जो चित्र हमारे सम्मुख आता है वह वास्तविकता से हटा हुआ और गलत होता है। उनकी आधुनिक रचनाओं में 'मार्क्स के प्रति' 'यंत्र के प्रति' 'मज़दूर के प्रति,' आदि, कविताएँ हैं; जिनमें मार्क्सवाद का समर्थन और स्पष्टीकरण परिलक्षित है, किन्तु इनमें उनका 'मानव' अभी तक पुरानी, चैतन्यवाद की संज्ञा के कोये से मुक्त नहीं हो सका है। मार्क्सवादी समालोचक कामरेड शिवदानसिंह चौहान ने पन्त जी को मार्क्सवादी कवि सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, इसलिये इसकी चर्चा करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

पन्त जी ने मार्क्सवाद का अध्ययन किया है, मार्क्स का शिष्यत्व ग्रहण किया है, यह सच है। अनेक कविताओं में, जिन्हें केवल प्रचारात्मक पद्य कहना चाहिये उन्होंने मार्क्सवादी तत्वों को छन्दोबद्ध किया है। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उनकी 'मानव'—कल्पना मार्क्सवादी है। वह मार्क्सवादी क्यों नहीं है, इसका कारण नीचे निवेदन करता हूँ।

जन समाज की निरन्तर प्रगति का कारण पन्त जी इस प्रकार देते हैं ?

'मानवता का रक्त-मांस जग-जीवन से चिर ओत-प्रोत,'

('युगवाणी,' पृष्ठ ५५)

इस 'जग-जीवन' का अथवा 'जीव-चैतन्य' का अर्थ क्या है ? पन्त जी कहते हैं :

'क्षुद्र आत्म पर मूल, भूत सब हुये समन्वित
तृण तरु से तारालि-सत्य है एक अखंडित
मानव ही क्यों इस असीम समता से वंचित

('ग्राम्या,' 'खिड़की से' पृष्ठ ७०)

इस असीम समानता से मानव कैसे वंचित रह सकता है ? इस जग-जीवन ही को पंत जी कभी-कभी "चिन्मय प्रकाश" कहते हैं :

'चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय, चिन्मय प्रकाश में विकसित, लय !
जड़ चेतन, चेतन जड़ बन बन रचते चिर सृजन प्रलय अभिनय,'

('सौरमंडल,' 'पल्लविनी,' पृष्ठ ६४)

पंत जी के मतानुसार मानव की अविकृत आत्मा इस 'जग-जीवन का एक अंश है। वह कहते हैं कि इस 'नित्य, शुद्ध और पवित्र सत्य' अर्थात् मनुष्य आत्मा को, भौतिकता के मद ने ग्रस लिया है। इससे भी आगे बढ़ कर वे हाड़-मांस के मनुष्य को इस प्रकार सम्बोधन करते हैं :—

'भूतवाद उस स्वर्ग के लिये है केवल सोपान !
जहाँ आत्म दर्शन अनादि से समासीन, अम्लान।'

('युगवाणी' 'बापू!' पृष्ठ १३)

इससे स्पष्ट प्रकट है कि प्राचीन भारतीय दर्शन के 'ब्रह्मचैतन्य' तत्व को यद्यपि पंत जी ने छोड़ दिया है, तथापि उसके स्थान पर उन्होंने 'जीव चैतन्य' को आधुनिक दर्शन-तत्व को अपना लिया है। इसमें उन्होंने आधुनिक योरपीय चैतन्यवादी दर्शन का, विशेष कर बर्गसाँ के जीव-चैतन्यवाद (व्हाइटलिज्म) का अनुसरण किया है। इसका अर्थ यह है कि उन्होंने आधुनिक तत्वज्ञान के चैतन्यवादी [आइडियलिस्ट] स्कूल को स्वीकार कर आधुनिक वस्तुवाद, विशेषतः मार्क्सवादी वस्तुवाद को छोड़ दिया है।

मानव विकास को 'जीव-चैतन्य' तत्व के आधीन दिखाने का प्रयत्न जो पंत जी ने किया है उस कारण उनकी सामाजिक कल्पना में उलझाव पैदा हो गया है। पूरे मानव इतिहास की यातनापूर्ण और रक्त-रंजित कहानी ज्ञात होते हुए भी वे विश्वास के आग्रह से कहते हैं : संसार का मूलतत्व प्रेम ही है।

'भव तत्व प्रेम : साधन हैं उभय विनाश, सृजन
साधन बन सकते नहीं सृष्टि गति में बन्धन !'

('ग्राम्या,' पृष्ठ ६६)

इसी प्रकार सांस्कृतिक क्रमोन्नति को वस्तुवादी दृष्टिकोण से न देखने के कारण वे आदेश देते हैं कि—'मूल' मनुज को खोज निकालो !

'आज मनुज को खोज निकालो !
जाति वर्ण संस्कृति समाज से !
मूल व्यक्ति को फिर से चालो !'

('युगवाणी,' पृष्ठ १०१)

और भी पहले की रचनाओं में जैसे सन् १९२५ के 'परिवर्तन' में हम देखते हैं कि 'पूर्ण पुरातन' 'वेद विख्यात' 'सत्य' के सुवर्ण काल की कल्पना—और उसमें निहित आधारहीन दृष्टिकोण—पंत जी के लिये कितना स्वभाविक और सुखद है। और आज भी उनके दृष्टिकोण में हम कोई मौलिक अंतर नहीं देखते। फल-स्वरूप मार्क्सवादी विचार धारा से पंत जी कितने दूर हैं, यह दो-एक उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा।

'ग्राम्या' में पंत जी ने यंत्र के सम्बंध में एक विचित्र बात पेश की है, यानी कि—

'जड़ नहीं यन्त्र : वे भाव रूप : संस्कृति द्योतक
....
दार्शनिक सत्य यह नहीं,—यन्त्र जड़, मानव कृत
वे हैं अमूर्त : जीवन-विकास की कृति निश्चित।'

(पृष्ठ ८८)

मनुष्य, उसकी सभ्यता, संस्कृति, उन्नति और इन सबके क्षेत्र में यंत्र के कार्य को, उनके परस्पर सम्बंध को न दिखाकर वे अपने जीवन-विकास के जीव चैतन्य-वादी सिद्धान्त के ढाँचे में उनको जकड़ देते हैं। निम्नलिखित उद्धरण में यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी :

'राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत् के सम्मुख।
अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानव जीवन के दुःख।
....
आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित
खण्ड मनुजता को युग-युग की होना है नव-निर्मित
....
व्यर्थ आज राष्ट्रों का विग्रह औ' तोपों का गर्जन
रोक न सकते जीवन की गति शत विनाश आयोजन
....

नव प्रकाश में तमस युगों का होगा स्वर्ग निमज्जित,
प्रतिक्रियाएँ विगत युगों की होंगी शनैः पराजित'

('ग्राम्या,' 'संस्कृति का प्रश्न,' पृष्ठ ८६)

उद्धरण में कवि स्पष्ट रूप से कहता है कि सामाजिक क्रांति का प्रश्न स्वयं हल हो जायगा, क्योंकि 'जीवन की गति' को 'शतविनाश आयोजन' रोक नहीं सकते। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य को क्रांति के लिये स्वयं उद्योग और संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

इसे कौन मार्क्सवाद, अथवा मार्क्सवाद की छाया भी कहेगा? इसी प्रकार गाँवों के सम्बंध में पंत जी कहते हैं:

'मनुष्यत्व के मूलतत्व ग्रामों ही में अंतर्हित,
उपादान भावी संस्कृति के भरे यहाँ हैं अविकृत।
शिक्षा के सत्याभासों से ग्राम नहीं हैं पीड़ित,
जीवन के संस्कार अविद्या-तम में जन के रक्षित।

('ग्राम्या' पृष्ठ १४)

'अविद्या-तम' के कारण जिनमें मध्यकालीन संस्कार व कूपमंडूक स्वार्थवृत्ति मौजूद हैं, ऐसे किसान भावी संस्कृति के लिये आने वाले संघर्ष में सहायक तो अवश्य होंगे, किंतु मुख्य क्रांति-कार्य और नेतृत्व शिक्षित शहरी मज़दूरों के हाथों में ही रहेगा। मार्क्सवाद यही कहता है; किंतु पंत जी इसको नहीं देखते। ऐसे एक-दो नहीं अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि पंत जी के जीवन-सम्बंधी दृष्टि कोण को मार्क्सवादी बतलाना असम्भव है। उनको हम पूर्ण रूप से चैतन्यवादी, जीव-चैतन्यवादी ही कह सकते हैं।

अंत में मैं एक बार पुनः पंत जी के आशावाद की चर्चा करना चाहता हूं। एकाध बार पंत जी भी वैराग्य भाव में 'संसार' को 'अपूर्ण' 'अस्थिर' कह कर 'आत्मत्याग' का दर्शन हमारे सामने रखते हैं।

'चिर पूर्ण नहीं कुछ जीवन में अस्थिर है रूप जगत का मद,
बस आत्म-त्याग, जीवन-विनिमय, इस संधि जगत में है सुखप्रद।'

('युगवाणी' पृष्ठ ६५)

पर इस प्रकार की जीवन की क्षणिक उपेक्षा से इस कवि का हृदय कमज़ोर नहीं होता, और इसीलिए उनकी कविता में जो जीवन है, जो विकास-शीलता है, उसमें शक्ति है, और उस शक्ति को हम अनुभव करते हैं। पंत जी सदैव एक आशावादी कवि रहेंगे, और समाज के प्रति उनका प्रेम गहरा और दृढ़ बना रहेगा।

उसका एक प्रमाण तो यही है कि उन्होंने देश में साम्यवाद निंदा के इन दिनों भी, निर्भीकतापूर्वक, स्पष्ट-रूप से कम्युनिस्टों का तथा उस शोषित दलित वर्ग का पक्ष अपनाया है, जिसका कम्युनिस्ट प्रतिनिधित्व करते हैं; जैसा कि कम्युनिस्ट पार्टी को दिए उनके संदेश के एक वाक्य से प्रकट है—

"...मेरे प्राण सौंदर्यवादी हैं, और मेरा सौंदर्य लोकप्राण है, इसीलिये मैं कम्युनिज़्म से प्रभावित हूँ।"

(का. पूरनचंद्र जोशी के नाम पंत जी का पत्र 'लोकयुग' १६ सितम्बर १६४५)

इस उदाहरण से यह भी प्रकट होता है कि पंत जी कम्युनिज़्म की ओर आकृष्ट अवश्य हुए हैं, लेकिन अपनी सौंदर्यवादी प्रतिभा के द्वारा। उनकी आत्मा कलाकार की ही आत्मा रही है और अंत तक रहेगी। इससे यह भी प्रकट होता है कि उनका सौंदर्य-दर्शन ध्वनिवाद से सीमित, संकुचित अथवा विषाद-पूर्ण नहीं है बल्कि 'लोक प्राण' है। और लोक-प्राण होने के कारण ही उसमें आनन्दोन्मुख और आशावाद है, जिससे उनका समस्त काव्य ओत-प्रोत है। जैसे 'युग-वाणी' की इन पंक्तियों में हम देखते हैं, जहाँ कवि 'पलाश' को सम्बोधन करता है :

हृदय रक्त ही अर्पित कर मधु को अर्पण श्री शाल !
तुम ने जग में आज जला दी दिश-दिश जीवन ज्वाल !
जीवन की आकांक्षाओं का यह सौंदर्य अमन्द,
मानव भी उपभोग कर सकें मुक्त, स्वस्थ आनन्द,'

(पृष्ठ ८२, ८३)

डॉक्टर नगेन्द्र

पंत का नवीन जीवन-दर्शन

पंत का सूक्ष्म-चेता मन मार्क्सवादी आदर्शों और सर्वथा निरपेक्ष भौतिक यथार्थताओं में ही लिप्त रह कर परितोष नहीं पा सकता। उनकी सामाजिक-चेतना का आधार भी वही आत्मपरक मानववाद रहा है, जिसमें भौतिक-उत्कर्ष की अपेक्षा आत्मिक-उत्कर्ष अधिक अभिप्रेत है तथा मानसिक के साथ साथ आत्मिक उपकरणों का समाहार एवं सहज, सात्विक भावना का भी समावेश मिलता है। 'युगवाणी', 'ग्राम्या' में कवि के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ था, किन्तु 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि' में वह अपने पूर्व के उसी परिचित-पथ पर लौट आया है। प्रस्तुत लेख में विद्वान् लेखक ने कविता की आत्मा में झाँक कर अंतर्भूत तथ्यों को उद्घाटित करने का प्रयास किया है।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की आलोचना करते हुए आज से आठ नौ वर्ष पूर्व मैंने लिखा था कि मार्क्सवाद में श्री सुमित्रानन्दन पन्त का व्यक्तित्व अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं पा सकता। जीवन के भौतिक मूल्य पन्त के संस्कारी व्यक्तित्व को तृप्त नहीं कर सकते। उनका सूक्ष्म-चेता मन उन बुद्धिग्रहीत भौतिक मूल्यों के विरुद्ध उस समय भी बार-बार विद्रोह कर रहा था और ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता था कि वे शीघ्र ही फिर उसी परिचित पथ पर लौट आयेंगे। कारण स्पष्ट है: पन्त के व्यक्तित्व में वह काठिन्य और दृढ़ता नहीं है जो मार्क्सवादी विश्वासों के लिए अपेक्षित है। मार्क्सवाद का भौतिक-संघर्ष, निरीश्वरवाद अथवा अनात्मवाद, पन्त जैसे कोमल-प्राण व्यक्ति का परितोष नहीं कर सकते। ऐसे व्यक्ति के लिए आस्तिकता अनिवार्य हो जाती है, और आत्मा और ईश्वर में ही अन्त में उसे जीवन और जगत का समाधान मिलता है। अतएव 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्ण-किरण' का प्रकाशन और उनमें अभिव्यक्त पन्त का परिवर्तित दृष्टिकोण हमारे लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मानव मनोविज्ञान से अभिज्ञ, संस्कारों में विश्वास रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति उसे स्वाभाविक घटना ही मानेगा।

यों तो 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्ण किरण' में कई प्रकार की कविताएँ हैं, अनेक कविताओं का धरातल सामाजिक है, कुछ कविताएँ आत्मगत हैं जो परिष्कृत मधुर रस से अभिषिक्त हैं, कतिपय कविताएँ प्रकृति सम्बन्धी भी हैं, परन्तु अधिकांश कविताएँ आध्यात्मिक हैं। इसलिए इन नवीन कृतियों का प्रधान स्वर आध्यात्मिक है। ग्रंथि से पल्लव और पल्लव से गुञ्जन, ज्योत्स्ना और युगांत में पन्त जी क्रमशः शरीर से मन और मन से आत्मा की ओर बढ़ रहे थे, बीच में युगवाणी और ग्राम्या में उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। मार्क्स के वस्तुवादी जीवन-दर्शन ने उन्हें आकृष्ट किया और वे अपने सहज मार्ग से थोड़ा हट गये। उस समय भी उनकी आध्यात्मिक चेतना लुप्त नहीं हुई थी। युगवाणी और ग्राम्या दोनों में भी उन्होंने अति-भौतिकवाद का निषेध करते हुए आत्म-सत्य और वस्तु-सत्य के समन्वय पर बल दिया है। परन्तु फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि उस काल-खण्ड की कविताओं में भौतिक सत्य का ही प्राधान्य है। चेतना पर वस्तु-सत्य का प्रभुत्व है, यद्यपि अन्तश्चेतना में आत्म-सत्य की सत्ता का अन्त नहीं

हुआ है। यह परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मात्र थी और एक बौद्धिक स्वीकृति से अधिक नहीं थी। परिस्थिति के दूसरे मोड़ पर प्रकृत संस्कार फिर उभर आये और पन्तजी वस्तु से आत्मा की ओर फिर से प्रवृत्त हो गये—

'सामाजिक जीवन से कहीं महत् अन्तर्मन,
वृहत् विश्व इतिहास, चेतना गीता किन्तु चिरन्तन'

उनका विकास-पथ भी निसर्गतः यही है और इसकी चेतना उन्हें स्पष्ट है—

'दीप-भवन युग विद्युत्-युग में ज्यों दिक् शोभित,
मन का युग हो रहा चेतना युग में विकसित'

परन्तु इस आध्यात्मिकता का स्वरूप स्पष्ट करना आवश्यक है। यह आध्यात्मिकता साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक नहीं है और न यह रहस्यवाद ही है। यह आध्यात्मिकता मनोवैज्ञानिक है। इसका सम्बन्ध सूक्ष्म चेतना से है। पन्तजी का आत्मा की सत्ता में अटल विश्वास है। परन्तु वे आत्मा को चेतना का सूक्ष्म रूप मानते हैं, अपने में सर्वथा निरपेक्ष भौतिक जीवन से एकांत अविकृत उसका अस्तित्व नहीं है। और स्पष्ट शब्दों में मानव-हृदय का पूर्णतम विकसित रूप आत्मा है। अतएव उसमें मानव हृदय की विभूतियों का चरम विकास मिलता है। उनसे रहित शुद्ध-बुद्ध अथवा निर्लिप्त रूप, नकारात्मक एवं निवृत्ति-मूलक पन्त को अग्राह्य है। उन्होंने जिस आध्यात्मिक चेतना की कल्पना की है उसमें भौतिकता का परिष्कार है, तिरस्कार नहीं है, उन्नयन है, दमन नहीं है।

'आज हमें मानव मन को करना आत्मा के अभिमुख'

परन्तु साथ ही,

'वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन,
भूतवाद हो जिसका रज तन प्राणिवाद जिसका मन
औ' अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गभीर चिरन्तन'

(लोक-सत्य)

'तीसरी रे भूख आत्मा की गहन।
इन्द्रियों की देह से ज्यों है परे मन॥
मनोजग से परे ज्यों आत्मा चिरंतन।

जहाँ मुक्ति विराजती
औ' डूब जाता-हृदय-क्रन्दन
वहाँ सत् का वास रहता,
वहाँ चित् का लास रहता,

वहाँ चिर उल्लास रहता,
यह बताता योग दर्शन।
किन्तु ऊपर हो कि भीतर,
मनोगोचर या अगोचर,
क्या नहीं कोई कहीं ऐसा अमृतघन,
जो धरा पर बरस भर दे भव्य जीवन ?
जाति वर्गों से निखर जन
अमर प्रीति प्रतीति में बँध
पुण्य जीवन करें यापन।
औ धरा हो ज्योति-पावन'

प्रवृत्तिमय होने के कारण यह आध्यात्मिकता स्वभावतः आनन्दरूपिणी है—इसमें आत्मा का सात्विक उल्लास है। भूत रत जीवन के काले लौह-पाश से मुक्त अन्तश्चेतना का सोना है। भौतिकता अथवा भूत-लिप्सा मरणोन्मुखी और नाशमयी है और आत्मा का सहज उल्लास सृजनशील है। अतएव पन्त की इस नवीन आध्यात्मिक चेतना में प्रेम और माधुर्य से समन्वित जीवन की जागृति, सृजन की स्फूर्ति और निर्माण-स्वप्नों का राशि सौन्दर्य-वैभव है—

'खुला अब ज्योति द्वार,
उठा नव प्रीत ज्वार,
सृजन शोभा अपार।
कौन करता अभिसार,
धरा पर ज्योति भरण,
हँसी लो स्वर्ण किरण।'

यह अध्यात्मिकता वैसे तो पन्त जी की काव्य-चेतना का सहज विकास था परन्तु इसका तात्कालिक कारण उनकी रुग्णता भी है। तीन-चार वर्ष पूर्व पन्तजी उस स्थिति पर पहुँच गए थे जहाँ से मृत्यु दृष्टिगोचर होने लगती है। मृत्यु के उस अन्ध-तमस को भेद कर नव-जीवन की स्वर्ण किरण का उद्भास स्वभावतः जीवन-दर्शन में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। वास्तव में मृत्यु जीवन की भौतिकता के लिये सबसे बड़ी ललकार है— आज से शत सहस्र वर्ष पूर्व मानव चेतना के उस नव प्रभात में वैदिक ऋषि ने मानव को भौतिक लिप्साओं से सावधान करने के लिए ही तो कहा था : 'ॐ क्रतो स्मर, कृतं क्रतो स्मर।' मृत्यु की चेतना जीवन के स्थूल तथ्यों को भेद कर उसके सूक्ष्म सत्यों को अनायास ही उद्घाटित कर देती है। अतएव कवि को स्थूल से सूक्ष्म

की ओर, वस्तु से आत्मा की ओर प्रेरित करने के लिए उसकी इस रुग्णता ने भी कम से कम परिस्थिति का कार्य अवश्य किया है। पन्त जैसे व्यक्ति के जीवन में वैसे ही कटुता के लिए स्थान कम था, जो कुछ कटुता थी वह इस अग्नि में जल कर निःशेष हो गई—अब उसमें प्राणों का अमृत है नव-जीवन, आशा, उल्लास है।

इस अध्यात्म चेतना का मूल-तत्त्व है समन्वय—व्यष्टि और समष्टि अर्थात् ऊर्ध्व विकास और समदि विकास का समन्वय, बहिरन्तर अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय—जिसे पाश्चात्य दर्शन में विज्ञान और ज्ञान, और प्राच्य-दर्शन में अविद्या (भौतिक ज्ञान) और विद्या (ब्रह्मज्ञान) कहा गया है—

'ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।
आज जगत में उभय रूप तम में गिरने वाले जन,
ज्योति-केतु ऋषि-दृष्टि करे उन दोनों का संचालन।
बहिरंतर के सत्यों का जगजीवन में कर परिणय,
ऐहिक आत्मिक वैभव से जन-मंगल हो निःसंशय।'

यही मानव का देवत्व है जिसमें कि जीवन के स्वर्णिम वैभव पर आत्मा का अवतरण प्रतिष्ठित है; इसी के आधार पर विश्व-संस्कृति की स्थापना हो सकती है जो इस युग की समस्याओं का एक मात्र समाधान है। आज के द्रोहरत-मानव की यहीं मुक्ति है और यह समाधान युग का सामयिक सत्य नहीं है। युग-युग का शाश्वत् सत्य है। मानव जीवन की चिरंतन समस्या का चिरंतन समाधान है। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व हमारे उपनिषद् इसकी घोषणा कर चुके हैं—

'अंध तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य अविद्यायां रतः॥
विद्यांचाविद्यां च यस्तद्वेदो भयं सह।
अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥'

व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से पन्तजी इस समय जीवन की प्रौढ़ि पर पहुँच गए हैं। जीवन की यह वह अवस्था है जहाँ स्वयम् कवि के शब्दों में—

'रूप रंगों का चित्र जगत्
सिमट, घुल हो अनुभव-अवगत
विचारों भावों में परिणत,

भिन्न रुचि प्रकृति नहीं कल्पित,
एकता में वे आलिंगित,

विकर्षण आकर्षण से नित्य
हो रहा जग जीवन विकसित।'

अर्थात् पल्लव के सौन्दर्य, कवि के मानस का रूप-रंग प्रौढ़ि की इस अवस्था में जीवन के अनुभवों से धुल कर विचार और भाव में परिणत हो गया है। यौवन-सुलभ रोमानी उल्लास, चिन्तन और विचार में परिणत हो गया है और जीवन के वैचित्र्य में उसे एकता की अनुभूति होने लगी है। अब विकर्षण और आकर्षण एक ही सत्य के दो रूप होने के कारण एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। जीवन और जगत् के विकास में उन दोनों का समान योग है। इसीलिए आज वह समन्वय की अमोघ औषधि लेकर विश्व की वर्तमान व्याधियों का उपचार करने के लिए आगे बढ़ता है। वह देखता है कि आज मानव जाति, वर्ण, वर्गों में विभक्त है। पृथ्वी का वक्ष राष्ट्रों के कटु स्वार्थों से खंडित हो रहा है। अर्थ-व्यवस्था सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गई है। जीवन के मन्दिर में हँसती हुई मानव मूर्ति के स्थान पर यन्त्रों की मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जनगण के रक्तप्राण का शोषण हो रहा है। उधर सामाजिक जीवन पूर्णतः विशृंखल हो गया है। मध्य वर्ग कृमिव्यूह की तरह क्षुद्र स्वार्थों से ग्रस्त है। अर्थ-दस्यु उच्च-वर्ग धन-मद से अन्धा हो रहा है। सारा जीवन अहम्मन्यता और अन्ध-लालसा से काँप रहा है। उधर बौद्धिक दृष्टि से, आज समाज में चार वर्ग मिलते हैं:—एक बुद्धि-प्राण वर्ग, दूसरा धर्म-प्राण वर्ग, तीसरा राजनीतिक वर्ग और चौथा वर्ग उन नवशिक्षितों का है जिनका कोई विशिष्ट एवं निश्चित दृष्टिकोण नहीं है, जो विचारहीन जीवन व्यतीत करते हैं। इनमें पहला वर्ग तर्कों, वादों और सिद्धान्तों के जाल में उलझा हुआ है। दूसरा धर्म-प्राण वर्ग धर्म की आत्मा को भूल उसके वाह्य स्थूल रूपों, रीति-नीति और शाखा पंथों से आगे नहीं बढ़ पाता। राजनीतिक वर्ग जीवन के रचनात्मक कार्यों को छोड़ ध्वन्सात्मक कार्यों में अपनी सारी शक्ति लगा रहा है। रह गया चौथा वर्ग, उसमें सोचने की शक्ति ही नहीं है। नव-शिक्षा ने उसे पूर्णतः भाग्यवादी बना दिया है। उसके प्राप्य हैं स्त्री, धन, पद, मान। बस—इनके आगे उसकी चेतना की गति नहीं है।

कवि इस सार्वभौम अधःपतन के कारण पर विचार करता है तो उसे ज्ञात होता है कि इस सम्पूर्ण ह्रास का मूल कारण है जीवन में संतुलन (समन्वय) का अभाव।

आज का मानव बाह्य-जीवन में इतना खोया हुआ है कि वह अपने अन्तः स्वरूप को सर्वथा भूल गया है। वाष्प, विद्युत् और किरण आज मानव के वाहन हैं, यहाँ तक कि भूत शक्ति का मूल-स्रोत भी आज अणु ने समर्पित कर दिया है। वह वनस्पति और पशु जगत् का विकास कर सकता है, गर्भाशय में जीवन अणु को भी ऊर्जित करने की क्षमता उसने प्राप्त कर ली है। एक प्रकार से सम्पूर्ण दिशा काल पर उसका आधिपत्य है—

'दिशा काल के परिणय का रे मानव आज पुरोहित !'

परन्तु फिर भी आज वह सर्वाधिक दुखी और विपरण है। क्योंकि उसका अन्तर्जीवन सर्वथा उपेक्षित है—परिणामतः उसके बहिर्जीवन और अन्तर्जीवन का सामंजस्य नष्ट हो गया है—

'बहिर्चेतना जागृत जग में अन्तर्मानव निद्रित,
बाह्य परिस्थितियां जीवित, अंतर्जीवन मूर्च्छित मृत।'

जब तक यह सामंजस्य फिर से स्थापित नहीं होता, संसार की समस्या हल नहीं हो सकती। आज आवश्यकता इस बात की है कि भौतिक वैभव और आत्मिक ऐश्वर्य, विज्ञान और दर्शन के समन्वय द्वारा मानव के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा की जाय। तभी मानव जातियों और राष्ट्रों में खंडित मानवता, मानवीय एकता का साक्षात्कार कर सकेगा और तभी आज के मानव की मुक्ति संभव है। इस प्रकार राष्ट्रों और वर्गों की अनेकता में मानव-एकता की स्थापना यही कवि के अनुसार आज की विषमताओं का समाधान है। व्यक्तिगत साधनों के क्षेत्र में कवि और आगे बढ़ता है और अनेकता में एकता की यह अनुभूति भौतिक तत्वों से ऊपर उस परम तत्व तक पहुँचती है—

'अन्न प्राण मन आत्मा केवल
ज्ञान भेद हैं सत्य के परम,
इन सबमें चिर व्याप्त ईश रे,
मुक्त सच्चिदानन्द चिरन्तन।'

यह कोई नवीन दर्शन नहीं है, शास्त्रीय शब्दवली में यह भारतीय अद्वैत-वाद की पीठिका पर यूरोप के मानववाद की प्रतिष्ठा है जो आज से कुछ दिन पूर्व कवीन्द्र रवीन्द्र कर चुके थे। वैसे तो अद्वैतवाद और मानववाद दो विशिष्ट दर्शन प्रतीत होते हैं। एक पूर्व का, दूसरा पश्चिम का है, एक प्राचीन दूसरा नवीन है, इस तरह की कुछ धारणा मन में होती है। परन्तु तात्विक विश्लेषण करने पर मानववाद अद्वैतवाद का ही एक प्रोद्भास मात्र है। अद्वैतवाद का मूल आधार है अनेकता में एकता का ज्ञान, अर्थात् यह ज्ञान कि विश्व की प्रतीय-

मान अनेकता मिथ्या है, उसमें अनुस्यूत एकता (एक तत्व) ही सत्य है। एकांत व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में तो साधक उस एकता (एक तत्व) से सीधा साक्षात्कार करने के प्रयत्न में अनेकता को मिथ्या मान कर उसकी ओर से सर्वथा पराङ्मुख हो गया। परन्तु जब वह सामाजिक दृष्टिकोण लेकर साधना में अग्रसर हुआ तो उसने अनेकता (जगत्) को मिथ्या नहीं माना—वरन् इस अनेकता की धारणा को मिथ्या माना। स्थूलतः जो अनेक नाम रूप दिखाई देते हैं, वे उसी एक रूप के अनेक प्रतिबिम्ब होने के कारण उससे अभिन्न हैं। इस प्रकार जगत् में 'स्व' और 'पर' का भाव, महान और लघु का भाव, उच्च और निम्न का भाव अर्थात् किसी प्रकार के भी पार्थक्य का भाव मिथ्या है। विधाता की सृष्टि के सभी प्राणी कीरी और कुंजर समान हैं। मानव-जगत में राजा-रंक, धनी-निर्धन, ब्राह्मण और शूद्र आधुनिक शब्दावली में जाति, वर्ण, वर्ग आदि का भेद-भ्रांति है। सभी मानव समान हैं और उस परम शक्ति का प्रतिबिम्ब होने के कारण मूलतः श्रेष्ठ हैं। कबीर और उनके सहयोगी सन्तों ने इसी आध्यात्मिक मानववाद का अपने जीवन और काव्य में प्रतिपादन किया था। आधुनिक युग में कवीन्द्र रवीन्द्र ने पश्चिम की मानववादी विचार धारा से भी प्रभाव ग्रहण कर इसी को नवीन रूप में प्रस्तुत करते हुए अपने विश्व-बन्धुत्व सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

रवीन्द्र का यही विश्व-बन्धुत्व पन्त में विश्व-संस्कृति बन गया है—

'हमें विश्व संस्कृति रे, भू पर करनी आज प्रतिष्ठित,
मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव-उर कर निर्मित।'

रवीन्द्र पर जहाँ पूर्ववर्ती मानववादी दार्शनिकों का प्रभाव था, पन्त पर वहाँ परवर्ती मनोवैज्ञानिकों एवं मनोविश्लेषकों का प्रभाव है। इसीलिए उन्होंने मानव एकता की साधना के लिए आत्म-संस्कार को साधन माना है—

'मानवीय एकता जातिगत तन में करनी स्थापित,
मनःस्वर्ग की किरणों से मानव मुखश्री कर मंडित।'

यह 'मनःस्वर्ग' आत्म-संस्कार (Sublimation) का ही काव्यमय नाम है।

पन्तजी की इस जीवन-दर्शन की ओर आरम्भ से प्रवृत्ति रही है। ज्योत्स्ना जिसमें कि उन्होंने पहली बार अपने विचारों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की है, मानववाद की मंगल उद्घोषणा है। युगांत में कवि ने इसमें आध्यात्मिक रंग भरना आरम्भ किया था, परन्तु युगवाणी और ग्राम्या में मार्क्स-दर्शन के प्रभाववश उसकी चिन्तन प्रवृत्ति बहुत कुछ बहिर्मुखी हो जाने से इस विचारधारा का

स्वाभाविक विकास-क्रम टूट गया। अन्त में सन् १९४४ की अस्वस्थता ने उसे पुनः अन्तर्मुख चिन्तन पर बाध्य किया और 'स्वर्ण-धूलि' तथा 'स्वर्ण-किरण' में उपर्युक्त चिन्ताधारा अपनी सहज परिणति को प्राप्त हो गई।

प्रकृति—पन्तजी मूलतः प्रकृति के कवि हैं। उनकी काव्य चेतना के निर्माण में प्रकृति का विशेष प्रभाव है, और स्वभावतः उनके कवि व्यक्तित्व के विकास के साथ साथ प्रकृति के प्रति उनके दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होता रहा है। 'स्वर्ण-किरण' में जीवन की भाँति प्रकृति के प्रति भी कवि की चेतना में एक सहज सात्विक भावना का समावेश होगया है। ऐन्द्रिय उपभोग की भावना जो पन्तजी में पहले भी अत्यन्त संयमित थी, इन रचनाओं में प्रायः निःशेष हो चुकी है और कल्पना के स्थान पर अनुभूति और चिंतन का प्रभुत्व हो गया है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन नवीन प्रकृति-चित्रों में रूप रङ्गों का वैभव अब नहीं रहा—वास्तव में रूप रंग का इतना प्राचुर्य पहली किसी कृति में नहीं मिलता। पल्लव, गुञ्जन, ज्योत्स्ना आदि के रंग इनमें आकर एक ओर पक्के और दूसरी ओर अत्यधिक सूक्ष्म तरल हो गये हैं, साथ ही उनकी विविधता और वैचित्र्य में भी वृद्धि हुई है। परन्तु इस वैभव और वैचित्र्य में एक निर्मल सात्विक उल्लास है जो इन्द्रियों के मांसल उपभोग की अभिव्यक्ति न होकर आत्मा की विशदता का प्रकाशन है। कैशोर्य-सुलभ विस्मय और यौवन-सुलभ उपभोग का स्थान अब प्रौढ़ि के संयत-गम्भीर आनन्द ने ले लिया है :—

> *'भूतों की चिर पावनता में*
> *हृदय सहज करता अवगाहन।'*

यह उसे चिन्तन की ओर प्रेरित करता है—

> *'निभृत स्पर्श पाकर निसर्ग का।*
> *आत्मा गोपन करती चिन्तन।'*

सामाजिक चेतना—तीसरा वर्ग सामाजिक कविताओं का है। इनकी सामाजिक चेतना का आधार वही आत्म-परक मानववाद है जिसका विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है।

इस समाज-दर्शन में जीवन के आन्तरिक तत्व-गत (Essential) मूल्यों का ही महत्व है, बाह्य औपचारिक मूल्यों का नहीं। सदाचार, देश-प्रेम, सामाजिक प्रगति, राजनीतिक उत्कर्ष आदि का मूल्याङ्कन भौतिक उपकरणों द्वारा नहीं, वरन् मानसिक एवं आत्मिक उपकरणों के द्वारा ही किया जा सकता है।

सदाचार—'पतिता' कविता में जब कि—

'क्रूर लुटेरे हत्यारे कर गये,
बहू को नीच कलङ्कित ।
और, फूटा करम, धरम भी लूटा
शीश हिला रोते सब परिजन,
हा अभागिनी! हा कलङ्किनी!
खिसक रहे गा-गा कर पुरजन !'

तो बहू का पति केशव उसको सस्नेह ग्रहण करता हुआ कहता है—

'मन से होते मनुज कलङ्कित
रज की देह सदा से कलुषित
प्रेम पतित पावन है, तुमको
रहने दूँगा मैं न कलङ्कित !'

इसी प्रकार 'परकीया' में, पातिव्रत की व्याख्या करता हुआ कवि कहता है—

'पति-पत्नी का सदाचार भी
नहीं मात्र परिणय से पावन,
काम निरत यदि दम्पति जीवन,
भोग मात्र का परिणय साधन ।
पंकिल जीवन में पंकज सी
शोभित आप देह से ऊपर,
वही सत्य जो आप हृदय से,
शेष शून्य जग का आडम्बर ।'

आप देखें कि इन दोनों उद्धरणों का सारांश बिल्कुल एक है—

'मन से होते मनुज कलङ्कित
रज की देह सदा से कलुषित ।'

और

'वही सत्य, जो आप हृदय से ।'

सामाजिक उत्कर्ष—इसी प्रकार सामाजिक उत्कर्ष के लिये भौतिक विभव की अपेक्षा मानव गुणों का उत्कर्ष ही अधिक अभिप्रेत है । और मानव गुणों के उत्कर्ष का मूलाधार है मनोस्वास्थ्य, जिसमें सामाजिक भोग और त्याग, अनुराग और विराग का पूर्ण संतुलन हो, जिससे सामाजिक एवं लैंगिक द्विधा

की चेतना न हो। और इस मनोस्वास्थ्य का साधन है आत्म-संस्कार, जिसके लिये प्रीति-मूलक सृजनात्मक भावनाओं का सम्वर्द्धन आवश्यक है—

'रति और विरति के पुलिनों में बहती जीवन रस की धारा
रति से रस लोगे और विरति से रस का मूल्य चुकाओगे।
नारी में फिर साकार हो रही नव्य चेतना जीवन की
तुम त्याग भोग को सृजन भावना में फिर नवल डुबाओगे।'

राजनीतिक उत्कर्ष—इसी प्रकार भारत के मुक्ति-दिवस १५ अगस्त का स्तवन करता हुआ कवि मुख्यतः उसके भौतिक उत्कर्ष की नहीं वरन् उसके आत्मिक ऐश्वर्य की मंगल कामना करता है:—

'नव जीवन का वैभव जाग्रत हो जन गण में
आत्मा का ऐश्वर्य अवतरित मानव मन में।
रक्त सिक्त धरणी का हो दुःस्वप्न समापन
शांत प्रीत सुख का भू स्वर्ग उठे सुर-मोहन।।'

उसकी राष्ट्रीयता अथवा देश-भक्ति संकुचित नहीं है, भारत मात्र का कल्याण उसका ध्येय नहीं है। वह भारत के हित को विश्व-हित के साथ एक करके देखता है। भारत की दासता उसकी अपनी दासता नहीं थी, वह सारी पृथ्वी की नैतिक दासता थी। इसी तरह उसकी मुक्ति एक देश मात्र की मुक्ति नहीं है। वह विश्व जीवन की मुक्ति है, क्योंकि उसे विश्वास है कि अपनी महान् सांस्कृतिक परम्पराओं से समृद्ध भारत एक नवीन सांस्कृतिक आलोक का वितरण करेगा। इस प्रसंग में मुझे अचानक ही प्रधान मंत्री के अनेक वक्तव्यों का स्मरण हो आता है। उनमें प्रायः सभी में इस बात पर बल दिया जाता है कि भारत का कल्याण विश्व कल्याण के साथ ग्रथित है। वह संकुचित राष्ट्रीयता के मोह में पड़ कर विश्वादर्शों के लिये ही सतत् प्रयत्नवान रहेगा।

"मैंने भारत के हितों का ध्यान रखा है, क्यों कि स्वभावतः ही यह मेरा प्रथम कर्त्तव्य था। मैंने सदैव भारत के हित को विश्व के हित का ही एक अंग माना है। हमारे गुरु महात्मा गांधी ने हमें यही शिक्षा दी है। उन्होंने हमें भारत के स्वातंत्र्य और गौरव की रक्षा करते हुए दूसरों के साथ शांति और मित्र-भाव से रहने का उपदेश दिया है। आज संसार में स्थान स्थान पर संघर्ष और द्वेष फैला हुआ है और सामने विनाश दिखाई दे रहा है, इसलिये हमें ऐसे प्रत्येक कार्य का जिससे यह द्वन्द्व कम हो, स्वागत करना चाहिये।"

दोनों के आदर्शों में कितना निकट साम्य है, और यह केवल संयोग नहीं है। सदा से ही, साहित्य इस प्रकार, अपने एकांत-कक्ष से राजनीति को स्वप्न और आदर्श देता रहता है, इसीलिये तो कवियों को विश्व के जन्मना नियामक कहा गया है।

अतीत प्रेम:—इस युग की काव्य-चेतना की एक प्रमुख प्रवृत्ति है अतीत के प्रति आकर्षण। हमारे प्रमुख कवियों में यह प्रवृत्ति सब से अधिक प्रखर थी प्रसाद में। पन्त को आरम्भ से ही अतीत की अपेक्षा भविष्य के प्रति अधिक आकर्षण रहा है। वे सदैव से भविष्य के स्वप्नद्रष्टा कवि रहे हैं। इन नवीन कविताओं में पहली बार सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना मिलती है। कवि पहली बार अपनी प्राचीन अध्यात्म-पूत संस्कृति, वेद, उपनिषद्, सीता, लक्ष्मण आदि की ओर श्रद्धा और सम्भ्रम से आकृष्ट हुआ है। युगवाणी और ग्राम्या आदि में प्राचीन के प्रति एक वैज्ञानिक ऐतिहासिक अध्ययन का भाव था परन्तु इन कविताओं में आस्तिक प्रश्रय-भाव भी मिलता है। 'स्वर्ण-धूलि' के आर्षवाणी कविता-संग्रह में वैदिक ऋचाओं का भव्य अनुवाद है। इन कविताओं द्वारा कवि आज के मृत-श्रस्त जीवन में शांति का संचार करने के लिये मानों भारत की पूत-पावनी संस्कृति की आत्मा का आवाहन करता है—

'शांति शांति दे हमें शांति हो व्यापक उज्ज्वल,
शांति धाम यह धरा बने, हो फिर जन मंगल।'

बहुत सी कविताओं में उपनिषद् मंत्रों के प्रेरणा-तन्तु विद्यमान हैं। कहीं उपनिषद् के द्वासुपर्णा आदि रूपकों को ग्रहण किया गया है और कहीं उसके आर्ष-वचनों को उद्धृत किया गया है। 'स्वर्ण-किरण' में 'अशोकवन' नाम का एक स्वगत-काव्य वैदेही की मनोगाथा का अध्यात्म-परक विश्लेषण-चित्रण करता है—

'नित सत् राम, शक्ति चित् सीता,
अखिल सृष्टि आनन्द प्रणीता
प्रकृति शिला सी उठे शक्ति चित्
उतरे, निखिल जगत में शिक्षा।'

इसी प्रकार भारत के समृद्ध साहित्य मेघदूत, कुमार संभव, आदि के शतरंग कल्पना-चित्र भी इन कविताओं में स्थान स्थान पर मणियों की भांति जड़े हुए हैं:—

'संभव, युग तुम्हारे गेही
किन्नर मिथुनों से हों पुलकित,

छाया-निभृत गुहाएँ उन्माद
रति की सौरभ से समुच्छ्वसित।'

❀ ❀ ❀

'अब भी ऊषा वहाँ दीखती
वधू उमा के मुख सी लज्जित
बढ़ती चन्द्रकला भी, गिरिजा सी
ही गिरि के क्रोड़ में उदित।'

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, आधुनिक युग के विधायक कवियों में पंत को पुरातन के प्रति सब से कम मोह रहा है। इसका कारण यह है कि उन पर पाश्चात्य शिक्षा सभ्यता का प्रभाव अपने अन्य सहयोगियों की अपेक्षा अधिक है। उनका रहन-सहन अब तक बहुत कुछ पश्चिमी ढंग का रहा है। कालिदास और भवभूति की अपेक्षा उन्होंने शेली, कीट्स, और टेनिसन से अधिक काव्य प्रेरणा प्राप्त की है और उपनिषद् और षड्दर्शन की अपेक्षा हीगेल और मार्क्स का उनकी विचार धारा पर अधिक प्रभाव पड़ा है। प्रसाद, निराला और महादेवी जब भारतीय दर्शन और साहित्य के द्वारा अपने व्यक्तित्व का संवर्द्धन-संस्कार करते थे, उस समय पन्त को हीगेल और मार्क्स का अध्ययन अधिक अनुकूल पड़ता था। 'स्वर्ण-धूलि' की एक कविता 'ग्रामीण' में पन्त ने अपने प्रति अभारतीयता के आक्षेप का उत्तर देने का प्रयत्न किया है:—

'भारतीय ही नहीं बल्कि मैं
हूँ ग्रामीण हृदय के भीतर।'

फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि इस युग के वयः प्राप्त कवियों के देखे पन्त के व्यक्तित्व में भारतीयता का अंश अपेक्षाकृत सब से कम रहा है। परन्तु अब जीवन की प्रौढ़ि पर पहुँच कर वे सप्रश्रय भारतीय संस्कृति के अतीत गौरव की ओर आकृष्ट हुए हैं और यह शुभ लक्षण है। इससे उनके कला-वैभव में स्थैर्य आयेगा।

काव्य-गुण:—विचार सामग्री (Thought-content) का परीक्षण कर लेने के उपरान्त दूसरा और महत्तर प्रश्न है काव्य-गुण का। और काव्य के मूल्याङ्कन में उसी का सर्वाधिक महत्व है। क्योंकि जहाँ तक उपर्युक्त सैद्धान्तिक सामग्री का सम्बन्ध है मेरी धारणा है कि उसके लिये गद्य भी सफल माध्यम हो सकता है, और दूसरे उसमें कोई विशेष मौलिकता भी नहीं है। उसका अध्ययन तो कवि के व्यक्तित्व-विकास के अध्ययन के लिये आवश्यक था और कवि-मानस का साक्षात्कार करने के निमित्त ही हमने उसका विवेचन भी किया।

पन्त की नवीन कविता का मूल्य आँकने के लिये उनका काव्य-गुण ही परखना होगा। अर्थात् यह देखना होगा कि उनमें चित्त को चमत्कृत करने की कितनी क्षमता है, और दूसरे शब्दों में इन कविताओं का मन पर कहाँ तक प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव का स्वरूप क्या है। उसमें सूक्ष्म परिष्कार है अथवा मन्थनकारी तीव्रता, या प्राणों को उद्वेलित करने वाली शक्ति, या फिर कल्पना को समृद्ध एवं विचार-चिन्तन को प्रेरित करने की क्षमता। इस दृष्टि से विचार करने पर हमारे सामने सबसे पहले 'स्वर्ण-धूलि' की मर्मकथा, प्रणय कुञ्ज, शरद चाँदनी, मर्म व्यथा, स्वप्न-बन्धन, स्वप्न देही, प्राणाकांक्षा, रस-स्रवण आदि कविताएँ आती हैं। ये सभी कविताएँ शुद्ध गीति काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं और रस-व्यञ्जना की दृष्टि से इन संग्रहों की मधुरतम कृतियाँ हैं। इनमें आत्म-रस से भीगी ऐन्द्रियता के कर्दम से मुक्त एक शान्त स्निग्धता मिलती है। ये कविताएँ परिष्कृत आत्मानुभूति की सहज उद्गीतियाँ हैं। सहजता का काव्य-गुण, जो गीति-कविता का मूल तत्व है, वास्तव में इन्हीं कविताओं में मिलता है—शेष कविताओं में (भिन्न प्रकार का महत्व होते हुए भी) चिन्तन, विचार और कल्पना की जकड़ बन्दी होने के कारण आत्म-द्रव के तारल्य का अभाव है। परन्तु इन कविताओं का सार-तत्व यह आत्म-द्रव ही है। इस आत्म-द्रव का विश्लेषण एक स्थान पर कवि ने स्वयं किया है:—

'यह विदेह प्राणों का बन्धन,
अन्तर्ज्वाला में तपता मन
मुग्ध हृदय सौन्दर्य ज्योति को
दग्ध कामना करता अर्पण।'

अर्थात् इस आत्म-द्रव के उपादान तत्व हैं सौन्दर्य-मोह, देह की वासना से मुक्त एक हलकी-सी दग्ध-काम प्रीति, और इन दोनों के ऊपर सूक्ष्म जाली की तरह पुरी हुई कोमल अन्तर्व्यथा।

कुछ उदाहरण लीजिए:—

१. प्राणों में चिर व्यथा बाँध दी
क्यों चिर-दग्ध हृदय को तुमने
वृथा प्रणय की अमर साध दी।

पर्वत को जल दारु को अनल,
वारिद को दी विद्युत चञ्चल
फूल को सुरभि, सुरभि को विकल
उड़ने की इच्छा अबाध दी॥

२. बाँध लिया तुमने प्राणों को फूलों के बन्धन में
एक मधुर जीवित आभा सी लिपट गई तुम मन में।
बाँध लिया तुमने मुझको स्वप्नों के आलिंगन में।

कुछ प्रकृति-कविताएँ भी इस प्रकार के आत्म-स्पर्शों से गुदगुदा उठी हैं:—

'मानदण्ड भू के अखण्ड हे,
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण,
प्रिय हिमाद्रि तुमको हिम कण से,
घेरे मेरे जीवन के क्षण।
मुझ अंचल-वासी को तुम ने
शैशव में आशी दी पावन;
नभ में नयनों को खो, तब से,
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन।'

इनके अतिरिक्त अन्य कविताओं में हार्दिक तत्व की न्यूनता है, परन्तु फिर भी कुछ कविताओं का महत्व असंदिग्ध है। यह महत्व गम्भीर चिन्तन, प्रौढ़ विचार और ऐश्वर्यमती कल्पना पर आश्रित है। इस प्रकार की कविताओं में सर्वश्रेष्ठ है 'स्वर्णोदय' जो इन नवीन संग्रहों की सब से महान रचना है, और पन्त की गुरुतम कृतियों में से है। इसमें मानव की जीवन यात्रा; जन्म, शैशव, प्रौढ़ि-वार्धक्य और देहांत का गम्भीर मनोवैज्ञानिक दार्शनिक एवं काव्यमय विवेचन है। परिस्थितियों की अनेकरूपता के कारण इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और कवि ने जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं का यथार्थ चित्रण कर अपनी परिपक्व प्रतिभा का परिचय दिया है। वास्तव में इस कविता में एक प्रकार की महाकाव्य-गरिमा है। इसके अतिरिक्त हिमाद्रि, हिमाद्रि और समुद्र, इन्द्रधनुष, द्वासुपर्णा, अशोक-वन और उधर सामञ्जस्य, आँधी गुच्छ आदि कविताएँ महत्व-पूर्ण हैं।

प्रभाव का स्वरूप और प्रेरणा:—दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि इन कविताओं के प्रभाव का स्वरूप क्या है? और प्रभाव-विश्लेषण के लिये हमें उनकी मूल प्रेरणा का अनुसन्धान करना होगा। अस्तु! स्पष्टतः ही ये कविताएँ रसवादी नहीं हैं। अर्थात् ये हमारे हृदय में वासना रूप से स्थित प्रेम, उत्साह, शोक, विस्मय, भय आदि स्थायी अथवा उनके सहकारी भावों को प्रत्यक्ष रूप से आन्दोलित करती हुई हमारे चित्त में तीव्र संवेदनमय आनन्द की सृष्टि नहीं करतीं। उधर उनका प्रभाव एकान्त बौद्धिक भी नहीं है जैसा कि प्राचीन आलङ्कारिक काव्य का, जो गणनात्मक कल्पना को उत्तेजित करता है, अथवा

विदेश की नवीन बुद्धिवादी कविता का जो विचार को झकझोरती है। इसके साथ ही प्राचीन दार्शनिक कविताओं का प्रभाव भी इनसे भिन्न होता है। जैसा कि अन्यत्र कहा गया है इन कविताओं के उपादान तत्व तीन हैं। लोक-कल्याण-मय दार्शनिक चिन्तन, उज्ज्वल रंगीन कल्पना और मधुर सौन्दर्य भावना। अतएव इनका प्रभाव भी तदनुकूल होगा। इनमें से पहले तत्व का प्रभाव एक प्रकार की बौद्धिक शान्ति और दूसरे का विस्मय और तीसरे का एक प्रकार की स्निग्ध माधुरी होता है, और ये तीनों मिल कर एक मधुर बौद्धिक शान्ति को जन्म देते हैं। मैंने यहाँ बौद्धिक शान्ति शब्द का प्रयोग जानबूझ कर इस आशय से किया है कि यह शान्ति आध्यात्मिक शान्ति से भिन्न है। आध्यात्मिक शान्ति का अर्थ है शुद्ध आत्मानुभूति की स्थिति। और इन कविताओं के आस्वादन में बौद्धिक चेतना का सर्वथा लोप नहीं होता। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि बौद्धिक शान्ति से क्या अभिप्राय है? बौद्धिक शान्ति से मेरा अभिप्राय उस शान्ति से है जो बौद्धिक विश्वास के ग्रहण से प्राप्त होती है—दूसरे शब्दों में यह कहिये कि आध्यात्मिक विश्वासों को बुद्धि द्वारा ग्रहण कर लेने से प्राप्त होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शान्ति वास्तविक एवं पूर्ण शान्ति नहीं है आंशिक और एक प्रकार का शान्त्याभास है। परन्तु यह इन कविताओं का दोष नहीं है, यह तो आज के बुद्धि-प्राण मानव जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना है। वह इससे आगे बढ़ने में असमर्थ है, क्योंकि वह बुद्धि को वश में नहीं कर सकता और जब तक बुद्धि की विजय रहेगी सच्ची आध्यात्मिक शान्ति की अनुभूति सम्भव नहीं है। और फिर पन्त जैसे व्यक्ति के लिये तो यह और भी दुर्लभ है क्योंकि पन्त के व्यक्तित्व का दुर्बलतम अंग है उनकी अनुभूति। पन्त ने जीवन का भोग कम किया है और अवलोकन अधिक। यहाँ मुझे गुञ्जन की वे पंक्तियाँ फिर याद आ जाती हैं:—

'सुनता हूँ उस निस्तल जल में
रहती मछली मोती-वाली,
पर मुझे डूबने का भय है,
भाती तट की चल जल-माली।'

यह पन्त की कदाचित् अचेतन स्वीकारोक्ति है।

निस्तल जल गहन गम्भीर विश्व जीवन है, मोती वाली मछली है जीवन का सत्य। जीवन के सत्य को पाने के लिए जीवन में डूबना अनिवार्य है। परन्तु पन्त जी यह नहीं कर पाये। वे तो तट पर बैठे हुए, वीचिमाला अर्थात् जीवन और जगत के मनोरम रूपों का अवलोकन करते रहे हैं। आरम्भ में उनके दृष्टिकोण में विस्मय और मोह था जो मन को गुदगुदाता और कल्पना

को उत्तेजित करता था, अब उसमें चिन्तन और विचार का मिश्रण हो गया है। परन्तु उस जीवन-सत्य को प्राप्त करने के लिये तो प्रबल अनुभूति, रागपूर्ण राग द्वेषमय जीवन (Passionate living) अपेक्षित है। किन्तु पन्त जी के व्यक्तित्व का यह अंग सदा दुर्बल रहा है, इसीलिये उनके काव्य में प्राण रस की क्षीणता है जिसकी उन्होंने समृद्ध कल्पना, गम्भीर विचार और सूक्ष्म चिन्तन द्वारा बहुत कुछ क्षतिपूर्ति करने का प्रयत्न किया है। परन्तु क्या प्राण रस की क्षति-पूर्ति सम्भव है ?

कला—कला का प्रयोग यहाँ मैं काव्य शिल्प के अर्थ में कर रहा हूँ। शिल्प बहुत कुछ साधना की वस्तु है। उसके लिए परिष्कृत रुचि के अतिरिक्त कल्पना की समृद्धि और प्रयत्न साधन अपेक्षित होता है। पन्त में ये तीनों गुण प्रभूत मात्रा में हैं, अतएव उनकी कला सदैव विकासशील रही है और 'स्वर्ण-किरण' में वह अपनी चरम प्रौढ़ि पर पहुँच गई है। यह प्रौढ़ि तीन दिशाओं में लक्षित होती है। काव्य सामग्री की समृद्धि, परिष्कार और विस्तार, प्रयोग-कौशल की सूक्ष्मता और अभिव्यक्ति की परिपक्वता। 'स्वर्ण-किरण' में पन्त ने अत्यन्त समृद्ध काव्य सामग्री का प्रयोग किया है। अनेक कविताओं का कलेवर रूप-रंग के ऐश्वर्य से जगमगा रहा है।

'कलरव, स्वप्नातप, सुरधनु-पट,
शशि मुख, हिमस्मित, गात्र लें श्वसित
षड्ऋतु देती थी परिक्रमा,
अप्सरियों-सी सुरपति-प्रेषित !
शरद चन्द्रिका हो जाती थी
स्वप्नों के शृंगों पर विजड़ित
हिम की परियों का अञ्चल उड़
जग को कर लेता था परिवृत !'

× × ×

'चूम विकच नलिनी-उर गूँजे गीत पंख मधुकर दल,
नृत्य तरंगित बहे स्रोत, ज्यों मुखरित भू-पग पायल।
विहँसे हिम-कण किरण-गर्भ, स्वर्गिक जीवन के संक्षण,
खोल तृणों के पुलक पंख उड़ने को भू-रज के कण !'

उपर्युक्त छन्दों में चन्द्रमा और चाँदनी की अपार चाँदी, किरणों और आतप का राशि-राशि सोना और प्रकाश, सुरधनु के मणि-माणिक, हिमानी का रेशम, स्वप्नों की पलपल परिवर्तित छाया—प्रकाश की आँखमिचौनी और गीत, नृत्य पायल का प्रभूत ऐश्वर्य बिखरा हुआ है। पन्त का प्राकृतिक वैभव पर तो

पूर्ण अधिकार रहा ही है, प्रकृति के रम्य रूप आकाश, चन्द्र, सूर्य, तारागण; आतप, चाँदनी, इन्द्रधनुष, असंख्य फूल-पत्ती, पत्ती, वृक्ष और लताएँ, पर्वत, नदी, निर्झर और सागर, सोना, चाँदी, मणि-माणिक्य सभी अपने रूप-रंगों का वैभव लिए कवि कल्पना के संकेतों के साथ नाचते हैं।

'स्वर्ण-किरण' में यह क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है, और रूप-रंग के रोमानी उपकरणों के अतिरिक्त यहाँ आध्यात्मिक जीवन के मांगलिक उपकरणों—उदाहरण के लिये मन्दिर, कलश, दीपशिखा, यज्ञ-धूम, हवि, नीरांजन, रजत-घंटियाँ, अभिषेक, कपूर, चन्दन, गंगाजल, अमृत आदि—का भी यथेष्ट प्रयोग है।

'चन्द्रातप-सी स्निग्ध नीलिमा
यज्ञ-धूम सी छाई ऊपर।
दीपशिखा सी जगे चेतना
मिट्टी के दीपक से उठ कर।
आज समस्त विश्व मन्दिर-सा
लगता एक अखण्ड चिरन्तन।
सुख दुख जन्म-मरण नीराजन
करते, कहीं नहीं परिवर्तन।'

'स्वर्ण-धूलि' की कुछ कविताओं में नित्य प्रति के भौतिक जीवन के साधारण उपकरणों का भी उपयोग हुआ है। परन्तु वे इस काल-खण्ड की प्रतिनिधि रचनाएँ नहीं हैं। ग्राम्या और युगवाणी की नैत्यिक जीवन की स्थूल सामग्री की ओर से विमुख होकर कवि फिर अपने चिर-परिचित रोमानी क्षेत्र में लौट आया है, जिस पर अब उसका अधिकार और भी व्यापक हो गया है। छायावादी कवियों में सबसे सीमित क्षेत्र सुश्री महादेवी वर्मा का है—उन्होंने एक ओर तो प्रकृति के बस थोड़े से सांध्यकालीन उपकरणों को ग्रहण किया है, और दूसरी ओर पूजा की सामग्री को। अतएव उनके प्रतीकों और चित्रों में प्रायः पुनरावृत्ति मिलती है। पन्त का क्षेत्र अपेक्षाकृत कहीं अधिक विस्तृत है। यह सत्य है कि उन्होंने भी केवल मनोरम रूपों को ही ग्रहण किया है, प्रसाद और निराला की भाँति विराट और अनगढ़ रूपों को नहीं, परन्तु उन्होंने इस क्षति की पूर्ति अपनी सामग्री के सूक्ष्म, नियोजन द्वारा कर ली है। वास्तव में चयन और नियोजन की इतनी सूक्ष्मता, रूप और रंग का इतना बारीक मिश्रण अन्यत्र नहीं मिलता:—

'स्वर्ण-रजत के पत्रों की रत्नच्छाया में सुन्दर
रजत-पंखियों सा, सुवर्ण-किरणों का झरता निर्झर
सिहर इन्द्रधनुषी लहरों में इन्द्र-नीलिमा का सर
चकित मोतियों के पांति-उज्ज्वल फेनों से आता भर।

'शशि किरणों के नग के नीचे, उर के सुख से चंचल,
तुहिनों का छाया वन नित, कँपता रहता तारोज्ज्वल'

उपर्युक्त पंक्तियों में आप देखिए कि सौन्दर्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुओं के प्रति पन्त का ऐन्द्रिय संवेदन कितना सचेत और तीव्र है।

इन रचनाओं में कवि की अभिव्यक्ति भी स्वभावतः अत्यन्त परिपक्व और प्रौढ़ हो गई है। उनकी भाषा में सौन्दर्य के सूक्ष्म-तरल संवेदनों को अभिव्यक्त करने की शक्ति आरम्भ से ही रही है। ज्योत्स्ना और युगांत में आकर उसमें गम्भीर सामाजिक, दार्शनिक तत्वों को व्यक्त करने की क्षमता भी आ गई थी। युगवाणी और ग्राम्या में अभिव्यक्ति में जनसाधारण के नैत्यिक जीवन की सरलता और ऋजुता लाने का प्रयत्न किया गया है जो स्वर्ण-धूलि की अनेक सामाजिक कविताओं में चलता रहा।

'फूटा करम, धरम भी लूटा।
शीश हिला रोते सब परिजन
हा अभागिनी, हा कलंकिनी
खिसक रहे गा गा कर पुरजन।'

अथवा

'सूट बूट में सजे भजे तुम
डाल गले फाँसी का फंदा,
तुम्हें कहें जो भारतीय, वह
है दो आँखों वाला अन्धा।'

परन्तु 'स्वर्ण-किरण' की कविताओं में, इधर, 'स्वर्ण-धूलि' के वैदिक ऋचाओं के अनुवादों में कवि ने गहन आध्यात्मिक तथ्यों को व्यक्त करने की एक नवीन शक्ति का उपार्जन किया है। इस नवीन शक्ति का रहस्य है प्रसंगानुकूल आर्ष शब्दावली का प्रयोग—

'ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व समन्वय
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।
आज जगत में उभय रूप तम में गिरने वाले जन
ज्योति-केतु ऋषि दृष्टि करे उन दोनों का संचालन।
श्रवण गगन में गूँज रहे स्वर
ॐक्रतो स्मर कृतं क्रतो स्मर।
सृजन हुताशन की हवि भास्वर
बनी पुनः जीवन रज नश्वर!!'

डॉक्टर रामविलास शर्मा

'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि'

महान् से महान् कलाकार की कला विवाद का विषय रही है। आलोचकों ने समय-समय पर अपने विभिन्न दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करके उनके कृतित्व को आँका है। कवि पंत का मानव-पक्ष अत्यन्त विकसित होते हुए भी, मन सौंदर्यग्राही और जीवन के वैचित्र्य में झाँकने का चिर-अभ्यस्त रहा है। 'युगवाणी', 'ग्राम्या' में कवि की अनुभूति अधिक जाग्रत है, उसकी भावना का परिष्कार हुआ है और और चिंतन-प्रवृत्ति भी विकासोन्मुख है, तथापि जीवन के स्थूल पहलू और मार्क्सवाद का भौतिक-संघर्ष उसके अवचेतन मन का विषय नहीं। जीवन-समष्टि में झाँक कर भी जैसे उसकी कोमल वृत्तियाँ भीतर रम नहीं पाईं, अतएव वर्ग-युद्ध और क्रान्ति के समर्थक मार्क्सवादियों को पंत से सदैव शिकायत ही बनी रहेगी। यों हम प्रस्तुत आलोचना से सहमत नहीं हैं, तथापि मार्क्सवादी विचारधारा के प्रमुख समीक्षक डॉक्टर रामविलास शर्मा की कचोटती, विस्फोटक शैली, एकांगी होते हुए भी, एक विशिष्ट चिन्ताधारा की पोषक है, जो पाठकों का अनुरंजन करेगी—ऐसी आशा है।

प्रगतिशील आलोचकों पर यह दोष लगाया जाता है कि वे कला की उपेक्षा करते हैं और साहित्य को केवल समाज शासन की कसौटी पर परखने की कोशिश करते हैं। पन्तजी जैसे कला-प्रेमी और कुशल शब्द-शिल्पी के साथ ऐसी गलती करना अक्षम्य अपराध होगा। पन्तजी यदि शब्द-शिल्पी नहीं तो कुछ नहीं और उनपर लिखी गई आलोचना अगर उनके शब्द-शिल्प से ही शुरू नहीं होती तो वह आलोचना कहलाने की हक़दार नहीं।

सवाल सिर्फ यह है कि कहाँ से शुरू किया जाय।

सबसे पहले उस शब्द को लीजिए जो इन दोनों पुस्तकों में इतनी बार आया है जितने इनमें पन्ने हैं। दरअसल यह शब्द औसतन हर पन्ने में दो बार आता है, इसलिए १८८ और १७७ पन्नों के जोड़ को दुगना करने से आपको कुछ सही अन्दाज़ हो सकेगा।

यह शब्द ऐसे काम का है कि जहाँ लाइन छोटी पड़ती हो, बड़ी पड़ती हो, घटती हो, बढ़ती हो, ओजपूर्ण ज्यादा हो गयी हो या ओजहीन हो गयी हो, दो अक्षरों—और वह भी दो लघु अक्षरों के इस शब्द को बिठा दीजिये, बस काम बन जायगा। काव्य का नया-नया अभ्यास करने वालों के लिए तो यह शब्द रामबाण है।

यह शब्द छायावाद का चिर-परिचित, पन्तजी का चिर-प्रिय शब्द 'चिर' है। इसके प्रयोग की कुछ गिनी-चुनी मिसालें देना ही यहाँ संभव होगा—

'चिर अधखुले उरोजों पर जलते थे उडुगण'

(स्व० कि० पृ० ५८)।

इस पंक्ति में 'चिर' शब्द न रखने से यह खतरा था कि आँचल सरकने से उडुगण उड़ जायँगे!

'योग्य नहीं कुछ भेंट; आप चिर मैथिलीशरण'

(स्व० कि० पृ० १४६)

'योग्य भेंट' न होने पर कवि ने अपना परम प्रिय शब्द 'चिर' भेंट करके

उनका परम सम्मान किया है। अब अगर मैथिलीशरणजी के आराध्यदेव राजा रामचन्द्र को भेंट चढ़ाना हो, तो किस गोंद से काम लिया जाय? देखिये—

'राम नाम प्रभु से भी बढ़कर
बना आज जनमन का ईश्वर,
अखिल सृष्टि का सार तत्त्व यह,
स्वर्ग मुक्ति सोपान चिर अमर!

अमर के मरने का कोई खतरा था, तो पन्तजी ने चिर का सहारा देकर अमर को चिर अमर बना दिया है। इसमें कोई दोष भी नहीं। गोस्वामी तुलसीदास सीताजी के लिए कह गये हैं—'सुन्दरता कहँ सुन्दर करई'।

तब फिर पंतजी 'अमर' को 'चिर अमर' क्यों नहीं कर सकते। नीचे की पंक्ति को सदोष भले माना जा सकता है—

'कुंभकर्ण-सी दानव निद्रा
सोने को चिर गई ज्यों उचट!'

इस तरह के प्रयोगों को भारतीय शास्त्रकारों ने अपप्रयोग कहा है और हम भारतीय के साथ हैं।

'देवों के हैं ईश चिर शरण' (स्व० कि० पृ० १५०)

—इस पंक्ति में मैथिली शब्द का छूट जाना कुछ अखरता है। पर्यायवाचियों के साथ यह शब्द खूब जमकर बैठता है—

'जो अनन्त अक्षय चिर कारण' (स्व० कि० पृ० १३४)
'जो ध्रुव राम अमर चिर अक्षर' (ऊपर के पृष्ठ पर)

राम के साथ ऐसे हजार विशेषण आ जायँ तो सहस्र नाम का पाठ ही होगा; धर्म की विजय से काव्य की पराजय सँभल जायगी।

इसीसे मिलता-जुलता एक और शब्द है जो एक मात्रा बड़ा होने पर भी पंक्तियों में बड़ी नाटकीयता उत्पन्न करता है। भूत और भविष्य को वह वर्तमान से बाँध देता है; परोक्ष को प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष को परोक्ष भी कर देता है। प्राकृत जनों का बिगाड़ा हुआ यह 'अद्य' का चिरप्रचलित तद्भवरूप 'आज' है।

'चिर' शब्द रहस्यवादी है तो 'आज' यथार्थवादी है। 'चिर' आज-कल-परसों के फेर से छुड़ाकर शाश्वतवाद की ओर ले जाता है, तो 'आज' प्रत्येक क्रिया के समय का हिसाब देकर आपको रोजनामचे के यथार्थवाद की ओर ले जाता है। कुछ नमूने देखिये—

'आज चेतना के प्लावन-सा
निखर रहा रजतातप सुन्दर' (स्व० कि० पृ० ५)।

पुनः इसी कविता में—

'आज सत्य की वेला बहती
स्वप्नों के पुलिनों के ऊपर !'

एक ही दिन में दो काम हुए,—सपनों पर सत्य बहा और चेतना जैसी धूप भी खिली। इससे साबित है कि पहली दो लाइनें दिन में लिखी गई थीं और बाद वाली दोनों रात में।

दूसरे दिन धूप और सपने दोनों गायब हो गये। नयी चेतना के अणु-विस्फोट से मानों हीरोशिमा नगर तबाह हो गया हो; पन्त जी लिखते हैं :—

'आज जीवनोदधि के तट पर
खड़ा अवाञ्छित, क्षुब्ध, उपेक्षित, (उप० पृ० १४)।

अवाञ्छित और उपेक्षित होने की बात पाठकों को और कई पन्नों में भी दर्ज मिलेगी। प्रकाश के साथ छाया की तरह यह उपेक्षित का भाव स्वर्ण किरणों की चेतना का सदा अनुकरण करता है।

अगली कविता में ऊपर वाले जीवनोदधि का रूप बदल गया है। इसलिए—

'आज उदधि के नीलांचल में बंधे निखिल देशान्तर'
(उप० पृ० १७)।

और भी—

'आज तड़ित् के पद नूपुर में ध्वनित विश्व संभाषण'।

पुनः—

'आज वनस्पति पशु जग को कर सकता मानव वर्धित'।

पुनः पुनः—

'दिशाकाल के परिणय का रे मानव आज पुरोहित' !

ये सब घटनाएँ एक ही पन्ने पर हुई हैं (पृ० १७ पर), इसलिये इस दिन को पंत जी के कवि-जीवन का 'रेडलैटर डे' कहना चाहिये। फिर भी कुछ काम बाकी रह गये थे—

'हमें विश्व संस्कृति रे भूपर करनी आज प्रतिष्ठित'
(पृ० १९)।

दिशा-काल के परिणय में विश्व-संस्कृति छूट गयी थी; उसकी प्रतिष्ठा के लिए [illegible] —और यह आवश्यक कि आज ही उसे प्रतिष्ठित करना है—पंत जी ने अपने विश्व-संस्कृति-प्रेम का परिचय दिया है।

अब 'निश्चित' और 'विपश्चित' पर आइये। ये दोनों शब्द शकार-चकार युक्त तुकों की कमी को शान से पूरी करते हुए पंक्तियों को अर्थ गांभीर्य से भी भर देते हैं—

'जीव नियति मनुजों पशुओं की भी कृतार्थ हो निश्चित'

(उप० पृ० १८)

यहां पर 'निश्चित' शब्द बता रहा है कि मनुष्यों और पशुओं का भाग्य अवश्य कृतार्थ होगा। इसके साथ 'निश्चित' ऊपर वाली पंक्ति के 'कल्पित' के साथ अकल्पित तुक-रूप में जमा हुआ है। और भी—

'सब मिल उसको छिन्न भिन्न कर सकते ये यह निश्चित'

(उप० पृ० ७७)

यहाँ 'निश्चित' ने अगली पंक्ति के 'शोणित' का साथ दिया है—ऐसे शोणित का जिसे साथ की तुक भी न मिल रही थी!

लेकिन निश्चय ही 'निश्चित' पूर्ण रूप से तब निखरता है जब वह 'विपश्चित' के साथ आता है, जैसे इन पंक्तियों में—

'रंग नहीं चढ़ता जिस पर वह व्रती व्रती है निश्चित,
समिध-पाणि में प्रश्न पूछता तुमको मान विपश्चित!'

'विपश्चित' के बाद का आश्चर्य चिह्न पन्तजी का ही लगाया हुआ है। 'निश्चित' का ऐसा जोड़ीदार मिलने पर आश्चर्य चिह्न का लगना उचित भी है। किमाश्चर्यमतः परम्!

'निश्चित' का साथ छूटने पर 'विपश्चित'

'तिरस्कृत' का साथ देता है और इस दशा में 'मूढ़' बनकर रह जाता है। यथा—

'धनी दीन, भोगी त्यागी, औ' मूढ़ विपश्चित!'

(उप० पृ० १२२)

आगे चल कर तो बेचारा 'चित' ही आया है—

'देश देश के विविध विपश्चित राजकर्म में हों सक्रिय चित!'

(उप० पृ० १३६)

इसी प्रकार स्मित, व्रतति, समदिग्, परात्पर, मादन आदि शब्दों के बार-बार प्रयोग से काव्य सौन्दर्य में विशेष वृद्धि हुई है। इन तत्समों के जोड़ का एक प्राकृत शब्द भी पंतजी ने साहसपूर्वक अपनी पंक्तियों में बिठा दिया है जिसके लिए वे अभिनंदनीय हैं। यह शब्द है 'जनी'—

'मधुर अप्सरा बनी जनी अब,
कुल प्रदीप से ज्योतित कर घर !'

(स्व० कि० पृ० ११७)

'बनी' के साथ 'जनी' और बनी-ठनी हो गई है—अनुप्रास के कारण ! और भी—

'नव कुमार का पकड़ मृदुल कर
टहला रही जनी आँगन पर' । (उप० पृ० १२०)

जगजीवन ऐसा है कि ये अप्सराएँ और जनी भी 'नयनकलहों' में पड़ जाती हैं । नयन-कलहों की सजीव चित्रमयता प्रशंसनीय है ।

(स्व० कि० पृ० १४२ पर)

यह दुर्भाग्य का विषय है कि 'कल्पना' को स्त्रीवाचक मानने के बाद संस्कृत के आचार्यों ने यही व्यवहार 'शब्द' के साथ नहीं किया ! पुरुषवाचक शब्दों के भार से कोमल पंक्तियाँ तुक की सीमा तक न पहुँच कर बीच ही में टूटकर मुक्त छन्द बन जातीं, यदि कवि-कौशल अनेक शब्दों को नारी संज्ञा देकर कोमल पंक्तियों की रक्षा न कर लेता । कोमलता के इस कौशल में पंतजी ने कमाल किया है—

'भाव सत्य बोली मुख मटका
बोली वस्तु सत्य मुँह बिचका' (स्वर्णधूलि, पृ० ६) ।

इन पंक्तियों में 'सत्य' के नारी-वाचक होने से मटकाने और बिचकाने की क्रियाएँ सार्थक हो गई हैं !

इसी तरह 'डर' ('छोड़ मध्य युग की डर' उप०. पृ० १५४), 'तन' (मोहवासना की तन'—उप०, पृ० १४६), 'शिखर' ('सौधों की स्वर्ण शिखर'—स्व० कि० पृ० २८) 'मर्मर' ('वन की मर्मर क्या गाएगी ?'—स्व० कि० पृ० १५७) आदि शब्दों का भी रूप बदल दिया गया है । कभी-कभी कुछ शब्द उभय पोशाकों में भी सामने आते (या आती) हैं । जैसे यही 'मर्मर'—

'अह कराहता होगा मर्मर' (स्व० कि० पृ० १७२)

उभयवेशों की सार्थकता इस बात में है कि स्त्री का गाना अच्छा लगता है और पुरुष का कराहना । इसी प्रकार सत्य—

'अकथनीय था सत्य, ज्योति में लिपटा शाश्वत'

(स्व० कि० पृ० ६२)

कवियों का निरंकुश होना प्रसिद्ध है । लेकिन निरंकुश होने में किस चीज के अंकुश की तरफ इशारा है ? अधिकतर व्याकरण की तरफ, लेकिन इस तरह की

निरंकुशता साधारण कवियों के लिये है। महाकवि लोग तो आल राउंड चैम्पियन होते हैं। 'नव स्वर गति लय ताल छन्द नव'—वे सभी को अपनी मौलिकता से नवीन कर देते हैं।

लय की उठा-बैठी देखिये—

'ओ अरुण ज्वाल, चिर तरुण ज्वाल !
मद से मंजरित कनक रसाल !'

(स्व० कि० पृ० ३०)

स्वर लिपि के अभाव में दूसरी लाइन का ध्वनि-सौंदर्य समझना असंभव है ! इसी प्रकार,—

'भावी रहित नित्य तिरोहित,
हानि-लाभ जीवन-मरण रचित'

(३ प० पृ० १७०)।

एक गीत की टेक इस प्रकार है—

'विरह मिलन, प्रेयसि, प्रभव मिलन'

(३ प० पृ० १७३)।

निःसन्देह, ऐसी पंक्तियाँ भी सैकड़ों हैं जिनमें यह उठा-बैठी नहीं है। दरअसल गति-भंग, लयभंग या यतिभंग तो विचित्रता और चमत्कार के लिये होता है। पन्तजी जब चाहते हैं तब एकदम सरल और सपाट लाइनें भी लिख लेते हैं। जैसे ये लाइनें,—

'अगर न ऊँचे होते दादा,
कब का ऊँट तुम्हें खा जाता !'

(स्व० धू० पृ० ५६)।

यह सरलता, सुबोधता, और मनोहारी सपाटता उनकी पहले की रचनाओं में कम आ पाई है।

ऐसे ही दो पंक्तियों के जोड़े में 'मोहम्मद' और 'अहम्मद' की तुकें भी सराहनीय हैं। कोई यह न समझे कि मोहम्मद के भाई अहमद को पन्तजी ने मधुर स्वरपात से डेढ़ प्रकार युक्त करके अहम्मद बना दिया है। यह पद शुद्ध संस्कृत से आया है और उसके पहले उतना ही शुद्ध 'अहम्' जुड़ा हुआ है।

(स्व० धू० पृ० ४४)।

ऊँट और मोहम्मद वाली पंक्तियाँ विदेशी वातावरण की गंध के कारण, मुमकिन है, कुछ भारतीयता के प्रेमियों को न रुचें। उन्हें 'स्वर्णकिरण' की प्रस्ता-वाली इस तरह की पंक्तियाँ पढ़नी चाहियें, यानी उनका पाठ करना चाहिये—

'जय जय सीताराम, जयति जय,
जय लक्ष्मण, जय भरत शत्रुहन !'

ऐसी पंक्तियाँ पढ़कर किसी को यह समझ लेना चाहिये कि पन्तजी संसार से संन्यास लेनेवाले हैं। इसके विपरीत 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्णधूलि' से लोगों को आश्वासन मिलना चाहिये कि 'पल्लव' का किशोर-कवि पुनः अपनी किशोरावस्था की ओर लौट रहा है। कुछ लोग 'ग्राम्या' आदि की ग्रामीण रचनाओं से हताश होकर 'हाय पल्लव' कहने लगे थे; पंतजी ने उनकी आर्त-वाणी सुनकर 'पल्लव' और 'गुंजन' के मर्मर-संगीत (अथवा की मर्मरसंगीत) से उन्हें पुनः तृप्त कर दिया गया है। पहले लिखते थे—

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन !'

अब लिखते हैं—

बरसो उर्वर जीवन के कण
बरसो हे घन !' (स्व० धू० पृ० ५१)

पहले लिखते थे—

'गन्ध मुग्ध हो अंध समीरण
लगा थिरकने वारम्बार।'

अब लिखते हैं—

'आम्र मंजरित, मधुप गुञ्जरित,
गंध समीरण अंध संचरित !'
(स्व० धू० पृ० ७१)

पहले लिखते थे—

'जब मिलते मौन नयन पलभर !'

अब उसी के जोड़ पर—

'अधर से मिलते मधुर अधर।'
(स्व० कि पृ० १०७)

पहले लिखते थेः—

'वात हत लतिका सी सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार।'

अब लिखते हैं:—

'भूल फूलों के आलिंगन,
वातहत लतिका मूर्छित' (स्व० कि० पृ० १७)

पहले मन से कहते थेः—

ढल रे ढल आतुर मन !
गल रे गल निष्ठुर मन ।'

अब अपनी 'निःस्वर वाणी' से कहते हैंः—

नव जीवन सौंदर्य में ढलो,
सृजन व्यथा गांभीर्य में गलो ।'

(स्व० धू० पृ० १०२)

इस तरह की आवृत्ति से प्रकट होता है कि स्वर्ण-चेतना से पन्तजी की काव्य-प्रतिभा इतनी अधिक समृद्ध हो गई है कि वह अपने ही उतारे हुए वस्त्रों को पहनने के लिये उत्कंठित है ।

पन्तजी अपने रोमिल, ऊर्मिल, झलमल, टलमल आदि शब्दों के लिये प्रसिद्ध हैं । ये भी अपनी उचित मात्रा में आपको इन पुस्तकों में मिल जायँगे । उदाहरण देने की जरूरत नहीं । लेकिन श्रेष्ठ शब्द-सौंदर्य तो वह है जहाँ भाव शब्दों की ध्वनि से मुखर हो उठें । जैसे वीणा के स्वरों का वर्णन किया जाय तो 'वीणा क्वण' 'कर्ण' और 'जन्हु के श्रवण' आदि शब्दों के प्रयोग से सचमुच बजने का भ्रम पैदा हो जाय (स्व० कि० पृ० १४६) । इसके सिवा, जब ध्वनि का अनुकरण ही करना है, तब वीणा-सारंगी तक ही आगे को क्यों सीमित रक्खा जाय ? पशु-पक्षियों की बोली का भी अनुकरण क्यों न किया जाय ? देखिये, एक साथ कितनी बोलियाँ सुनाई पड़ती हैं—

'दादुर टर टर करते, झिल्ली बजती झन-झन,
म्याँउ म्याँउ रे मोर, पीउ पिउ चातक के गण ।'

(स्व० धू० पृ० ४६)

यहाँ पर टर-टर और झन-झन के साथ म्याँउ म्याँउ ने जो समा बाँध दिया है, वह छायावाद के तमाम हिमायतियों के लिये अनुकरणीय है । मोर का शब्द मुमकिन है, किसी ने दूसरे ढंग से सुना हो, लेकिन कवि कंठ से होता हुआ वह किंचित् सा परिवर्तन करके म्याँउ-म्याँउ बन गया है !

(२)

प्रौढ़ावस्था में किशोरवय के वस्त्र पहनने से जो मजा बनेगी, वही मजा प्रतिभा के पतझर में 'पल्लव' के काव्य-परिधान से 'स्वर्ण-किरण' और स्वर्ण धूलि' की बनी हुई है । वे अलंकार, वह लाक्षणिक व्यंजना, शैली, टेनिसन और रवीन्द्रनाथ टाकुर की वे शब्द-ध्वनियाँ, इस समय कुछ काम नहीं देतीं । कॉलरिज बहुत सी अफीम खाने के बाद भी 'क्रिस्टाबेल' और 'कुबला खान' को

पूरा नहीं कर सका ; पंत जी धरती और आसमान को स्वर्ण ही स्वर्ण से भर देने के बाद भी सूखे पत्तों में रंगीनी नहीं ला सके। पतझर को वसन्त समझने से यही भ्रांति होती है।

पंतजी के शब्द शिल्प का यह लय उनके भाव शिल्प के साथ जुड़ा हुआ है। भावों और विचारों के प्रवाह ने उनकी रूप-सरिता की गहराई निश्चित की है। उनकी पुस्तकों का अध्ययन भाव और कला के परस्पर संबन्ध पर काफी प्रकाश डालता है। साफ दिखाई देता है कि भावों और विचारों का प्रवाह छिछला होने पर रूप में गहराई नहीं आती। श्रेष्ठ कला के लिये ऊँचे आवेश की जरूरत होती है। यह आवेश कवि और उसके चारों ओर के वातावरण के परस्पर सम्पर्क से पैदा होता है। वातावरण बदलता है ; उसके साथ कवि का आवेश भी अपने रूप बदलता है। आज के जमाने में उन उपकरणों से गंभीर आवेश पैदा करना असम्भव है जिनसे पल्लव-काल में वह उत्पन्न हुआ था।

पंतजी के आवेश का उनके 'इन्स्पिरेशन' का—स्रोत अब क्या है ?

—काव्य के लिये सबसे अधिक प्रेरणा उन्हें किससे मिलती है ?

—'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में कौन-सी काव्य-वस्तु बार-बार दोहरायी गयी है।

किसी भी पाठक से यह छिपा न रहेगा कि एक तरफ तो नव-चेतना, अन्तर्मन, योगी अरविन्द, गांधीवाद और राम-राम सीताराम का आध्यात्मिक संसार है ; दूसरी तरफ जघनों, अधरों, उरोजों आदि का भवसागर है जिसकी लालसा की लहरें बार-बार आध्यात्मिक संसार की धरती से टकराती हैं और कभी-कभी सीमा तोड़कर उसका काफी हिस्सा ढँक भी लेती हैं।

पंतजी जिस अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के समन्वय की बात करते हैं, उसका यही रूप है। पंतजी इस सुन्दर समन्वय तक कैसे पहुँचे, इसका इतिहास भी रोचक है।

हिन्दी पाठक जानते हैं कि 'रूपाभ' निकालते हुए पंत जी ने छायावाद से विदा ली थी। उसे कल्पनालोक की वस्तु कह कर उन्होंने यथार्थ की ठोस धरती पर आने का प्रण किया था।

'युगान्त', 'युगवाणी,' 'ग्राम्या' आदि इसी काल की रचनाएँ हैं। बहुत से लोग समझने लगे कि पंत जी मार्क्सवादी हो गये हैं। इन रचनाओं को ध्यान से पढ़ने पर यह बात खुले बिना न रहेगी कि दरअसल पंतजी ने मार्क्सवाद को पूरी तरह कभी स्वीकार नहीं किया था।

पंतजी आरंभ से ही गांधीवाद और मार्क्सवाद का समझौता कराने में लगे

हुए थे,—यानी वे मजदूर-वर्ग के लड़ाकू दर्शन को पूँजीपतियों के समझौतावादी दर्शन का रूप दे रहे थे।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय पूँजीवाद के समझौते का नाम है गांधीवाद। साम्राज्यवाद और पूँजीवाद से मजदूरों के निर्णायक संघर्ष का नाम है मार्क्सवाद। फिर इन दोनों का समन्वय कैसे हो सकता है?

इन्हें मिलाने की कोशिश का सिर्फ एक नतीजा हो सकता है कि मजदूरों का निर्णायक संघर्ष आंखों से ओझल हो जाय और विदेशी साम्राज्यवाद तथा देशी पूँजीवाद का गठबन्धन ही हाथ लगे। पंतजी के साथ ठीक यही बात हुई है।

आधुनिक कवि (नं० २) की भूमिका में वे मार्क्सवाद की जमीन से छायावाद की आलोचना करते हैं। उनके वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

'छायावाद इसलिये अधिक नहीं रहा कि उसके पास, भविष्य के लिये उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्यबोध, और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।...हिन्दी कविता, छायावाद के रूप में, ह्रासयुग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओं सम्बन्धी स्वप्नों, निराशाओं और संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगी, और व्यक्तिगत जीवन संघर्ष की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर, पलायन के रूप में, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धांतों के आधार पर, भीतर बाहर में, सुख दुःख में, आशा-निराशा, और संयोग वियोग के द्वन्द्वों में सामंजस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष की जय के रूप में गौरवान्वित होने लगी।'

(आधुनिक कवि नं० २, पृ० ११-१२)

यहाँ पर बड़ी खूबी से छायावाद की सीमाओं और उसकी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराया गया है। प्राकृतिक दर्शन को पलायन का रूप कहने में पंतजी ने साफगोई से काम लिया है। इसी दर्शन के आधार पर भीतर-बाहर (आगे चलकर अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्!) के विफल सामंजस्य की, उन्होंने पलायन कहकर निन्दा की है। उनके नये काव्य की एक वाक्य में आलोचना करनी हो—तो उनके अंतिम वाक्य को उद्धृत कर देना काफी होगा—'सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष की जय के रूप में गौरवान्वित होने लगी।'

छायावाद के रहस्यवादी पहलू—'एक अखंड भावना की व्यापकता,—पर उन्होंने करारी चोट की। लिखा—'अब मैं जानता हूँ कि वह केवल सामन्तयुग की सांस्कृतिक भावना थी'। (आधु० पृ० १३)

और भी—

'ज्ञान को सदैव विज्ञान ने वास्तविकता प्रदान की है।'

(उप० पृ० १५) ।

'मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसकी वस्तु-परिस्थितियों से निर्मित सामाजिक संबंधों का प्रतिबिम्ब है। यदि हम बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन ला सकें तो हमारी आन्तरिक धारणाएँ भी उसी के अनुरूप बदल जाएँगी।

(उप० पृ० १६)

इन दो वाक्यों का मतलब साफ है कि बाह्य परिस्थितियों को बदले बिना सांस्कृतिक चेतना में परिवर्तन नहीं हो सकता। लेकिन 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में यह दुनिया बिल्कुल उलट गयी है। इस उलटफेर के बीज आधुनिक कवि नं० २ की भूमिका में ही मौजूद हैं।

फ्रायड इस समय भी उनके दिमाग में घूम रहा है, लेकिन उस जैसे मनो-वैज्ञानिक भी, पन्तजी के अनुसार, 'सापेक्ष के स्तर से नीचे जाने का आदेश नहीं देते हैं।'

(उप० पृ० २४)

इस कमी को भारतीय दर्शनकारों ने पूरा कर दिया है (यानी फ्रायड और भारतीय अध्यात्म दर्शन का समन्वय हो जाना चाहिये !) कहते हैं—'भारतीय तत्त्वद्रष्टा शायद अपने सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान (योग) के कारण सापेक्ष के उस पार सफलतापूर्वक पहुँचकर 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' सत्य की प्रतिष्ठा कर सके हैं।' (उप०)

पुनः—'मार्क्स के दर्शन की, पूँजीवादी परिस्थितियों के कारण, जो वर्ग युद्ध और रक्तक्रान्ति में परिणति हुई है'—यह 'सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं' जान पड़ती !

(उप० पृ० २५)

इस तरह पन्तजी ने वर्गयुद्ध से हटकर, क्रान्ति से विमुख होकर, मार्क्सवाद को अपनाया था। वह मानते हैं कि वर्गयुद्ध और क्रान्ति का कारण पूँजीवादी परिस्थितियाँ हैं। फिर भी वे वर्गयुद्ध और क्रान्ति से बचने की कोशिश करते हैं। इसका मतलब स्पष्ट ही, पूँजीवादी परिस्थितियों से बचने के अलावा और क्या हो सकता है ?

'स्वर्ण किरण' और स्वर्ण धूलि' की स्वर्ण चेतना का यही मूल स्रोत है। कल्पना लोक का हजार मन सोना भी इस पलायन और दगाबाज़ी को ढँक नहीं सकता।

आधुनिक कवि की भूमिका में राजनीति और संस्कृति के प्रश्न एक दूसरे से अलग कर दिये गये हैं। फासिज्म के विरोध से यह कह कर जान छुड़ाई गई है कि 'इस प्रथा के विरोधी का विवेचन करना पिष्टपेषण के समान है।' (उप० पृ० १६)।

उन्होंने घोषणा की है—

'राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख
आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित !'

दोनों पंक्तियाँ पंतजी ने ही भूमिका में उद्धृत की हैं जिससे जाहिर है कि जहाँ वे एक तरफ मार्क्सवाद की मान्यताओं को स्वीकार करते थे, वहां दूसरी तरफ उन्हें जान-बूझकर ठुकराते भी थे !

(३)

पंतजी मार्क्सवाद को एकांगी कहते हैं। उसके एकांगीपन को दूर करने के लिए वे अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् का समन्वय करते हैं। समन्वय में दोनों चीजों को अगर बराबर मात्रा में नहीं तो १६-२० के फर्क से तो मिलना ही चाहिये। देखना चाहिये कि इस समन्वय में बहिर्जगत् को कितना स्थान मिला है।

सन् ४२ से ४७ तक—जिस काल की ये रचनाएँ हैं—हिन्दुस्तान में और उसके बाहर बहुत-सी महत्वपूर्ण घटनाएँ हुई हैं। इसी काल में बंगाल का भयानक अकाल पड़ा, सोवियत-जर्मन युद्ध हुआ, बंबई में नाविकविद्रोह, मजदूरों और आम जनता के बड़े-बड़े संघर्ष हुए और वे सब बहिर्जगत् में ही हुए। पंतजी के समन्वय में इस बहिर्जगत् को कितनी जगह दी गयी है ?

आप दोनों किताबों के हर पन्ने और हर लाइन को छान डालिये और अंत में आपको यही कहना पड़ेगा कि हिन्दुस्तान के जन-आन्दोलन को पंतजी की रचनाओं में शून्य के बराबर जगह दी गयी है।

फासिज्म-विरोधी साहित्य न रचने का बहाना यह था कि फासिस्ट-विरोध इतना आम है कि उस पर कुछ लिखना पिष्टपेषण होगा। अब जनवादी संघर्ष की कहानी समन्वय के बहाने स्वर्णचेतना के प्रकाश में आँखों से ओझल हो गई है।

इससे स्पष्ट है कि पंतजी भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय जैसी कोई असंभव चीज नहीं कर रहे हैं। उनकी तमाम कविता भौतिकवाद और जनवादी संघर्ष को अस्वीकार करती है और वह दर असल समन्वय करती है तमाम देवी-देवताओं की उपासना के साथ पूँजीवाद की उपासना का।

उनके आदर्श व्यक्ति उपचेतन को जगाकर कल्पना लोक में मनश्चेतनाचूर्ण बिखेरनेवाले लोग हैं।

यह उपचेतना है क्या बला ?

मनोविज्ञान-विशारद इसे तर्क और बुद्धि से परे बताकर उसे अन्तस्तल के किसी अतल रसातल में दफना देते हैं। पं० इलाचन्द्र जोशी ने इस पर जो महाकाव्य रचा है उसकी चर्चा कभी फिर सुनियेगा। पंतजी की फिलासफी में इस आर्य देश के ऋषियों ने बहुत पहले नाड़ी-विज्ञान से सापेक्षता की सीमाओं को पार कर के निरपेक्ष सत्य का पता लगा लिया था। कलियुग में महाकवि पंत नाड़ी-विज्ञान को भौतिक-विज्ञान से मिलाकर एक नया उपचेतन गढ़ रहे हैं।

पूर्वकाल के दर्शनकार और विचारक शब्दों की व्याख्या करके किसी निश्चित अर्थ में उनका प्रयोग करते थे। पंत जी भारतीय दर्शन की दुहाई देते नहीं थकते, लेकिन उनका जैसा शब्दों का प्रयोग भारतीय दर्शन में आज तक नहीं हुआ। भारतीय दर्शन से जिस चीज को वे सबसे ज्यादा सीख सकते थे—यानी शब्दों के प्रयोग को, तर्कपद्धति को—उसी को उन्होंने सबसे ज्यादा दरकिनार किया है।

मन, अर्न्तमन, उपचेतन, अवचेतन, चेतना, मनश्चेतना, ज्योति, अंधकार, चिर, चिरंतन, विद्या, अविद्या, अंतर्जगत्, बहिर्जगत्, आत्मिक, आध्यात्मिक, आभा, छायाभा, सविकल्प, निर्विकल्प, आत्मा, ईश्वर, प्राण, शक्ति, चिच्छक्ति, भाव और अभाव, नूतन और नवनूतन, अमर और चिरअमर, कुंचित और अकुंचित, आदि आदि का ऐसा अनोखा प्रयोग किया है कि निःसन्देह उनकी कविता ऐसे उपचेतन से निकली जान पड़ती है जिसके अँधेरे में अभी तक चेतना कि किरणें प्रवेश नहीं कर पाईं !

यहाँ पाठक, केवल बानगी के तौर पर, 'चेतना' और 'मन' के कुछ प्रयोग देखें—

(१) *'आज भाव की सृजन शक्तियाँ*
उतर नहीं पाती हैं भू पर,
जो अन्तर्चेतना व्योम में
उमड़ रहीं देने जीवन वर !' (स्व० कि० पृ० २६)

(२) *'चेतना रुधिर लौ सी कंपित*
जीवन जावक से पद रंजित' (उप० पृ० ३०)

(३) *'वह सौंदर्य चेतना का नीहार लोक चिर मोहन'*
(उप० पृ० ३१)

(४) *'यह मनश्चेतना ज्यों सक्रिय*
भू के चरणों पर बिखर-बिखर

शत स्नेहोच्छ्वसित तरंगों की
बाँहों में लेती भू को भर !' (उप० पृ० ४५)

(५) 'स्वर्ण रजत की धूलि से भरा निखिल दिगंतर,
मनश्चेतनाचूर्ण उड़ रहा हो ज्यों भास्वर !'
(उप० पृ० ५३)

(६) 'दुग्ध धार सी दिव्य चेतना बरसा झर झर
स्वप्नजड़ित करता वह भू को स्वर्जीवन भर !'
(उप० पृ० ६४)

(७) (कविता का शीर्षक 'हरीतिमा'। नीचे ब्रैकेट में लिखा है 'प्राण'। टेक है—)

'ओ हरित भरित घन अंधकार !'

(इसका एक काम यह भी है—)

'जड़ चेतन को करते विकसित
जग जग में भर नव शक्ति ज्वार !'
(उप० पृ० ७०)

(८) 'तन के मन में कहीं अंतरित
आत्मा का मन है चिर ज्योतित'।
(उप० पृ० ७३)

(९) 'ओ नीलधार अति दुर्निवार !
युग युग की विश्व चेतना तुम
उच्छ्वसित उरोजों का उभार !' (उप० पृ० ८५)

(१०) 'भर देगा सूखी धरती को अन्तर्जीवन प्लावन,
मनुष्यत्व को करो समर्पित खंडित मन, कवलित तन !'
(उप० पृ० १२४)

(११) 'जड़ चेतन से परे अगोचर
जीवन के हैं मूल सनातन !

× × ×

तर्क बुद्धि अनुभूति, चेतना-अमृत में द्रवित !
(उप० पृ० १३३)

(१२) 'खुला गगन में आज मुक्त मन,
नीलि योनि में अब वह सुन्दर,

आसन में केवल उसका तन,
अंतरतम में स्थित अब अंतर !

× × ×

अतल अकूल चेतना सागर,
क्षुब्ध गात्र मय सलिल आवरण !' (उप० पृ० १३५)

(१३) आत्मा का संचरण करे मन को आलोकित !

× × ×

मन का युग हो रहा चेतना युग में विकसित

× × ×

जन मन के अणु से होगी चिच्छक्ति प्रवाहित !

(उप० पृ० १४३)

(१४) 'ज्यों-ज्यों हुई चेतना जाग्रत
प्रभु भी जग में हुए अवतरित,
अन्तर्गत में परिणत होकर
हुआ प्रतिष्ठित सत्य चिरंतन !'

(उप० पृ० १५४)

(१५) 'छू चेतन के छोर शक्ति मिस
जड़ मन का हट गया आवरण !'

(उप० पृ० १६६)

(१६) 'सलज किसलयों का धर आनन पर अवगुंठन
स्वर्ग चेतना बनी लाज मदिरा पी मोहन !'

(उप० पृ० ५३)

(१७) 'तुम जननि, प्रीति की स्रोतस्विनि,
तुम दिव्य चेतना, दिव्य मना,

× × ×

मुख पर हिरण्मय अवगुंठन
प्राणों का अर्पित तुमको मन।'

(स्व० धू० पृ० ८५)

अन्तर्चेतना के आकाश में सृजन शक्तियाँ उमड़ रही हैं, लेकिन वे पृथ्वी पर नहीं उतर पातीं। चेतना धरती पर उतर आती है, इसलिये उसके पद जीवन-जावक से रँगे हुए हैं। फिर यह चेतना धरती छोड़कर नीहार लोक में चली जाती है और अपना रुधिर-लौ वाला रूप भूल जाती है। फिर आकाश से उतर कर मनश्चेतना पृथ्वी को अपनी बाँहों में भर लेती है !

इसके बाद यही मनश्चेतना चूर्ण बनकर दिगंतर में उड़ने भी लगती है। तब वह दुग्ध धार बनती है और स्वर्गीय जीवन भरकर पृथ्वी को स्वप्न-जड़ित कर देती है! उसकी दिव्यता इसी में है कि वह स्वप्न-जड़ित करती है। प्राणों का 'अंधकार' जड़ और चेतना दोनों को विकसित करता है।

यह नया अंधकार दर्शन है जो मनुष्य को 'हरित भरित घन अंधकार' दिखाता है। यह दर्शन काफी पुराना है क्योंकि इसी के आधार पर सावन में अंधे होकर हरा-हरा देखने की कहावत प्रचलित हुई थी।

अन्धकार की यही नीलधार युग-युग की विश्व-चेतना है जिसमें उरोजों का उभार भी दिखाई देने लगता है (सावन के अन्धे की हरियाली यही तो है!)। फिर इस अन्धकार दर्शन से भूखी धरती को अन्तर्जीवन का अन्न देकर क्यों न शान्त किया जाय? कमी रहे तो चेतना का अमृत बनाइए, और उसमें तर्क, बुद्धि और अनुभूति को कूट कपड़छान कर पी जाइए और जड़-चेतन से परे होकर सीधे 'मूल सनातन' तक पहुँच जाइये! इस अवस्था में आपका 'अन्तर' अन्तरतम' में स्थित हो जायगा और 'अतल अकूल चेतना सागर, लहराने लगेगा!

मन बहुत सारे हैं। एक तन का मन है, एक आत्मा का मन है। एक मन का मन भी जरूर होगा! तन के मन में पैठकर आत्मा का मन चमकता रहता है। फिर गगन में कोई मन खुल जाता है। लेकिन आत्मयोग, मुक्त होने पर भी उसका युग समाप्त हो जाता है और चेतना का युग शुरू हो जाता है, तथापि 'चिच्छुक्ति' मन के अणु से ही प्रवाहित होगी! चेतना के आगमों पर प्रभु संसार में अवतार लेते हैं और अन्तर्मन में डुबकी लगाकर परम सत्य बन जाते हैं!

अन्तर्मन न हो, तो जड़ मन भी चेतना के छोर छू आता है और उससे उसका आवरण हट जाता है। यह आवरण—यानी अज्ञान का पर्दा—मन पर ही नहीं है; उस चेतना पर भी है जिसे छूने से मन का पर्दा हट गया था। आखिर अन्धकार दर्शन है, न? अज्ञान से सत्य न मिले तो बात क्या। इसलिये स्वर्ण चेतना किसलयों का घूँघट करके लाज की मदिरा पी जाती है। लाज शरम पी जाने के लिए निर्लज्जता चाहिये, लेकिन पन्तजी की स्वर्ण चेतना पत्तों की आड़ में बड़े सलज्ज भाव से मदिरा-पान का काम पूरा करती है। पुनः यह दिव्य चेतना जननि-रूप धरकर अपने मुँह पर किसलयों के बदले हिरण्मय अवगुंठन डाल लेती है!

(४)

'स्वर्णधूलि' में एक कहानी है—'नरक में स्वर्ग'। एक छोटे से राज्य में मालिन की लड़की सुधा रहती थी। उसी राज्य की राजकुमारी सुधा से सुधा की

बड़ी दोस्ती थी। उनकी मित्रता जनता के लिए सुखमय थी, मानों सुधा और क्षुधा का समन्वय करना ही विधाता को इष्ट था।

'दोनों के आणों का परिणय था जन के हित सुखमय,
स्वर्गधरा का मधुर मिलन हो ज्यों स्रष्टा का आशय !'

बिना स्रष्टा के ही आशय के कौन विश्वास करता कि क्षुधा और सुधा,—स्वर्ग और पृथ्वी, जमीन और आसमान की तरह अलग-अलग होने पर भी मिल सकती है ?

कवि को बड़ा अफसोस है, संस्कृति और कला का निवास राजभवन—जिसके गवाक्षों से मदिर लोचन झाँकते थे—आज ताप शापों से पीड़ित हो गया है। राजभवन का नाम आते ही पन्तजी की वाणी 'वियोगी होगा पहला कवि' के आँसुओं की तरह उमड़ कर अनजान वह चलती है !

'राजभवन हे राजभवन, जन-मन के मोहन,
युग युग के इतिहास रहे तुम भू के जीवन !
संस्कृति कला विभव के स्वप्नों से तुम शोभन
पृथ्वी पर थे स्वर्गिक शोभा के नन्दन वन !
मदिर लोचनों से गवाक्ष थे मुग्ध कुवलयित,
मधुर नूपुरों की कल ध्वनि से दिशिपल गुंजित !
नव वसन्त के तुम शाश्वत विलास थे कुसुमित,
भू मंडल की विद्या के प्रकाश से ज्योतित !'

(स्व० धू० पृ० ३७)

राजभवन के स्मरणमात्र से रोमांस की तलैया में ज्वार उठने लगा। यह राजभवन जनता के मन को मोहित करने वाला था। पृथ्वी पर यह स्वर्गीय शोभा का नन्दन-वन था। मदभरे नयनों से खिड़कियाँ कुवलयित हुई जा रही हैं। वसन्त का शाश्वत विलास, उस पर भूमण्डल की विद्या का प्रकाश !

यह राजभवन क्यों नन्दन से निन्दित बन गया, इसका कारण कोई शाप-ताप है। जनगण के जीवन से सम्बधित न रहो, बस। निंदित और शापित हो गया तो कोई बात नहीं। सरदार पटेल ने रियासतों में अहिंसात्मक क्रांति का रास्ता चौरस कर दिया है। सहृदय कवि राजभवनों को आशा दिलाता है कि—'अब भी चाहो पा सकते तुम जन मन पूजन।'

शर्त यही है कि जन-सेवा का व्रत ले लो, यानी प्रिवी पर्स में कुछ लाख का इजाफ़ा करके राजभवन के बदले राजप्रमुख-भवन बन जाओ। इस तरह प्रजातन्त्र भी कायम हो जायगा और राजभवन भी बना रहेगा।

'प्रजातन्त्र के साथ राज्य रह सकते जीवित
जन जीवन विकास के नियमों से अनुशासित !'

इस जन-जीवन-विकास को न समझकर एक दिन राज्य की जनता बगावत कर बैठी। प्रजा राजमहल को घेर लेती है। साथ में क्षुधा भी है। 'किंचित अन्तःपुर का वातायन' खोलकर सुधा झाँकती है और दोनों सखियों के नयन मिलकर 'मौन संभाषण' करते हैं जिससे दोनों की 'आँखों में आँसू घन' घिर आते हैं।

फौज ने प्रजा पर गोली चला दी। जनता का खून होते देखकर सुधा पिछवाड़े से जाकर भीड़ में शामिल हो गई। फिर क्या था। सतयुग में जैसे भगवान् प्रकट होकर भक्तों का ताप हर लेते थे, यहाँ सुधा ने दीन क्षुधा के लिए आदर्श अहिंसात्मक रूप से प्राण दे दिये।

सुधा की मृत्यु से राजा-प्रजा दोनों हार गये। सुधा के भाई ने आत्महत्या करने की ठानी; तभी क्षुधा ने जाकर उसका हाथ पकड़ लिया। अब सुधा की जगह क्षुधा ने ले ली और राजकुमार जनता का सेवक बन गया। हृदय परिवर्तन का नाटक पूरा हुआ।

क्या ऐसा नाटक आज तक दुनिया में कहीं हुआ है?—नहीं हुआ। इसलिये पन्तजी स्वयं कहते हैं—

'कथा मात्र है यह कल्पित, उपचेतन से अति रंजित!'

(उप० पृ० ४०)

यह कथा कल्पित ही नहीं, उपचेतन से अतिरंजित भी है। बिना उपचेतन का सहारा लिये साधारण कल्पना ऐसी कथा कहाँ से गढ़ सकती थी!

क्षुधा-सुधा की कथा के साथ मिलाकर जब हम इस तरह की लाइनें पढ़ते हैं—

'यहाँ सत का वास रहता,
यहाँ चित का लास रहता,
यहाँ चिर उल्लास रहता,
यह बताता योग दर्शन!'

(उप० पृ० २४)

तब हम अच्छी तरह समझ जाते हैं कि यह योगदर्शन क्या बताता है।

माधव-यादव संवाद में भी यही घटना दोहराई गई है। माधव क्रान्ति द्वारा सत्ता पर अधिकार करने का पक्षपाती है। यादव का उत्तर है कि 'आज हमें मानव मन को करना आत्मा के अभिमुख (स्व० धू० पृ० १३)। मन को आत्मा की ओर अभिमुख करने का मतलब है उसे क्रान्ति से विमुख करना।

रामराज्य वाली क्रान्ति हो, तो पन्तजी बहिर्जगत् में भी क्रान्तिकारी बनने को तैयार हैं। तब वे गा उठेंगे—

'महान् क्रांति आज हो
अखंड राम राज्य हो,
अभीष्ट लोक काज हो, सुसभ्यजन समाज हो !'

(स्व० धू० पृ० १६३)

क्रान्ति की तूरी बज उठेगी, लेकिन मादक स्वरों में—

'बजे क्रांति तूरी जग मादन,
कुडुम-कुडुम हो जय दुंदुभि स्वन,
जीवन हित मानव वरे मरण
मृत्यु अंक में भी गावें जन,
वन्देमातरम् !

(स्व० कि० पृ० ११२)

यह क्रान्ति सत्ता छीनने के लिए नहीं है। सत्ता छीनने का काम हो तो फिर राम राज्य कहाँ रहा ? इसलिये वर्ग सहयोग कायम रखते हुए अपने पूँजीवादी मालिकों के लिए, हे भारत की ऋषिसंतान, तुम वंदेमातरम गाते हुए मृत्यु के मुख में चले जाओ ! इस कुडुम कुडुम दुंदुभि का यही अर्थ है !

वर्ग सहयोग बड़ा सरस विषय है। रसराज या भगवद्भजन के बाद इसी का नम्बर आता है। यह साधारण प्रतिभा का काम नहीं है कि किरण, इन्द्र धनुप, ज्योति और स्वप्न आदि को इस संदर्भ में लाकर अलंकारों की चकाचौंध पैदा कर दे। कहते हैं—

'जब जब घिरते विश्व क्षितिज पर युग-परिवर्तन के घन,
मेघों के स्तर रंध्रजाल से कोई शुभ्र किरण छन
ज्योति सेतु सी सर्जित हो द्रुत इन्द्रचाप में मोहन,
स्वर्गिक स्वप्नों में लिपटा लेती वसुधा के दिशि-क्षण !'

युग परिवर्तन के घन घिरते ही कवि का मन-मयूर म्याँऊ-म्याँऊ कर उठता है। उसकी पुकार सुनकर मेघों के जल से किरण फूट पड़ती है और इन्द्रधनुप फैलाकर तमाम पृथ्वी को स्वप्नों में लिपटा लेती है। ऐसी हालत में युगपरिवर्तन के घन बरसेंगे तो अवश्य ही वह बरसात हिन्दुस्तान की खेती को चौपट कर देगी।

जब वर्ग सहयोग का सूर्य निकलता है तब उसके प्रकाश में मजदूर के मुँह पर पसीने की बूँदें बड़ी सुन्दर लगती हैं। पैदावार बढ़ाओ; देशभक्त बनकर पूँजीपतियों के लिए मुनाफा जुटाओ। संघर्ष की राह पर पैर मत बढ़ाना—

'उदित हो रहा भू के नग पर
स्वर्ण चेतना का नव दिनकर
आज सुहाते भू जीवन के
पावन श्रमकण मानव मुख पर !'

(स्व० कि० पृ० ६१)

'ग्राम्या' की 'असंस्कृत' जनता पूँजीपतियों के लिये श्रम करके कितनी सुन्दर हो गयी है।

पूँजीवाद का खुला समर्थन तो अमरीका में ही होता है। और जगह उसके समर्थन के रूप बदल गये है। यहाँ भी ऋषि-मुनियों की सहायता से समर्थन को आध्यात्मिक रूप दे दिया गया है। पहले भारत के अतीत गौरव का स्मरण कीजिये—

'तुच्छ नहीं समझो अपने को, तुम हो पृथ्वी वासी,
फिर तुम भारतवासी जो, वसुधैव कुटुम्ब प्रकाशी;
देखो, मा के अंचल में जो रत्न बँधा अविनाशी,
जगत् तारिणी भारत भूमि, वह नहीं भिखारिन दासी !'

(उप० पृ० १२५)

एक तो तुम पृथ्वी वासी हो, इसीलिये तुम्हें अपने गौरव का ख्याल रखना चाहिये। आकाशवासी होते तो बात दूसरी थी। उस पर तुम भारतवासी हो जो सारे संसार को अपना कुटुम्ब मानते हैं। फिर क्या मजदूरी और तनख्वाह बढ़वाने के लिए झगड़ते हो ? क्या इन क्षुद्र स्वार्थों के लिए लड़ना तुम्हें शोभा देता है ? माँ के अंचल में बँधा हुआ आत्मज्ञान का अविनाशी रत्न देखो। भारत माता तो जगत् तारिणी है; उसे भिखारिन समझना घोर पाप है।

'ग्राम्या' में ही 'मिट्टी' की प्रतिमा उदासिनी' अहिंसा का स्तन्य पिलाकर 'भव तम भ्रम' हर चुकी थी; 'स्वर्ण किरण' के युग में वह 'जगत् तारिणी' बन गई तो क्या आश्चर्य। इसलिये माता के आँचल से अनिवाशी रत्न खोलकर पंतजी हिन्दुस्तान के ही नहीं तमाम दुनिया के दीन-दुखियों को यह संदेश देते हैं:—

'क्षणभंगुर यह तन, आत्मा रे मुक्त चिरंतन,
ईश्वर जग में व्याप्त, त्याग से भोगो भव जन;
यह चिर परिचित भारत स्वर, फिर इसे जगाओ।
जग के दीनों दुखियों मुक्त कंठ हो गाओ !'

(स्व० कि० पृ० १२६)

पंतजी के सांस्कृतिक समन्वय की असलियत यह है। मार्क्सवाद के एकांगी होने का कारण यहाँ खुलता है। चेतन-उपचेतन के मायाजाल की वीभत्सता यहाँ प्रकट होती है। हिन्दी कवियों में किसी ने इतना गिरकर दीन-दुखियों से त्याग और ईश्वर के गीत गाने को न कहा था।

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने जान-बूझकर धार्मिक भावनाओं और अंध विश्वासों को उभारा है जिससे कि उनका वर्ग सहयोग और क्रान्ति-विरोध लोगों के गले उतर जाय। कोई ऐसा ऋषि-मुनि देवता, पीर-पैगंबर औलिया नहीं रहा जिसकी जरूरत पड़ने पर उन्होंने इबादत न की हो! 'अन्तिम पैगम्बर' नाम की कविता में कहते हैं—

'बने गड़रिए, तुम्हें जान प्रभु, भेड़ नवाती थी सर!'
(स्व० धू० पृ० ४३)

पैगंबर तो अंतिम हैं, लेकिन उनकी भेड़ें चिर-नवीन हैं। सबसे बाद को शामिल होने वालियों में 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' के कवि का स्थान प्रमुख है।

'कुंठित' नाम की कविता में—शीर्षक सार्थक है—पंत जी कहते हैं—

'तुम्हें नहीं देता यदि अब सुख
चन्द्रमुखी का मधुर चन्द्र मुख;
रोग जरा औ मृत्यु देह में,—
जीवन चितन देता यदि दुख,
आओ प्रभु के द्वार!'

इस तरह चन्द्रमुखी का द्वार छोड़कर वे प्रभु के द्वार की ओर बढ़ते हैं—'केशव केसन अस करी, जस अरिहू न कराहिं'—इस युग में भी सार्थक है।

उपदेश का एक महत्वपूर्ण भाग आगे है:—

'प्राप्त नहीं जो ऐसे साधन
करो पुत्र दारा का पालन,
पौरुष भी जो नहीं कर सको
जन मंगल, जनगण परिचालन
आओ प्रभु के द्वार!'

अगर चीजों के दाम बढ़ गये हैं, तनखाह कम मिलती है, बीबी बच्चे परेशान हैं, हड़ताल करने और लड़ने की ताब नहीं है तो आओ प्रभु के द्वार। तुम्हारे सभी कष्ट दूर हो जायेंगे।

इसके बाद वाली कविता 'आर्त' में जो पाँव आगे नहीं बढ़ सकते और जो सुख में भी थकते हैं और दुख में भी थकते हैं, उन्हें सलाह दी गयी है कि—

'पूर्ण समर्पण कर दें प्रभु को, लेंगे सकल सँवार !'
'अमित नील ही प्रभु में नर तन' (स्व० कि० पृ० १५६)
'राम दूत मैं, प्रभु पद अनुचर !' (उप० पृ० १६५)
'जय जय जगत जननि, तम नाशिनि,
जय जय राम, पतित जन पावन !' (उप० पृ० १७६)

आदि पंक्तियों में पन्तजी ने भक्ति की रामनामी ओढ़ कर अयोध्यावासी बाबा राघवदास की राष्ट्रीय परम्परा को खूब निबाहा है।

(५)

पुराने जमाने में भक्तगण भगवान की प्राप्ति के लिए संसार छोड़ देते थे; बरसों तक जंगलों-पहाड़ों की खाक छानते थे। आधुनिक भक्त अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् का समन्वय करते हैं। इसीलिये यह जरूरी नहीं होता कि वह संसार छोड़कर वीतराग हो जायँ। वे उन महाऋषियों के समान हैं जिनके लिए सौंदर्योपासना और भगवदुपासना में कोई विरोध नहीं होता। पन्तजी भक्ति की रामनामी के नीचे कामशास्त्र की पोथी भी दबाये हैं! नारी के नख-शिख वर्णन से उन्होंने अपनी भक्ति को सरस बना लिया है। हिमालय के लिये वे कहते हैं—

हे असीम आत्मानुभूति में
लीन ज्योति शृंगों के भूभृत् !
घनीभूत अध्यात्म तत्व से,
जिससे ज्योति सरित शत निःसृत' इत्यादि (स्व० कि० पृ० १५)

यह आत्मानुभूति कितनी गंभीर, व्यापक और समन्वयवादी है, यह इससे प्रकट है कि गुफाओं में ओषधियाँ जलकर स्वप्न-कक्ष दीपित करती हैं, ओसों के वन में स्तनहारों के मुक्ताफल मिलते हैं और एक विशेष प्रकार की गंध से कवि की घ्राणेन्द्रिय पुलकित और कृतार्थ हो जाती है—

'छाया निभृत गुहाएँ उन्मद
रति की सौरभ से समुच्छ्वासित !' (स्व० कि० पृ० १३)

घनीभूत अध्यात्मतत्व से ये ज्योति सरिताएँ प्रवाहित होती हैं।

'स्वर्ण निर्भर' में वह एक अप्सरा की कल्पना करते हैं 'जिसकी फूल देह को घेरे स्वर्ग लालसा गुंजित' रहती है। उसके एकाकी अंगों पर अनावृत लावण्य दिखाई देता है। उसके 'युत स्वर्ग चक्रांगों-से सुकुमार उरोजों पर' 'शुभ्र सुधा

के मेघों की जाली' उठती गिरती रहती है। (ऊपर के अनावृत लावण्य से कोई विरोध प्रकट न हो, इसलिये जाली का ही उल्लेख है।) 'कामना-शिखरों' जैसे 'उन दो रजत प्रीति कलशों पर' स्वर्ण शिराएँ दिखाई देती हैं। उसकी सुन्दर नाभि 'ज्योति भँवर' सी है, तदुपरान्त—

'स्वर्ण वाष्प का घन लटका जघनों के माणिक सर में !'
(स्व० कि० पृ० ३२)

वाष्पघन में विलीन होकर कवि-कल्पना ऐसी विह्वल होती है कि उसे अप्सरा के स्वर में 'आत्मा के नभकी' 'रजत शान्ति' सुनाई देने लगती है !

लताओं जैसी बाँहें 'आलिंगन भरने को अति कोमल पुलकों से कल्पित' हैं। 'स्वर्णिम निर्झर सी रति सुख की जंघाओं पर पेशल' जीवन की ज्वाला अपना 'दीपन' शीतल करती है !

कोई दूसरा कवि यही लिखता तो अश्लीलता की गुहार के मारे भारतीयता-प्रेमी सम्पादकों को हिचकियाँ आने लगतीं। लेकिन जो कवि अहिंसावादी है, पं० जवाहरलाल नेहरू को उपचेतन-वीर मानता है, दीन दुखियों को त्यागमय जीवन का उपदेश देता है, उसके लिए यह सब क्षम्य ही नहीं है, वरन् कामशास्त्र वाली भारतीय परम्परा का पालन करने के लिए वह बधाई का पात्र भी है !

ऊपर का नखशिख कुछ ज्यादा खुला हुआ लगे तो पन्तजी दूसरी कविताओं में गोपन भाव से कहते हैं—

'वह कैसी थी,
अब न बता पाऊँगा
वह जैसी थी !' (स्व० कि० पृ० ३८)

न बताने से अधिक भी हानि नहीं क्योंकि यह, वह और वे सब एक ही कल्पना लोक की वासिनी समान रूप से 'अदृश्य, अस्पृश्य, अजात' हैं !

सुदृश्य, सुस्पृश्य, सुजात न होने से कवि को प्रकृति में बारंबार नारी रूप की कल्पना करके मन का दीपन शान्त करना पड़ता है। ऊषा 'वक्षोजों पर' स्वर्ण कलश रक्खे हुए (पानी भरने का नया तरीका निकाल कर) 'विश्वोदय पर' आती है। उस 'दिव्य चेतना की ऊषा' के आने पर—

'वसुधा के उरोज शिखरों से खिसका चल मलयांचल,
सरिता की जाँघों से सरका लहरा रेशम सा जल !' (स्व० कि० पृ० ५१)

इन सब क्रियाओं के कारण ही ऊषा की चेतना दिव्य कही गयी है।

अन्यत्र—

'सीप छटा सा उदर, नाभि मुक्ताफल सी स्मित,
पुष्प पुलिन जघनों पर चिर लालसा तरंगित' ! (उप० पृ० ५६)

मानना पड़ेगा कि 'चिर' शब्द का प्रयोग यहाँ भयानक रूप से सार्थक हुआ है। यदि साधारण लालसा होती तो कभी उसकी लहरों के शान्त होने का दिन आ ही जाता। यह तो मध्यवर्गीय युवक कवि की अतृप्त वासना है—प्रौढ़ वय में अधिक बीभत्स हो उठने वाली दमित काम-चेतना—जो 'पल्लव, 'गुंजन' काल के अन्य प्रदेश छोड़कर अब 'पुष्प पुलिन जघनों' में ही लालसा को चिर-तरंगित देखती है। आगे भी लिखा है:—

'कांचन सी तप ज्वलित कामना
ढली सघन जघनों में दीपित,
बनी कठोर कुसुम कोमलता
श्रोणिभार में ही चिर पुंजित !' (स्व० कि० पृ० ११५)

प्रभु की प्रार्थना के दोनों मतलब हो सकते हैं, लालसा की इन तरंगों से उबार दें; और यह भी कि उन पुष्प पुलिनों तक कवि को पहुँचा दें !

प्रकृति से आगे बढ़कर यह नख-शिख प्रतीकों में भी मिलता है। भक्ति की कनक जैसी देह चन्दन जैसी सुगन्धित है और—

'गैरिक शृंगों से उरोज थे अभ्र् भाल स्मित !' (उप० पृ० ६१)

स्मित, यहाँ कैसा सहायक हुआ है !

'सत्य' (यहाँ पर पुलिंग) के जघनों पर सिर धरे मुक्ति लेटी है और मुक्ति के खुले वक्षोजों पर सत्य हाथ रखे हुए हैं। भारतीय भक्त की साधना को कैसा वरदान मिला है।

'अर्ध विवृत जघनों पर तरुण सत्य के शिर धर
लेटी थी वह दामिनी सी रुचि गौर कलेवर;
गगन भंग से लहराए मृदु कच अंगों पर,
वक्षोजों के खुले घटों पर लसित सत्य कर !'
(उप० पृ० ६३)।

इस प्रकार 'चिर स्वर्ग चेतना' प्रतिष्ठित हुई और इस धरती के दुख, दैन्य, ताप, शाप कौओं की तरह अन्धकार में विलीन हो गये !

पन्तजी ने सत्य ही कहा है—

'चकित नहीं कामिनी दामिनी करती किसके लोचन !'
(स्व० कि० पृ० १०८)

भले ही वह कामिनी भक्ति या मुक्ति ही क्यों न हो !

'स्वर्ण धूलि' की अनेक कविताओं में पन्तजी ने यह भक्ति-मुक्ति का स्वाँग छोड़कर सीधे-सीधे अपनी मर्म-व्यथा कह डाली है। जब वह कहते हैं—

'हृदय दहन रे हृदय दहन,
प्राणों की व्याकुल व्यथा गहन !
यह सुलगेगी, होगी न सहन।' (पृ० ६५)

तब यह पता लगाने में किसी को देर न लगेगी कि उनका स्वर सच्चा है। वे सत्य कहते हैं—

'अब भीतर संशय का तम है
बाहर मृगतृष्णा का भ्रम है,
क्या यह नवजीवन उपक्रम है,
होगी पुनः शिला चेतन
बरसो हे घन ! (स्व० धू० पृ० ५२)

अवश्य बरसो। रामनामी भिगोकर बगल में दबी हुई कामशास्त्र की पोथी को भी तर कर दो। चेतन-उपचेतन ने मृगतृष्णा का जो भ्रम पैदा कर दिया है, (मृगतृष्णा स्वयं भ्रम है, उस भ्रम का भ्रम तो महाभ्रामक होगा !), उसे दूर करके बालू के बदले जल से मृग की तृष्णा शान्त कर दो !

(६)

'मेरा रचना काल' नाम के लेख में ('प्रतीक'—सं० ४) पंत जी ने अपने कवि जीवन के आरंभिक विकास-काल पर प्रकाश डालते हुए लिखा है:—'तब मैं छोटा-सा चंचल भावुक किशोर था...मेरे हृदय में वह [प्रकृति] अपनी मीठी, स्वप्नों से भरी हुई छाप अंकित कर चुकी थी जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले स्वरों में बज उठी।...मेरे मन के भीतर बरफ़ की ऊँची चमकीली चोटियाँ रहस्य-भरे शिखरों की तरह उठने लगी थीं, जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चँदोवे की तरह आँखों के सामने फहराया करता था। और सर्वोपरि हिमालय का आकाशचुंबी सौन्दर्य मेरे हृदय पर एक महान् संदेश की तरह, एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह तथा एक विराट् व्यापक आनन्द, सौंदर्य तथा तपःपूत पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था।'

यह गद्य-काव्य 'स्वर्ण किरण' के छन्दों से कम सरस नहीं है। वयस्क कवि आत्म-रति (Narcissism) के भाव से प्रेरित होकर अपनी एक मधुर मनोहर मूर्ति की कल्पना करता है। तब वह छोटा-सा चंचल भावुक किशोर' था।

पता नहीं, यह चंचलता आगे कहाँ खो जाती है कि कवि को लिखना पड़ता है, 'मैं लुटपन से जनभीरु और शर्मीला था।' यह विचित्र मनोविज्ञान है जिसके अनुसार चंचल किशोर शर्मीला भी था। उधर उसकी भावुकता इस हद तक बढ़ी हुई थी कि उसके मन के भीतर बरफ की चोटियाँ—रहस्य और शिखरों की तरह—उठने लगी थीं।

इस तरह वह जन्मजात रहस्यवादी सिद्ध होता है। हिमालय का आकाश-चुम्बी सौंदर्य (आकाश चुम्बी हिमालय का सौन्दर्य नहीं) उसके लिए एक महान् संदेश बन जाता है। स्वर्गोन्मुख आनन्द और विराट् व्यापक आनन्द—सभी का भान उसे होने लगता है। हिमालय का सौन्दर्य तपःपूत पवित्रता की तरह (साधारण पवित्रता नहीं, तप से पवित्र हुई, पवित्रता, जल से धुले हुए जल की तरह) उसके हृदय पर प्रतिष्ठित हो जाता है। कितना महान् होगा वह कवि जिसे स्वयं हिमालय से ऐसी महान् काव्य-प्रेरणा मिली होगी ? 'स्वर्ण-किरण' में इसलिए कहा है--

'सोच रहा, किसके गौरव से
मेरा यह अन्तर जग निर्मित,
लगता तब हे प्रिय हिमाद्रि,
तुम मेरे शिक्षक रहे अपरिचित !'

यदि पंतजी किसी छोटे नदी नाले पर कविता लिखते जिससे उन्हें दूर-असल परिचय और प्रेम होता तो वह उनके हिमाद्रि-स्तवन से अधिक प्रभावशाली होती। हिमालय उनके लिए केवल एक कल्पना है, ऐसी परिचित वस्तु नहीं जिसका चित्रण वे आत्मीयता से कर सकें। अपने लिये एक द्रष्टा (प्रॉफेट) की भूमिका तय करके उन्होंने अपनी प्रौढ़ कल्पनाएँ शर्मीले-चंचल किशोर पर लाद दी हैं। ज्यादा साफ बात उन्होंने यह कही है कि फूल-पत्ते चिड़ियां वगैरह (उनकी 'वीणा'-काल की रचनाओं में) 'गुड़ियों और खिलौनों की तरह मेरी बाल-कल्पना की पिटारी को सजाये हुये हैं।' ('प्रतीक'—४)

'स्वर्ण-किरण' की उसी 'हिमाद्रि' कविता में वे सूचित करते हैं कि न जाने कब से वे हिमाद्रि को 'शब्दों के शिखरों में, चित्रित करने की सोच रहे थे। शब्दों के शिखरों का नमूना यह है कि हिमाद्रि को देखकर कवि की सौन्दर्य-साधना 'महाश्चर्य से विस्मित' हो गई! शब्द जब तक जड़ शिखर न बन जायं तब तक आश्चर्य से विस्मित होने की क्रियाएँ कैसे चित्रित हो सकती हैं!

यह बताने के बाद कि मधुऋतु में—

'मेरे शैशव को नित उसकी
गीत कोकिला रखती कूजित !'

यह यह भी कहते हैं कि वर्षा में इन्द्रचाप के पुल पर 'सुरबालाएँ आ जाती' थीं। शैशव-काल में सुरबालाओं की कल्पना देखने के लायक है। यही नहीं, यह जन्मजात कालिदास (डाल पर बैठकर उसे काटने का काम बाद का है) 'वाष्पों के गज' भी कल्पित कर लेता है। गुफाओं की गहरी छायाएँ 'ज्योतिरिंगणों से' 'गुंफित' हैं। मदन-दहन की भस्म हवा में उड़कर उसके शरीर को पुलकित करती है और सती उपर्णा के तप से वनश्री अवाक् और विस्मित-सी लगती है। (अवाक् और विस्मित का जोड़ा कालिदास में इजाफा है)।

'कुमार-संभव' और 'मेघदूत' के पाठक देखेंगे कि पंतजी के हिमाद्रि की अनेक चोटियाँ कालिदास के काव्यलोक में उठी हुई हैं और जिन 'शब्द-शिखरों से पंत जी अपनी 'महाश्चर्य से विस्मित' सौन्दर्य साधना को व्यक्त करते हैं, वे शब्द-शिखर भी अक्सर उसी लोक के हैं। सबसे रोचक बात यह है कि जिस 'वप्र क्रीड़ा परिणत गजघन' को पंतजी ने 'कूर्म सानु' पर उतरते देखा है, वह कविकुल गुरु द्वारा रामगिरि पर उतारा गया था—

'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्ट सानुं
वप्रक्रीड़ा परिणत गज प्रेक्षणीयं ददर्श'

लेकिन यह जरूरी थोड़े ही है कि मेघदूत के आरम्भ में वह मेघ रामगिरि पर था तो 'स्वर्ण किरण' के लिखते समय भी वहीं बैठा रहा हो!

हिमाद्रि के रहस्यवादी प्रभाव का यही रहस्य है। प्रौढ़ता के साथ जैसे-जैसे प्रॉफेट बनने की साध बढ़ती गयी, वैसे-वैसे हिमाद्रि के शिखर भी कल्पनालोक के आकाश की ओर ऊँचे उठते गये। यही कारण है कि वीणा, पल्लव, गुञ्जन में पाठकों को इस तरह का हिमाद्रि-स्तवन न मिलेगा। इस हिमाद्रि का दर्शन पंतजी ने कूर्मांचल प्रदेश में नहीं, पांडिचेरी में किया है।

पांडिचेरी ने उन्हें हिमालय ही नहीं, अपनी पहली रचनाओं को भी महाश्चर्य से विस्मित होकर देखना सिखा दिया है। 'परिवर्तन' कविता के लिए लिखा है— 'इस अनित्य जगत् में नित्य जगत् को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन में जैसे 'परिवर्तन' के रचनाकाल से प्रारम्भ हो गया था, परिवर्तन उस अनुसंधान का केवल प्रतीक मात्र है।' (केवल और मात्र का साथ अवाक् और विस्मित के जोड़ पर है।) लेकिन आधुनिक कवि की भूमिका में उन्होंने एक बात और भी स्वीकार की थी।

लिखा था: 'स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से, प्रकृति प्रेम के साथ ही, मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई। 'परिवर्तन' में इस विचारधारा का काफ़ी प्रभाव है। अब मैं सोचता हूँ कि प्राकृ-

तिक दर्शन, जो एक निष्क्रियता की हद तक सहिष्णुता प्रदान करता है, और एक प्रकार से प्रकृति को सर्वशक्तिमयी मानकर उसके प्रति आत्म-समर्पण सिखलाता है, वह सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।' (पृ० ४)

वह प्रभाव स्वास्थ्यकर नहीं रहा, इसमें तो अब किसी को संदेह हो नहीं सकता। तभी तो 'प्रतीक वाले लेख में अपना प्रोफेटवाला रूप कायम रखते हुए वह परिवर्तन की 'अहे महांबुधि' आदि अपनी पंक्तियों के लिए कह उठते हैं कि उनमें 'जैसे इन चालिस वर्षों का इतिहास आ गया है।'

पंक्तियाँ उद्धृत करने के बाद फिर कहते हैं:—मेरा जन्म सन् १९०० में हुआ है, और १९४७ में मैं जैसे इस संक्रमशील युग के प्रायः अर्द्ध-शताब्दी के उत्थान-पतनों को देख चुका हूँ।'

धन्य है वह कवि जो जन्मते ही उत्थान-पतनों को देखने लगा था। उन्हें देखने के बाद जो 'प्रोफेटिक' चेतना जागी, उससे भारत मही भी कृतार्थ हो गयी। तभी तो दूसरे महायुद्ध के पहले की एक रचना में उसका 'तुमुल घोष भी सुन लिया।'

मैं जागरण का कवि हूँ। भारत की जनता मूर्ख है। जागरण का संदेश देकर मैंने उसे चिर-उपकृत किया है। 'मेरा रचनाकाल' की हर पंक्ति से यही ध्वनि निकलती है। किसी को विश्वास न हो तो ध्वनि की तरफ कान न लगा कर शब्दों से मूर्तरूप को ही देख ले। युगवाणी के लिए लिखा है कि 'जनता के मन में जो अंध-विश्वास और मृत आदर्शों के प्रति मोह घर किये हैं, उसे छुड़ाने का प्रयत्न कर उन्हें नवीन जागरण का संदेश दिया है।

हिन्दुस्तान की जनता कितनी भी पिछड़ी हुई हो, वह किसी दूसरे की रोटी के सहारे नहीं जीती। हिन्दुस्तान का पिछड़ा से पिछड़ा हुआ किसान पंतजी से ज्यादा दर्शन समझता है। वह ईमानदार है, इसलिए रामनामी के नीचे कामशास्त्र नहीं छिपाता और सजीव भाषा का प्रयोग तो वह इन्हें युगों तक सिखा सकता है।

लेकिन पिछड़ी हुई जनता के अलावा जनता का एक आगे बढ़ा हुआ हिस्सा भी है। इस हिस्से ने बम्बई में गोरी फौज के मुकाबले में सड़कों पर बेरीकेड बनाये थे; इस हिस्से ने कानपुर-कलकत्ता और कोयम्बटूर में महीनों तक जानमारू हड़तालों में पूंजीपतियों से लोहा लिया था; इस हिस्से ने हैदराबाद की चालीस लाख आबादी को निजाम के नरक से आजाद किया, उस समय जब कि पंत जी के उपचेतन-वीर 'if and when necessary' (जब और अगर जरूरत पड़ी) से आगे नहीं बढ़ पा रहे थे।

अगर पंतजी का दर्शन उन्हें कुछ भी दिखाने की क्षमता रखता है तो

उन्हें इस अग्रसर जनता को देखना चाहिए; अपने हृदय में हिमालय के हवाई शिखरों के बदले इस लड़ाकू क्राँतिकारी जनता को जगह देनी चाहिये।

अगर पंतजी का दर्शन उन्हें कुछ भी दिखाने की क्षमता रखता है तो उन्हें इस अग्रसर जनता को देखना चाहिये; अपने हृदय में हिमालय के हवाई शिखरों के बदले इस लड़ाकू क्रान्तिकारी जनता को जगह देनी चाहिये और उसे अपना संदेश सुनाने के पहले कुछ उसकी भी सुन लेनी चाहिये।

पंतजी की नवीन कृतियाँ बताती हैं कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और कथित अध्यात्मवाद में कोई समन्वय नहीं हो सकता। इस समन्वय का अपना एक तर्क अपना एक नियम है जो उसे एक निश्चित परिणाम तक पहुंचाता है। जिस तरह ज्ञान और अज्ञान में कोई समन्वय नहीं हो सकता, उसी तरह मजदूरों के क्रान्तिकारी दर्शन मार्क्सवाद और सामन्ती तथा पूंजीवादी आदर्शवाद में कोई समन्वय नहीं हो सकता।

समन्वय के इस व्यूह में घुसकर पंत जी ने पूरी तरह मार्क्सवाद को अस्वीकार करके ही दम लिया है। सर्वहारा वर्ग और उसके सहायक गरीब किसानों को त्याग का उपदेश देने के सिवा उनके पास कुछ नहीं रहा। आर्थिक और राजनीतिक रूप से यह समन्वय वर्ग-सहयोग के सिद्धान्त के अलावा और कुछ नहीं है।

इस कटु सत्य को रुचिकर बनाने के लिये उस पर भक्ति की चाशनी चढ़ाई गयी है। ट्रूमैन की ईसाइयत से ज्यादा महत्व इस कीर्तन का नहीं है। विश्वव्यापी संकट में पड़ा हुआ पूँजीवाद इस समय अल्ला-अल्ला करने के अलावा और कुछ कर भी नहीं सकता। फिर पंतजी की भक्ति कितनी पवित्र है, वह इसी से प्रकट है कि वह जघनों के मानिकसर में अवगाहन करके आई है।

जैसी अनैतिक यह भक्ति-शृंगार की मैत्री है, वैसी ही छिछली और अनगढ़ पन्तजी की कला है। शब्द-चयन में ही नहीं, कविताओं के गठन में भी यही अनगढ़पन दिखाई देता है। पुनरावृत्ति की तो भरमार है। एक ही बात को पचास बार कहेंगे, लेकिन एक बार भी ढंग से नहीं। शायद इसीलिये पचास बार कहने की जरूरत पड़ती है। अलंकारों में या तो कालिदास का माल उड़ाया गया है या अपने ही पुराने बर्तनों पर फिर से कलई की गई है।

हिन्दुस्तान में यह बड़े-बड़े परिवर्तनों का युग है। इन परिवर्तनों को देश या विदेश की कोई भी ताकत देर तक रोके नहीं रख सकती। जिस औपनिवेशिक व्यवस्था को अँग्रेज़ दो सौ साल से कायम किये हुये थे, वह झटके खाकर जगह

जगह से टूटने लगी है। उसमें पैवन्द लगा कर जनता को बहलाया नहीं जा सकता।

ऐसी दशा में बुद्धिजीवी किसका साथ देंगे? हमारे कवि और साहित्यकार जनवादी आन्दोलन और उसका हिंसक दमन करने वालों में किससे नाता जोड़ेंगे?

इन दोनों में से किसी एक का साथ देने के अलावा तीसरी गति नहीं है। क्रान्तिकारी जनता और निहित स्वार्थों के बीच संघर्ष छिड़ने पर यह सोचना कि हम तीसरे दल के साथ रहेंगे, जनता को धोखा देना और प्रतिक्रियावादियों का साथ देना है।

पंतजी की रची हुई मरीचिका में फँसकर हमारे साहित्य की प्रगति असंभव है। साहित्य का भविष्य जनवादी आन्दोलन के साथ, भारत में सच्चे जनतंत्र के कायम होने के साथ, जुड़ा हुआ है। उस जनतंत्र को कायम करने में, प्रतिक्रियावादी शक्तियों को निर्मूल करने में, साहित्य एक महान् और गौरवपूर्ण साधन है।

केवल वे लोग जिन्हें जनता में विश्वास है, जिन्हें जनवादी आन्दोलन की विजय में विश्वास है, जिन्हें जनता के संघर्ष से प्रेरणा मिल सकती है और जो इस प्रेरणा से लाभ उठाकर जनता को उत्साहपूर्ण साहित्य दे सकते हैं, वही इस युग में श्रेष्ठ कला को जन्म दे सकते हैं।

स्थायी साहित्य, सुंदर साहित्य, ऐसा साहित्य, जिसे जनता युगों तक अपने हृदय में स्थान दे, कायर, अनैतिक और सिद्धान्तहीन व्यक्तियों की रचना नहीं हो सकती। कला और सामाजिक जीवन का सामंजस्य यहाँ होता है; जनता के संघर्ष से दूर रहकर वह सुलभ नहीं होता। और इसमें किसे संदेह हो सकता है कि हमारा साहित्य इस संघर्ष को चित्रित करने के साथ-साथ जनता की विजय के लिए और अंत में समाजवाद की स्थापना के लिए एक महान् प्रेरक शक्ति भी बनेगा।

विजयेन्द्र स्नातक

'उत्तरा' में पन्त का अध्यात्मवाद

'उत्तरा' में पन्त का आत्मोन्मुख विकास एवं परोक्ष में झाँकने का आग्रह द्रष्टव्य है, किन्तु उसमें वर्णित अध्यात्मवाद ब्रह्म-विद्या की मीमांसा अथवा किसी निगूढ़ दार्शनिक तत्त्व की व्याख्या नहीं है। वस्तुतः आज का जागरूक कलाकार युग-चेतना की उपेक्षा करके सूक्ष्म पारलौकिक तत्त्व की मीमांसा से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, अतएव उन्होंने अध्यात्मवाद अथवा आत्मिक-विकास को एक नवीन सांस्कृतिक-चेतना के रूप में स्वीकार किया है; जिसमें अन्तश्चैतन्य की परिणति है। प्रस्तुत लेख में कवि की श्रेय-प्रेय, साथ ही अंतरंग एवं बहिरंग मान्यताओं का सफल निर्दर्शन हुआ है, जो पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

'उत्तरा' कविवर पन्त की अभिनव काव्य कृति है। मनन और चिन्तन के विश्व सूत्र में आबद्ध भावपूर्ण स्फुट कविताएँ इस संग्रह में संकलित हैं। अधिकांश कविताओं में चिन्तन प्रधान अध्यात्मवाद को—जो प्रायः दर्शनक्षेत्र का विषय माना जाता है—गीतिकाव्य की सरस एवं मनोरम शैली से प्रस्तुत किया गया है। इन कविताओं में जो भाव-सामग्री कवि ने एकत्र की है उसमें किसी शास्त्रीय परम्परा-मुक्त प्रणाली की सिद्धान्त चर्चा का आग्रह न होकर एक नूतन दृष्टि-बिन्दु से अध्यात्म भाव की स्थापना की गई है। इस नूतन विचारधारा का उद्गम-स्रोत कहाँ है यह जानने के लिए कवि की जगत् और जीवन विषयक मान्यताओं का विश्लेषण आवश्यक है।

चिर अतीत से रूढ़ अध्यात्म भावना के क्षेत्र, गूढ़-गहन दार्शनिक ग्रन्थ या ब्रह्म-विद्या के उपदेष्टा ऋषि-मुनि माने जाते रहे हैं। ध्यान, धारणा, समाधि आदि उनके साधन और ब्रह्म-प्राप्ति उनका साध्य है। 'उत्तरा में अध्यात्मवाद' शीर्षक देखकर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या 'उत्तरा' में वर्णित अध्यात्मवाद भी ब्रह्म-विद्या की मीमांसा है या वह किसी निगूढ़ दार्शनिक तत्व या सैद्धान्तिक मतवाद की पुष्टि करने वाला काव्य है? उत्तर में निवेदन है, नहीं। 'उत्तरा' का अध्यात्म तत्व न तो किसी शास्त्रीय दार्शनिक सिद्धान्त का प्रत्यक्ष में पोषक है और वह प्रच्छन्न में किसी साम्प्रदायिक धार्मिकता में विश्वास रखता है। उसका विषय मानवात्मा के विकास से सम्बद्ध होने पर भी आत्मा की औपनिषदिक व्याख्या करना नहीं है। स्वस्थ-मानव-विकास के सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर कोई भी जागरूक साहित्यिक आज ऐसे सूक्ष्म पारलौकिक विषय-वर्णन से परितुष्ट नहीं हो सकता जो इस लोक की स्थूल एवं प्रकृत समस्याओं की सर्वथा अवहेलना करके हमें उस लोक की झाँकी दिखावे जो हमारी भावना या अनुभूति में कम और कल्पना में अधिक रहता है। युग-संस्कृति और युग चेतना की उपेक्षा करके कोई भी कलाकार अध्यात्म-पथ को प्रशस्त नहीं कर सकता। 'उत्तरा' का क्रान्त-दर्शी कवि इस तथ्य से पूर्णतया अभिज्ञ है, इसीलिए युग-चेतना की सुदृढ़ भूमि पर पाँव जमाकर ही अध्यात्म के पथ पर चलता है। दार्शनिक अद्वैतवाद या ब्रह्म चिन्तन की परिपाटी से तथा कथित अध्यात्मवाद का पोषण उसका ध्येय नहीं है। अपने गीतों के शीर्षकों में ही उसने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है। विषयानुरूप

शीर्षकों के चयन से ही कवि अपनी मौलिकता की छाप डालकर स्वाभिप्राय की ओर इंगित कर देता है।

'उत्तरा' में पन्त जी ने जिस प्राकृत अध्यात्म को गुम्फित किया है उसके उपादान क्या हैं? किन विचारात्मक उपादानों को लेकर उन्होंने काव्य-सृष्टि की? इस प्रश्न का उत्तर हम स्रष्टा के शब्दों से प्रारम्भ करें तो बात को साफ़ तौर से प्रस्तुत करने में आसानी होगी। 'उत्तरा' के अंचल में कवि ने भूमिका रूप में जिन शब्दों को बाँधा है वे कवि के उत्तरा-गत दृष्टिकोण एवं काव्य-चेतना को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं कहे जा सकते—कारण, उन शब्दों में परिष्कार या स्पष्टीकरण की वह ध्वनि प्रबल हो गई है जो प्रतिवाद की भावना से अनुप्राणित होती है। [जब लेखक स्वयं वादी की स्थिति से हटकर प्रतिवादी बन जाता है, तब स्वभावत: उसे या तो परिष्कार का आश्रय लेना पड़ता है या वादी के आक्षेपों के निराकरण की छाया में स्वमन्तव्यों की स्थापना करनी होती है। उत्तरा की भूमिका में पन्त जी की स्थिति लगभग ऐसी ही है।]

फिर भी, जो विचार प्रस्तावना में व्यक्त किये गये हैं उनकी प्रामाणिकता इस दृष्टि से अपरिहार्य है कि वे अपनी कृति के सम्बन्ध में 'कर्त्ता' या स्रष्टा के अपने विचार हैं। पन्त जी ने अपनी नवीन रचनाओं का ध्येय 'युगचेतना को अपने यत्किंचित् प्रयत्नों द्वारा वाणी देना'—कहा है। वे युग की प्रगति की धाराओं का क्षेत्र वर्ग-युद्ध की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत तथा ऊर्ध्व मानते हैं। उनका विश्वास है कि "युग पुरुष को पूर्णत: सचेष्ट करने के लिए लोक संगठन के साथ गांधीवाद की पीठिका बनाकर यदि मन: संगठन (संस्कार) का भी अनुष्ठान उठाया जाय और मनुष्य की सामाजिक चेतना (संस्कृति) का विकसित विश्व परिस्थितियों के अनुरूप नवीन रूप से सक्रिय समन्वय (?) किया जाय तो वर्तमान के विक्षोभ के आर्त्तनाद तथा क्रान्ति की क्रुद्ध ललकार को लोक-जीवन के संगीत तथा मनुष्यता की पुकार में बदला जा सकता है।" आगे वे फिर उसी अटल विश्वास के स्वर में कहते हैं कि 'इस युग के क्रान्ति विकास सुधार-जागरण के आन्दोलनों की परिणति एक नवीन सांस्कृतिक चेतना के रूप में होना अवश्यम्भावी है, जो मनुष्य के पदार्थ, जीवन मन के सम्पूर्ण स्तरों का रूपान्तर कर देगी तथा विश्व जीवन के प्रति उसकी धारणा को बदल कर सामाजिक सम्बन्धों को नवीन अर्थ गौरव प्रदान करेगी। इसी सांस्कृतिक चेतना को मैं अन्तर्चेतना या नवीन सगुण (?) कहता हूँ।" पन्त जी जनवाद को बाह्य रूप में ही न देख कर उसे भीतरी मानव-चेतना के रूप में भी देखते हैं और जनतंत्रवाद की आन्तरिक (आध्यात्मिक) परिणति को ही वे 'अन्तर्चेतनवाद' अथवा 'नव मानववाद' कहते हैं। दूसरे शब्दों में—'जिस विकास का भी चेतना को हम संघर्ष

के समतल धरातल पर प्रजातंत्रवाद के नाम से पुकारते हैं, उसी को ऊर्ध्व सांस्कृतिक धरातल पर (पन्त जी) अन्तर्चेतना एवं 'अन्तर्जीवन' कहते हैं। उनकी स्थापना है कि वर्तमान युग के जड़ तथा चेतन का संघर्ष इसी अन्तर्चेतना या भावी मनुष्यत्व के पदार्थ के रूप में सामंजस्य ग्रहण कर उन्नयन को प्राप्त हो सकेगा। मार्क्सवाद में विश्वास करने वाले यदि वर्गहीन समाज की कल्पना कर सकते हैं तो साथ ही साथ पन्त जी 'मानव-अहन्ता के विधान की भी नवीन चेतना के रूप में परिणति सम्भव समझते हैं।' उनका परितोष राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक सुधार जागरणों के आन्दोलनों तक ही सीमित नहीं, उनका तो विश्वास है कि इन समस्त बाह्य (समतल) आन्दोलनों और वादात्मक क्रान्तियों की चरम परिणति एक व्यापक सांस्कृतिक चेतना के रूप में होना अवश्यम्भावी है। इस सांस्कृतिक चेतना के मूल में सूक्ष्म मनस्तत्व के व्यापक भाव तथा अन्तर्जीवन के विकास-बीज निहित हैं। संक्षेप में इन्हीं बीजों को हम उनके अध्यात्म-वृत्त के बीज कहते हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर जीवन के दो रूप हैं। जब तक जीवन बहिर्मुखी होकर भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में संलग्न रहता है तब तक पदार्थ ही उसका प्राप्य एवं काम्य रहता है। यह पदार्थ या 'मैटर' केवल स्थूल वस्तु मात्र का सूचक नहीं वरन् यह अपने विस्तार की परिधि में उन समस्त आन्दोलनों, वादों और सिद्धान्तों को समेटे रहता है जो राजनीतिक हलचल या क्रान्ति के द्वारा समाज या व्यक्ति को ऐहिक सुख पहुँचाने का दावा करते हैं। अभ्यन्तर या अन्तर्मुखी जीवन का विकास पदार्थमात्र की उपलब्धि से नहीं हो सकता। उसके लिए जीवन के स्थूल, भौतिक समतल मानों को छोड़ उर्ध्व संचरण शील बनना पड़ेगा। इस उर्ध्व संचरण के लिए हमें जीवन के समस्त बाह्य आन्दोलनों को एक नूतन सांस्कृतिक धारा में परिवर्तित करना होगा, जीवन की इन बहिरन्तर मान्यताओं का प्रकृत समन्वय ही मानव-विकास का सोपान है। उपनिषदों की पारिभाषिक शब्दावली में इस अध्यात्म तत्व का विशद वर्णन प्रस्तुत कर पन्त जी की उत्तरा-गत विचार सामग्री को हम प्राचीनता के आवरण में नहीं ढकना चाहते, फिर भी भाव-साम्य की ओर इंगित करने के उद्देश्य से कठोपनिषद् की दूसरी वल्ली की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करते हैं जिसमें समतल मान और उर्ध्व-मान के लिए क्रमशः प्रेय और श्रेय शब्दों का प्रयोग किया गया है और प्रेय से श्रेय की उत्कृष्टता बताई गई है।

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि-प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥"

कठोपनिषद्।

यद्यपि उपनिषदों में इन दोनों मार्गों के वर्णन में हीनता-उच्चता का स्पष्ट संकेत है, किन्तु पन्तजी ने ऊर्ध्व और समतल मार्गों में समन्वय स्थापित करके नवीनता की सृष्टि की है। व्यक्ति और समाज दोनों के विकास को लक्ष्य मानकर चलने पर जीवन की बहिरन्तर मान्यताओं का सामंजस्य अनिवार्य हो जाता है। पन्तजी ने जीवन के इस समन्वित रूप का विशद वर्णन 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्ण किरण' में अनेक स्थलों पर किया है। 'उत्तरा' में यह समन्वयवाद अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म रूप में वर्णित है। कवि ने अपनी बहिरन्तर मान्यताओं की इस समन्वय भावना को आध्यात्मिक नींव पर खड़ा किया है। उसका अटल विश्वास है कि "केवल राजनीतिक आर्थिक हलचलों की बाह्य सफलताओं द्वारा ही मानव जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के सभी आन्दोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए संसार में एक व्यापक 'सांस्कृतिक आन्दोलन' को जन्म लेना होगा जो मानव-चेतना के राजनीतिक आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सम्पूर्ण धरातलों में मानवीय सन्तुलन तथा सामंजस्य स्थापित कर आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा। भविष्य में मनुष्य के आध्यात्मिक तथा राजनीतिक संचरण—प्रचलित शब्दों में धर्म, अर्थ, काम—अधिक समन्वित हो जायेंगे और उनके बीच के व्यवधान मिट जायंगे।"

उत्तरा के प्रथम गीत में ही कवि ने इस परिवर्तन की ओर इंगित करके बहिर्जगत् के विस्तार एवं अन्तर्जीवन के विकास की कामना प्रकट की है:—

"बदल रहा अब स्थूल धरातल, परिणत होता सूक्ष्म मनस्तल,
विस्तृत होता बहिर्जगत् अब, विकसित अन्तर्जीवन अभिमत।"

'निर्माणकाल' शीर्षक गीत में भी इसी भाव को अभिव्यक्त किया गया है:—

'यह रे भू का निर्माण काल हँसता नव जीवन अरुणोदय,
ले रही जन्म नव मानवता अब खर्व मनुजता होती क्षय!'

इस प्रकार के भाव को ध्वनित करने के लिए कवि ने अनेक कविताएँ लिखी हैं। 'युग विषाद' 'युगछाया' 'युगसंघर्ष' 'जागरण गान' 'गीत विहग' 'उद्बोधन' आदि कविताओं में जन्म लेती हुई जिस नव-मानवता की ओर संकेत किया है उसकी पृष्ठभूमि में आध्यात्मिकता का गंभीर पुट है। उसे हृदयंगम करने के लिए सहृदय को वैसे ही मानस-आवेष्टन की आवश्यकता है जैसे आवेष्टन में कवि ने उसे अंकित किया है। इसके साथ ही—एक बात और ध्यान में रखनी होगी कि इनमें एक प्रकार का उच्चकोटि का मानसिक अध्याहार भी है उसे ग्रहण किये बिना कविता को अन्तस्तल में पैठना संभव न होगा। जड़वादी भौतिकता का आधिक्य अग्राह्य है उसे दूर करके ही चेतना का स्वस्थ विकास संभव है—

'भौतिक द्रव्यों की घनता से चेतना भार लगता दुर्वह,
भू जीवन का आलोक ज्वार युग मन के पुलिनों को दुःसह !
चेतना पिंड रे भू गोलक युग युग के मानस से आवृत,
फिर तप्त स्वर्ण सा निखर रहा वह मानवीय बन सुरदीपित !'

अपनी इस आध्यात्मिक भावना के प्रसंग में कवि ने जिन विषयों का मुख्य रूप से वर्णन किया है वे हैं मानववाद, आदर्शवाद, आस्तिकवाद, अतीत प्रेम, रूढ़ि और अन्धविश्वासों के प्रति विद्रोह, तथा प्रकृति के कतिपय रमणीय रूप ।

'मानववाद' का पोषण पन्त जी की रचनाओं में बहुत प्रारम्भ से दृष्टिगत होता है, उसके वर्णन में उन्होंने पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विचारों का सुन्दर समन्वय किया है । पाश्चात्य देशों में युद्ध-संघर्ष से संत्रस्त कलाकारों ने विश्व-बन्धुत्व की पुकार मचाई, उसकी प्रतिध्वनि हमारे देश में गूँजी और काव्य का विषय बनी । पन्त ने उस ध्वनि का अनुकरण मात्र न करके उसमें माधुर्य का संचार किया । 'मनोमय' शीर्षक कविता में मन की प्रकृत दशा के रूप अंकित करते हुए मानवता में कवि भव-विकास देखता है:—

'मानव अन्तर हो भू विस्तृत नव-मानवता में भव विकसित ।
जन मन हों नव चेतना ग्रथित, जीवन शोभा हो कुसुमित हे
फिर दिशि क्षण में !
तुम देव, बनो चिरदया प्रेम जनजन में, जग-मंगल हित हे !'

सार्वभौम मानववाद की स्थापना के बाद संसार में जाति, धर्म, वर्ग, ऊँच, नीच आदि के समस्त भेद तिरोहित हो जाते हैं । किन्तु क्या ऐसे मानववाद की स्थापना स्वप्न की सीमाओं को छोड़ कभी सत्य भी बनेगी ? 'उत्तरा' का आशावादी कवि इसका वर्णन ऐसे करता है जैसे वह उसे 'हस्तामलकवत्' स्पष्ट दीख रही है ।

'तुम क्या रटते थे, जाति, धर्म, हाँ वर्ग युद्ध, जन आन्दोलन,
क्या जपते थे, आदर्श नीति—वे तर्कवाद अब किसे स्मरण !'

'मानववाद' के सिद्धान्त में विश्वास करने पर 'मानव-ऐक्य' की ही भावना सुदृढ़ नहीं होती वरन् मानव के देवत्व रूप में भी विश्वास उत्पन्न होता है । वह देवत्व अलौकिक न होकर लौकिक है—गाँधी के रूप में देवत्व का विकास मानव का ही रूप है ।

'अब मनुष्यत्व से मनोमुक्त देवत्व रहा रे शनैः निखर,
भू मन की गोपन स्पृहा स्वर्ग फिर विचरण करने को भू पर!'

× × × ×

'देवों को पहना रहा पुनः मैं स्वप्न माँस के मत्य वसन,
मानव आनन से उठा रहा अमरत्व ढँके जो अवगुंठन !'

उपर्युक्त उद्धरणों को पढ़कर यह नहीं कहा जा सकता कि पन्त जी का 'मानववाद' पाश्चात्य देशों का अनुकरण है। उसमें तो एक ऐसी आध्यात्मिकता है जो उन देशों में पनपती ही नहीं।

वर्ग-संघर्ष तथा राजनीतिक हलचलों के मूल में एक ओर जहाँ स्वार्थपरता और सामाजिक विषमता होती है वहाँ दूसरी ओर मानव का 'अहंकार' या 'अहम्' भी होता है। यदि इस अहंभाव को प्रेरक कहा जाय तो भी अनुचित न होगा, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में भी इसकी स्थिति असंदिग्ध है। इसको निर्मूल करने का विधान सभी वादों और जागरण आन्दोलनों में रहता है, किन्तु इसे जीतना है कठिन। कविवर पन्त ने इस 'अहं' को प्रीति में निमज्जित करने का उपाय बताते हुए इसके शमन की आकांक्षा प्रकट की है:—

'कामना वह्नि से दहक रहा भूधर सा भू का वक्षःस्थल,
तुम अमृत प्रीति निर्झर से फिर उतरो, हो ताप आंसल शीतल !
युग युग के जितने तर्कवाद मानव ममत्व से वे पीड़ित,
तुम आओ सीमा हो विलीन, फिर मनुज अहं हो प्रीति द्रवित !"

'गीत विभव' कविता में 'कब विस्तृत होगा मनुज अहं' इसी भाव की ओर संकेत कर रहा है।

वर्तमान युग के युद्ध-संघर्षों को पन्त जी भौतिकता का प्रसाद समझते हैं, उनकी मान्यता है कि विद्युत, वाष्प और अणुशक्ति के ध्वंसात्मक उपयोग आज के संकीर्ण मनुज की परवशता हैं। नवयुग के अरुणोदय से पूर्व यह काल रात्रि का जैसे अन्ध तमस है। नव क्रान्ति के साथ इसे छिन्न भिन्न होते देर न लगेगी। पन्त जी की यह इच्छा, काश, चरितार्थ हो सकती। किन्तु इच्छामात्र से कार्य सिद्धि कभी संभव नहीं। जैसे सांस्कृतिक आरोहण और जीवन के ऊर्ध्व मान पन्त जी के अभिप्रेत विषय हैं वैसे ही मानववाद भी, किन्तु इसे क्या कभी हम सफल होता देख सकेंगे ?

पन्त जी के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए उनकी संस्कृति, शाश्वत-सत्य और शिवत्व विषयक धारणाओं का जानना आवश्यक है। संस्कृति का स्पष्टीकरण करते हुए पन्त जी ने लिखा है—"संस्कृति को मैं मानवीय पदार्थ मानता हूँ जिसमें हमारे जीवन के सूक्ष्म-स्थूल दोनों धरातलों के सत्यों का समावेश तथा हमारे ऊर्ध्व चेतना शिखर का प्रकाश और समदिक् जीवन की मानसिक

उपत्यकाओं की छायाएँ गुम्फित हैं। + + 'अतएव संस्कृति को हमें अपने हृदय की शिराओं में बहने वाला मनुष्यत्व का रुधिर कहना चाहिए, जिसके लिए मैंने अपनी रचनाओं में सगुण, सूक्ष्म संगठन तथा मनः संगठन तथा लोकोत्तर, देवोत्तर मनुष्यत्व आदि का प्रयोग किया है।'

शाश्वत-सत्य के विषय में पन्त जी किसी एकांगी दृष्टिकोण के समर्थक नहीं। जड़ और चेतन, क्षर और अक्षर, अनन्त और सान्त दोनों में ही सत्य की प्रतिष्ठा उन्होंने की है। अद्वैत परिभाषा में इसके भिन्नार्थ भी संभव है। प्रतीत ऐसा होता है कि जैसे पन्त जी इसमें समन्वयवाद की स्थापना करना चाहते हैं—

वे लिखते हैं—

'फिर भी यदि जड़ता तुमको प्रिय,
उनको चेतनता, दुख नितान्त।
है सत्य एक, जो जड़ चेतन,
क्षर, अक्षर, परम, अनन्त सान्त!'

शिव-तत्व की शोध भी हमें मात्र भौतिकवाद में न करके, जहाँ भौतिक ज्ञान-विज्ञान का सारा कोष रिक्त हो जाता है वहाँ भी करनी चाहिए! पन्तजी को योगी अरविन्द के जीवन में इस शिवतत्व का सर्वाधिक आभास मिला। विश्व कल्याण के लिए वे श्री अरविन्द को इतिहास की सबसे बड़ी देन मानते हैं 'उनके सामने इस युग के वैज्ञानिकों की अणु शक्ति की देन भी अत्यन्त तुच्छ है।' इस कथन में भारतीय अध्यात्म-पथ की कोरी प्रशंसा है या तथ्य-कथन, इसका निर्णय करना आज के बुद्धिवादी युग में कुछ सरल नहीं है। मार्क्सवादी विचार-धारा के लोग तो पन्त जी की इस उक्ति पर व्यंग की सूखी हँसी हँस देंगे।

इसी प्रसंग में हम पन्त जी के अतीत प्रेम का भी उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। भारत के अतीत का गौरव गान करते हुए उन्होंने उसकी आध्यात्मिक निधि को सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। उनका विश्वास है कि भारत का व्यक्तित्व अपराजित है और उसकी मानस-निधि बेजोड़ है। हिन्दी साहित्य में द्विवेदी-युग के कवियों ने भी अतीत का गौरव गान किया था, किन्तु वह स्थूल पार्थिव वैभव और पराक्रम का यशोगान मात्र था। पन्त जी ने भारत की अन्तरात्मा में समाविष्ट अध्यात्म तत्व की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उनका मत है कि 'भारत का दान विश्व को राजनीतिक तन्त्र या वैज्ञानिक यन्त्र दान नहीं हो सकता; वह संस्कृति तथा विकसित मनोविज्ञान की ही भेंट होगी।'

'ग्रहण करे फिर असिधारा व्रत, भारत के नवयौवन,
धरा चेतना में अब फिर से छिड़ा तुमुल आन्दोलन!

'उठे जूझने विश्व समर में दुर्धर लोक चेतना के युग शिखर भयंकर,
विश्व सभ्यता रुग्ण, हृदय में व्याप्त हलाहल भीषण,
अमृत मेघ भारत क्या छिड़केगा न प्राण संजीवन ?'

पन्तजी के इस अतीत प्रेम को देखकर यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि वे आज के युग-जीवन को अतीत-भारत के विधि-निषेधों में बाँधकर चलाने की प्रेरणा करते हैं। उनकी बाह्य मान्यताओं में पश्चिम का जीवन-सौष्ठव तथा जीवन-दर्शन में भारतीयता की स्पष्ट माँग है। जीर्ण-शीर्ण, पुरातन गमरूत, रूढ़िग्रस्त अन्धविश्वासों के समूलोच्छेद के लिए कवि का मन आतुर है।

'तुम खोलो जीवन बंधन, जन, मन बंधन !
जीर्ण नीति अब रक्त चूसती जग का,
सदाचार शोषक मन के निर्धन का,
स्वार्थी पशु मुख पहने मानवपन का,
तुम छेड़ो अब अन्तर रण, मन हो प्रांगण !'

इसी ध्वनि को तीव्र करते हुए आगे कहते हैं कि 'रीति-नीति के पुलिन डुबाकर, घुमड़े वाष्पों के उर अंबर'—'रूपान्तर' कविता में तो कवि ने प्रगतिवादी भावना की गूँज इतनी ऊँची कर दी है कि उसका अन्तर्द्वन्द्व और सजीव होकर बोल उठा है। 'छिन्न करो जड़ पाश पुरातन, मग्न करो प्राणों के बन्धन, गत आदर्शों की बाँहों से—मुक्त करो अब जीवन !' इस कविता को पढ़कर पन्तजी की नवीन रचनाओं के प्रति मार्क्सवादी विचारधारा के आलोचकों द्वारा लगाये गये आरोप नहीं टिक पाते। इनमें न तो अन्तर्मन की पुकार है और न भारतीयता के नाम पर किसी प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति का पोषण। डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि "पन्तजी के समन्वयवाद का वास्तविक रूप यह है कि वह अपने अधिकारों के लिए लड़ने वाली जनता को अन्तर्मन की घूँटी पिलाते हैं। भारतीयता के नाम पर उसे पूँजीपतियों की गुलामी करना सिखाते हैं और मार्क्सवाद का सामने से मुकाबला न करके दरअसल उसकी जगह धार्मिक अन्धविश्वासों को प्रतिष्ठित करते हैं।" उक्त कथन के जवाब में 'उत्तरा' की 'युग संघर्ष' 'रूपान्तर' 'निर्माणकाल' 'उद्बोधन' आदि अनेक कविताएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। इनके भाष्य या टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। उत्तरा का कवि जागरण-आन्दोलनों में संलग्न जनता को पथ-भ्रष्ट करने की प्रेरणा से काव्य सृष्टि में लीन नहीं हुआ है—हाँ, वह भौतिकता के अतिवाद से उद्विग्न होकर समाज में ऐसी वर्गहीनता चाहता

है जिसकी प्रतिष्ठा अन्तरैक्य पर हो। 'उत्तरा' की भूमिका के पृष्ठ बाईस-तेईस इसके स्पष्टीकरण हैं।

'उत्तरा' में आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में कवि ने अपनी चिर-अभ्यस्त मधुर शैली को—जिसके प्रसाधन में शृंगारिक कल्पनाएँ, उपमा और उत्प्रेक्षाओं का बाहुल्य रहता है—छोड़ा नहीं है। जघन, नाभिगर्त, उरोज, पृथुश्रोणी आदि उपमानों के साथ शृंगार की तरल रंगीनी इन कविताओं में स्थान-स्थान पर उभर आयी है। उन्हें देखकर ही कदाचित् आलोचकों ने कहा है कि अब भी पन्तजी की कविताओं में 'अतृप्त वासना के सूखे बादल मँडरा रहे हैं।' इस रिमार्क पर मेरा विनम्र निवेदन है कि काव्य की शैली की प्रभ-विष्णुता को ध्यान में रखकर भी इन उपमानों में वासना की गन्ध पा लेना या तो पक्षपात का सूचक है या फिर घ्राण शक्ति का दोष। 'कान्तासम्मित' सुरुचि-पूर्ण मार्ग जैसा काव्य में पन्तजी का है कदाचित् हिन्दी के किसी कवि का नहीं। 'उत्तरा' चिन्तन-मूलक कविताओं का संग्रह होने पर भी दुरूहता और दुर्बोधता के गम्भीर आरोप से बहुत कुछ बचा रहा है, इसका मात्र कारण उनकी सरस शैली ही है। प्रकृति के चित्रोपम वर्णन करके भी कवि ने अध्यात्म के शुष्क विषय में सरसता का संचार किया है। जिस व्यक्ति की समस्त कृतियों के मूल में नैतिकता के प्रति दृढ़ अनुराग और आग्रह रहा है उसे 'वासना के सूखे बादलों' से घिरा कहना या तो किसी पाश्चात्य मनोविज्ञान शास्त्री का अवचेतन सिद्धान्त है या स्वयं आलोचक में सहानुभूति तत्व की कमी।

पन्त जी ने नवनवोन्मेषशाली प्रतिभा और अजेय कल्पना शक्ति लेकर काव्य क्षेत्र में प्रवेश किया। प्रारम्भ में कल्पना के अतिरंजित चित्र उन्होंने अंकित किये, उसके बाद वे अनुभूति के क्षेत्र में उतरे और आज चिन्तन जगत् में लीन रहकर अध्यात्मवाद की ओर अग्रसर हो रहे हैं। पन्तजी की यह विशे-षता है कि अमूर्त, छायाभावों का अंकन वे इस शैली से करते हैं कि अस्पष्ट कहे जाने वाले भाव भी दमकते हुए अपनी आभा का ज्ञान कराते रहते हैं।

संक्षेप में, 'उत्तरा' को आज ही नहीं, आज से शताब्दियों बाद भी यदि कोई पढ़ेगा तो उसे लगेगा कि यह कवि अपने काव्य-कौशल और जीवन-दर्शन के आधार पर मनोरम काव्य-सृष्टि ही नहीं कर रहा था वरन् वह मानव जाति के पुनरुत्थान के लिए युग-निर्माण भी कर रहा था। उसकी सरस वाणी मानव को स्थूल जगत् के सम्बन्धों से ऊपर उठाकर अन्तः-साधना में भी लीन कर रही थी। विकासोन्मुख काव्य के प्रणेता ने वर्ग-संघर्ष और सांसारिक भोग तक ही अपने को सीमित नहीं रखा—वरन् इन्द्रियों की गिदशाला में मिटने वाले मर्त्यों

को उसने संजीवन शक्ति का आस्वाद करा कर अमरत्व प्रदान किया। युग-जीवन की गतिविधि को उसने उन उपयुक्त स्थलों पर घुमाव दिया जब वह विनाश के विकराल मुँह में समाई जा रही थी। उसने मानवता को नाश के स्थान पर निर्माण का, जड़ के स्थान पर चेतन का, विषमता के स्थान पर समता का, अनैक्य के स्थान पर ऐक्य का, घृणा के स्थान पर प्रेम का और भूत-शक्ति के स्थान पर आत्मशक्ति के पुनरुत्थान का सन्देश दिया।

शचीरानी गुर्टू

पंत और शेली

शेली के मनोवेगों का विस्फोट भयंकर है, पंत में अपेक्षाकृत गम्भीरता और भाव सघनता है। शेली के अन्तस में भावनाओं की प्रचण्ड आँधी सी उठती है, जो किसी प्रेरणा के भार से दब कर एक साथ गीतों में फूट पड़ती है—पंत का आवेश कल्पना की मधुर थपकियों में बिखर जाता है और उनके भावों की गति भाषा की गति के साथ समरस होकर आगे बढ़ती है। शेली में धुआँधार अप्रतिहत वेग है, पंत में अपूर्व धारा-प्रवाह है। शेली बाह्य-सौन्दर्य पर मुग्ध है, पन्त आभ्यंतरिक सौन्दर्य के संवेदनशील द्रष्टा हैं। शेली के हृदय में सृजन की स्फूर्ति और स्वप्न-निर्माण का वैभव है, पन्त में आध्यात्मिक चेतना और वस्तु-सत्य के समन्वय की जागृति। एक की दृष्टि आकाश की ओर एक-टक निहार रही है, दूसरे की नीचे-ऊपर के सूक्ष्म-सत्यों को जानने को सतत उत्सुक। एक में भौतिकता का परिष्कार करने की प्रवृत्ति है, दूसरे में चिरंतन समाधान की आकांक्षा। किन्तु दोनों ही कल्पना लोक के स्वच्छंद-विहारी हैं और मनचाही नवीन सृष्टि की रूप-रेखायें अंकित करने में अति पटु।

"मनुष्यों द्वारा परित्यक्त, शून्य,रहस्यमय, अज्ञात गुम्बज में अनजानी लटकी हुई निःशब्द, गतिहीन और चिर-विस्मृत वीणा की भांति मेरी हृदय-वीणा के मूक स्वरों में ओ पिता! अपना दिव्य प्रकम्पन भर दो, जिससे ऐसी अपूर्व रागिनियाँ बज उठें, जो सृष्टि के अणु-परमाणु को झंकृत कर दें; जो वन, समुद्र और जीवित प्राणियों को बेसुध और तन्मय बना दें; जो नर्त्तन करती हुई संगीतात्मक ध्वनियों की प्रत्येक धड़कन पर चुपके-चुपके पद-प्रहार करके दूर ठेल दें और मनुष्य की गहराइयों में पैठ उसके अन्तर के गूढ़ तत्वों का रहस्योद्घाटन कर दें।" (शैली)

आनन्द के अज्ञात स्वप्न-लोक की एकांत-साधना में लीन शैली और पंत की अतृप्त, तृषित दृष्टि लहराते हुये जीवन-सागर में भावमग्न हो उन्मन लहरियों से टकराती और मदमाती क्रीड़ा करती हुई ससीमता से उठ कर असीमता के सूक्ष्म किन्तु अटल रहस्य का भेद जानने को सदैव उत्सुक है। नश्वर जगती के दो अनश्वर पुष्प एक दूसरे का हाथ पकड़े और मुस्कराते हुये मानों शून्यता के वितान से निकल कर न जाने आवेग का एक कैसा झोंका उन्मुक्त भाव दिगदिगन्त तक बिखेर जाते हैं और तत्क्षण वृक्षों की दूर तक फैली हुई सघन छाया और [illegible] अधखिली कलियों से टकरा कर गूँज उठती है एक मादक मर्म ध्वनि, जो विश्व की अलस पलकों में स्वप्न छाया-सी भर लौट जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों कवियों की रूप-सुधा-अनुरंजित नेत्रों की मदिर शिथिलता में अंतर्विश्व का अनुराग छिटका पड़ रहा है और उनकी अंतस्तल की गहराइयों में आनन्द की शीतल, रसमयी धारा प्रवाहित हो रही है। प्रकृति के अंचल में जब उनका औत्सुक्य जाग्रत हो जाता है और उनकी मूक भावना हृत्तन्त्री के विशृंखल तारों से झनझनाती अनिर्वचनीय वेदना रागभृत रागिनियों का उद्रेक करती है, जब प्यार का पागल उन्माद उनमें कोमल सिहरन पैदा कर देता है और अज्ञात प्रिय की आँखें अपना समस्त रूप उनकी आँखों में उड़ेल झाँकती हैं, जब मन कल्पना के पंखों पर उड़ कर अंतरिक्ष में विचरण करता है और उन्माद भावुकता से समरस हो कर हृदय को मथने लगता है, तब भाव वारिधि में न जाने कितनी चपल-लहरियाँ उठती और गिरती हैं और आशा निराशा में डूबती उतराती मोहक-व्यंजनायें उनकी अमूर्त्त भावना को साकार बना जाती है। शैली की

'ओसकण' पर लिखी निम्नलिखित पंक्तियों में इन दोनों की उदात्त अंतश्चेतना और हृदय के स्पंदन का प्रत्युत्तर मिलता है।

"क्षुद्र ओसकण कुहरे में सूक्ष्माकार हो आकाश के विशाल, नील वक्ष पर इतस्ततः चक्कर काटता है। मध्यान्ह को पार कर सूर्य की अन्तिम रश्मि पर तिरकर वह ज्योतित-कण स्फुलिंगवत् अमिट रूप से स्थित हो जाता है।"

ओसकण की ही भाँति शैली और पंत की अनुभूति ऊर्ध्वगामी और उच्च मनोलोक में सुस्थिर है। इन दोनों की कृतियों में प्रेम और यौवन की मादक स्मृतियाँ इतनी सत्यता के साथ व्यक्त हुई हैं और उनका अंतर्प्रवाह भी इतना स्वच्छंद एवं निर्मुक्त है कि नैतिक-बंधन का क्षीण सूत्र उन्हें बाँध रख सकने में असमर्थ है। उनके काव्य में स्थान-स्थान पर हास-अश्रु की स्रोतस्विनी झरझर बहती दिखाई पड़ती है, कविता की एक एक कड़ी हृदय-रस से डूब कर निकलती है और आशा-निराशा की धूप-छाया खिलती-मुँदती नजर आती है। कभी जब मधुर मधुर भावनाओं का खुमार उनकी तबीयत पर छा जाता है और अव्यक्त प्यार के बोझ से भीतर ही भीतर उनका दम घुटने सा लगता है तो बाह्य-लोकाचार की विभाजक रेखायें मिट जाती हैं और भिन्नता अभिन्नता में तथा अनैक्यता एकता में परिवर्तित हो जाती है। विहंगिनी के कल-कण्ठ से फूटी गीतियों की भाँति उनकी स्वर-लहरी भी शब्दों के स्पर्श से झूम झूम कर उथल-पुथल मचा देती है और क्षणिक, तीव्र मनोवेग समस्त अन्तर्बाह्य को एक साथ झंकृत कर जाते हैं। शैली के मनोवेगों का विस्फोट भयंकर है, पंत में अपेक्षाकृत गम्भीरता और भाव-सघनता है। शैली के अंतस में भावनाओं की प्रचण्ड आँधी सी उठती है, जो किसी प्रेरणा के भार से दब कर एक साथ गीतों में फूट पड़ती है—पंत का आवेश कल्पना की मधुर थपकियों में बिखर जाता है और उनके भावों की गति भाषा की गति के साथ समरस होकर आगे बढ़ती है। शैली में धुआँधार अप्रतिहत वेग है, पंत में अपूर्व धारा प्रवाह है। शैली बाह्य-सौन्दर्य पर मुग्ध हैं, पंत आभ्यंतरिक सौन्दर्य के संवेदनशील द्रष्टा हैं। शैली के हृदय में सृजन की स्फूर्ति और स्वप्न-निर्माण का वैभव है, पंत में आध्यात्मिक चेतना और वस्तु-सत्य के समन्वय की जागृति। एक की दृष्टि आकाश की ओर एकटक निहार रही है, दूसरे की नीचे-ऊपर के सूक्ष्म-सत्यों को जानने को सतत उत्सुक। एक में भौतिकता का परिष्कार करने की प्रवृत्ति है, दूसरे में चिरंतन समाधान की आकांक्षा। किन्तु दोनों ही कल्पना-लोक के स्वच्छन्द विहारी हैं और मनचाही नवीन सृष्टि की रूप-रेखायें अंकित करने में अति पटु हैं। दोनों की कृतियाँ रस-भावना की सुन्दर सरसी हैं और प्रेम-वेदनाओं की डाली में दोनों मानों कोमल भावना-कलियों का

संचय कर रहे हैं। उनके हृदय-कोष से निस्सृत स्निग्ध, रसीला मधु-गुंजन अनंत रागिनी बजा रहा है और जगती के अचिन्त्य स्वरों में दिव्य प्रकम्पन भर रहा है।

"धूल की ढेरी में अनजान
छिपे हैं मेरे मधुमय गान।
कुटिल काँटे हैं कहीं कठोर,
जटिल तरुजाल है किसी ओर,
सुमन दल चुन चुन कर निशि भोर
खोजना है अजान वह छोर।"

प्रिया से साक्षात्कार

मदमाते यौवन के कठिन, एकाकी डगर में शेली और पंत का नन्हा सा मनपंछी फुदक फुदक कर चहक मचाता है और प्रणय की मदिरा-सिक्त प्याली कोमल कर में लिये सूनी साँझ की वेला में अर्द्ध-उन्मीलित नयनों से दूर क्षितिज के पार अपनी अंतर्व्यथा को साकार देखता रह जाता है। जीवन की शून्यता उन्हें अखरने लगती है और मादक क्षणों में एकाकी यौवन उन पर भार-सा बन लद जाता है।

"अविरत इच्छा ही में नर्त्तन,
करते अबाध रवि, शशि, उडुगण,
दुस्तर आकांक्षा का बंधन!
रे उडु, क्या जलते प्राण विकल,
क्या नीरव, नीरव नयन सजल,
जीवन निसंग रे व्यर्थ-विफल!
एकाकीपन का अंधकार
दुस्सह है इसका मूक-भार
इसके विषाद का रे न पार।"

शेली और पंत प्रेम-पथ के पथिक हैं। उनकी थकी थकी सी अधखुली पलकें निद्राहीन, निर्निमेष क्षितिज की धूमिलता में अपने चारों ओर स्वर्णिम-कल्पना का ताना-बाना बुन कर किसी अल्हड़, नवयौवना चिर सुन्दरी का अनुसंधान करते हैं और उसकी खोज में भटकते भटकते कभी अपनी ही भावनाओं के बीहड़ अरण्य में भटक जाते हैं। उनके पैर थक जाते हैं और उनका मानसिक संतुलन भी खो जाता है, किन्तु इस शून्यता में उषा के सौन्दर्य से खिलता-खुलता एक हल्का सा गुलाबी प्रकाश उनके प्राणों के काले क्षितिज पर छा जाता है और किसी अज्ञात

की चरण-ध्वनि उनके विह्वल हृदय को उद्‌भ्रांत बना जाती है। जब दूर—बहुत दूर श्वेत बादलों के छोटे छोटे टुकड़े हवा के साथ तैरते नज़र आते हैं और उनकी आंखों के लाल डोरों में प्यार की अरुणिमा बिखर जाते हैं, तब हृदय के एकांत-कोण में प्रणय की रसभरी, मधुर बातें विराट् बन कर छा जाती हैं और तभी सहसा अंतस्तल की सघन गहराइयों में आशा-किरण की ज्योति छिटकाती, मुग्ध गति से रुनझुन पायलों को झनकारती किसी रूपसी बाला का सजीव चित्र सौन्दर्य का प्रकाश और हृदय की मिठास लिये उनके मन-मन्दिर में पैठ जाता है॥ घुंघराले बाल, आसव-सिक्त मदमाती आँखें, यौवन के उभार से गदराया हुआ शरीर, विहँसता मुखमंडल, स्वर और चाल में अपूर्व माधुर्य तथा कोमलता के साथ साथ एक अजीब अल्हड़पन को देख कर वे अवाक् खड़े रह जाते हैं और दृश्य-जगत् के सौन्दर्य के साथ उसका सौन्दर्य एकरस और एकाकार सा दीख पड़ता है। मंद वातायन रूपसी बाला के सुनील अञ्चल को सहसा लहरा देता है, जिसमें टँके हुये मोती तारक-दल से धुँधले प्रकाश में चमक उठते हैं और उस सदेह मूर्च्छना की रूप-राशि को इतस्ततः बिखेर जाते हैं। शेली की निम्नलिखित कविता में प्रेयसी का कैसा सजीव अंकन हुआ है।

"देखो, वह खड़ी हुई कैसी लग रही है, मानों प्रेम, प्रकाश, सौन्दर्य और अलौकिक तत्त्वों से निर्मित मानवाकार हो। उसमें गति है, वह सचेतन और सप्राण है, मृत नहीं। वह मानों चिरन्तन सत्ता की मूर्तिमान् प्रतीक है, किसी स्वर्गीय स्वप्न की छाया है, अदृश्य लोक की सुषमा है, प्रेम-शशि की स्निग्ध निर्मल आभा है, जिसके संकेत मात्र से निर्जीव प्राणों में भी जीवन लहरा उठता है। वह प्रभात, बसंत और यौवन की प्रतिमा है और स्वप्नलोक की मधुर झंकार।"

पंत की 'भावी पत्नी के प्रति' कविता में उनकी प्रियतमा का भी ऐसा ही भाव-चित्र है।

"मृदूर्मिल-सरसी में सुकुमार
अधोमुख अरुण-सरोज समान,
मुग्ध कवि के उर के छू तार
प्रणय का सा नव-गान;
तुम्हारे शैशव में, सोभार,
पा रहा होगा यौवन प्राण;
स्वप्न-सा, विस्मय-सा अम्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!"

इन कवियों की प्रेयसियों की रूप-राशि अखिल विश्व में बिखरी हुई है और

उनके नेत्रों में तीव्र मादकता और अनन्त स्नेह-कोष छलका पड़ रहा है। लजीली पलकों पर बिखरी अलकों के साथ होड़ करती हुई कोमल आरक्त कपोलों की अरुणिमा प्रकृति के तार-तार में मुखरित हो रही है और उनकी वाणी का अनन्त माधुर्य अणु-परमाणु में एक दिव्य उद्वेलन और नवल प्रकम्पन भर रहा है। प्रेयसी की सौन्दर्य-दीप्ति शनैः शनैः प्रणयियों की उन्मद भावनाओं को उस अनन्त ज्योति की ओर अग्रसर करती है, जहाँ स्थूल और सूक्ष्म का भेद मिट जाता है, जहां चिर-वियोग में आकुल प्राण किसी अज्ञात से मिलने के लिये तड़फड़ा उठते हैं और जहाँ विश्व कवि टैगोर के स्वर में स्वर मिला कर उनकी अन्तश्चेतना गूँज उठती है, "सीमे सीमे माझे असीम तुम्हीं, बाजाओ आपोन सुर।" वस्तुतः इन कवियों को सृष्टि का प्रत्येक तत्त्व प्रेयसी की सौन्दर्य-सुषमा से समरस दीख पड़ता है।

"मुकुल मधुपों का मृदु मधुमास,
स्वर्ण, सुख, श्री सौरभ का सार,
मनोभावों का मधुर-विलास,
विश्व सुषमा ही का संसार
दृगों में छा जाता सोल्लास
व्योमबाला का शरदाकाश!"

प्रणय की भावुक कल्पना जब अत्यन्त उत्तेजित हो जाती है और कवियों की सूक्ष्म-बुद्धि हृदय की तीव्रानुभूति के साथ मिलकर सजीव हो उठती है तो प्रेयसियों का बिखरा रूप अत्यन्त व्यापक होकर प्राकृतिक चित्रों में रम जाता है।

"आज उन्मद मधु-प्रात
गगन के इन्दीवर से नील
झर रही स्वर्ण-मरन्द समान
तुम्हारे शयन शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालज, प्राण!"

अंततः उनकी सारग्राहिणी भावुकता जब पराकाष्ठा को पहुँच जाती है तो प्रत्येक छोटी से छोटी, सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु भी उन्हें प्रेयसी का मूर्त्त रूप दीख पड़ती है, जिसकी व्यापकता में उनका मन-पंछी खो जाता है।

"तुम्हारे नयनों का आकाश
सजल, श्यामल, अकूल अकाश!
गूढ़, नीरव गंभीर प्रसार;
बसाएगा कैसे संसार
प्राण! इनमें अपना संसार!

न इनका ओर छोर रे पार,
खो गया वह नव-पथिक अजान !"

समग्र सृष्टि सौन्दर्य की दिव्य प्रकाश-धारा में स्नान करती हुई सी प्रतीत होती है। उषा निश्चल और निस्तब्ध प्रेयसी की किंचित्-सी झाँकी पाने को उत्सुक है और सन्ध्या उन्मनी सी सूने नभ के आँगन में उसी की प्रतीक्षा में चक्कर काट रही है।

"कब से विलोकती तुमको
ऊषा आ वातायन से ?
सन्ध्या उदास फिर जाती
सूने नभ के आँगन से !"

शैली की भी आह्लादजनक अनुभूति जब हृदय में अंगड़ाइयाँ लेती उभर पड़ती है तो उसके नयन-कोरों में प्राणप्रिया की अंतरतम झलक बिजली सी कौंध जाती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है मानों वह अद्भुत श्रृंगार किये अचिन्त्य आभा बिखेरती हुई पृथ्वीलोक पर उतर रही है और समस्त वातावरण के अंचल में सम्मोहन और अपने अनुराग की अरुणिमा भर रही है। निम्न पंक्तियाँ देखिये:—

"समस्त वातावरण मादक मृदुता से ओतप्रोत है। पुष्पों की गन्ध प्रकृति के तार-तार में सुगन्ध भर रही है और अस्पृश्य एवं अदृश्य आर्द्रता का कुछ सहसा हल्का झीनापन पृथ्वी के वक्ष पर तैर रहा है, जो अलसायी पलकों पर अपनी तन्द्रिलता का साया बिखेर जाता है। श्वेत और गुलाबी पुष्पों की पंखुड़ियाँ उभर-उभर कर बाहर झाँक रही हैं और मस्तिष्क में तीक्ष्ण गंध भर रही हैं। एक अजीब मदहोशी और मधुर कसक बाह्य-चेतना को मूर्च्छित-सा बना जाती है और प्रत्येक ध्वनि, प्रत्येक संकेत, प्रत्येक रश्मि, प्रत्येक सुगन्धित बयार का झोंका चिर-तन संगीत के साथ समरस होकर थिरक रहा है। इस वासंती मधुरिमा में अपनी समस्त यौवन-सुषमा लिये कोई प्रणय की भव्य-साधना सी चुपचाप सकुची और लजायी हुई खड़ी है—वह किसी स्वप्न की अव्यक्त आकार मधु-बात की मूक प्रतिध्वनि सी प्रतीत होती है।"

जगत् की अनन्त सौन्दर्य-श्री के मध्य विहँसती, इठलाती, यौवन-विलास का भार और माधुरी की छलना लिये किसी सजीली सुन्दरी की रूप-माधुरी इन कवियों को मतवाला बना जाती है और राका-रजत-परी-सी उनकी प्रणय-भाव-नाओं को इन्द्रधनुषी सप्तरंगी आभा में भर बेसुध बना जाती है।

"अरुण अधरों की पल्लव प्रात,
मोतियों का हिलता हिम हास;

इन्द्रधनुषी पट से ढँक गात
बाल-विद्युत् का पावस लास,
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले अंगों का मधुमास
तुम्हारी छवि का कर अनुमान
प्रिये, प्राणों की प्राण !"

इसी प्रकार प्रेयसी के शत शत प्रतीक, उसके मधुर अधरों पर बिखरा हास, श्यामल कुन्तलपाश की बिखरी रेखायें, यौवन--भार से विकम्पित वक्षःस्थल, क्षीण कटि-प्रदेश में झलमलाता रेशमी परिधान और मृग-शावक सदृश नयनों में मादक मधुरिमा लिये वह सुहाग की मधुमयी रात्रि में मंथर गति से नीची पलकें किये चुपचाप सशंकित मन प्रियतम के पास आती है और कवि की सूक्ष्म कल्पना के स्पर्श से सजीव रूप धारण कर लेती है।

"अरे यह प्रथम मिलन अज्ञात !
विकम्पित उर मृदु, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जड़ित-पद नमित पलक-दृग-पात;
पास जब आ न सकोगी प्राण !
मधुरता में सी मरी अजान
लाज की छुई मुई सी म्लान
प्रिये, प्राणों की प्राण !"

कवि तन्वंगी के स्पर्श से आत्म-विभोर हो जाता है और मन की मलिनता को अपहरण करने वाली पावन तरंगों में स्नान करता है।

"तुम्हारे छूने में था प्राण !
संग में पावन गंगा स्नान !
तुम्हारी वाणी में कल्याणि !
त्रिवेणी की लहरों का गान !"

शैली के मन-मन्दिर में संस्थापित प्रेयसी की मानसिक प्रतिमा भी अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक है। 'एलास्टर; अथवा, दि स्पिरिट ऑफ़ सॉलिट्यूड' (Alastor or. The Spirit of Solitude) नामक कविता में कवि की कल्पना भ्रमण करती हुई जब काश्मीर की घाटी में विचरण करती है तो एक प्राकृतिक निकुंज की शोभा को देख ठिठकी रह जाती है और एक छोटे से नाले

के समीप लेटकर प्राणप्रिया की मधुर झाँकी का दर्शन कर उल्लसित हो उठता है। उपर्युक्त कविता की कुछ पंक्तियों का भावानुवाद यहाँ दिया जाता है:—

"काश्मीर की दूर, सूनी घाटी में, जहाँ सुगन्धित पौधों और कोमल वृक्ष-वृन्तों ने खोखली चट्टानों के निम्नभाग को आवेष्टित कर लिया था—एक प्राकृतिक निकुंज में स्वच्छ जल से परिपूरित नाले के समीप कवि ने अपने परिश्रांत अंगों को फैला दिया। अर्द्ध-निद्रा की अचेतन-स्थिति में उसके मानस-क्षितिज पर मधुमयी आशाओं का ऐसा कल्पनातीत ज्योतिपुंज मानवाकार आ समुपस्थित हो गया, जिसने उसके कपोलों पर लज्जा की लाली बिखेर दी। उसे स्वप्न हुआ मानों एक अवगुंठनमयी नारी उसके समीप बैठी हुई अत्यन्त गम्भीर और धीमे स्वर में उससे वार्त्तालाप कर रही है। उसकी वाणी उसके अपने अंतरतल की अंतर्ध्वनि से मिलती-जुलती थी, जो प्रशांत विचार-धारा की अतल गहराई में स्पष्ट सुन पड़ रही थी और उसकी वाणी से निस्सृत संगीतात्मक ध्वनि वायु अथवा जल-प्रपात की मर्मर-ध्वनि के सदृश लहरा रही थी तथा कवि की सूक्ष्म-चेतना को तरंगित आभा और विविध-रंगों के ताने बाने में उलझाकर जड़-वत् मूक बना गई थी। ज्ञान, सत्य और गुणों की वह साक्षात् प्रतिमा थी और दिव्य-स्वातन्त्र्य से उद्भूत् उदात्त-आशाओं को संचरित कर रही थी। वह अत्यन्त प्रिय भावनाओं और कविता को जगा रही थी, यही नहीं प्रत्युत् वह स्वयं भी एक कवि थी।"

शैली की सूक्ष्म भावना शनैःशनैः सजीव हो उठती है और बहुत ही मनोरम, चित्रमय स्थूल रूप धारण कर लेती है।

"सहसा वह उठ खड़ी हुई—मानों अपनी ही आकुल भावनाओं के असह्य भार को वह वहन करने में असमर्थ थी। आवाज़ से चौंककर वह मुड़ा और उसने अपने आसपास फैले आलोक में हवा से भी झीने आवरण के मध्य से झाँकते हुये उसके लावण्यमय अंगों को देखा। उसकी फैली हुई बाहुयें निरावरण थीं, उसकी श्यामल अलकावलियाँ रात्रि की नीरवता में सिहर सी रही थीं, उसकी लज्जावनत पलकें, उसके अधखुले मुरझाये ओष्ठ तीव्र औत्सुक्य से काँप रहे थे। कवि का मज़बूत दिल भी डोल उठा और वह प्रेम की उमंग में विभोर हो गया। उसने अपने प्रकम्पित अंगों को सुस्थिर किया, तीव्र श्वास-प्रश्वास को शांत किया और उसके धड़कते वक्ष को अपने में समाहित करने के लिये उसने अपनी भुजायें फैला दीं। वह ठिठक कर पीछे हट गई, किन्तु प्रेमोन्माद की विचित्रानुभूति का लोभ वह अधिक समय तक संवरण न कर सकी। एक असह्य सी आह और उन्मत्त अदा के साथ वह उसकी सुदृढ़ बाहुओं में ढुलक पड़ी और रात्रि की

उन्मादी आँखों में धुँध सा छा गया। रात्रि की कालिमा उस सुन्दर प्रतिमा को निगल गई और निद्रा ने उसके मस्तिष्क की शून्यता को आच्छन्न कर लिया।"

'ग्रन्थि और एपिपशिडियॉन' (Epipsychidion)

उपर्युक्त कृतियाँ इन दोनों कवियों के व्यक्तिगत प्रेम, वेदना और आंतरिक कसक के हाहाकार की झाँकी हैं। जब उनके भावी-जीवन का रंगीन-स्वप्न ध्वस्त हो गया और समस्त आशा-आकांक्षाओं पर पानी फिर गया तो उनका अहर्निश तड़पता हृदय करुण-सत्य की अभिव्यक्ति की भावना से प्रेरित होकर इन प्रणय-ग्रन्थों में उमड़ पड़ा। शेली के जीवन में प्रथम दाम्पत्य-प्रेम की असफलता और अतृप्त प्रेम की प्यास कभी तृप्त न हो पाई। उसका समस्त जीवन प्रणय की मादक अनुभूतियों से ओतप्रोत है। तारुण्य की मधुवेला में, जब वह केवल उन्नीस वर्ष का था तो एक हेरियट वेस्टब्रुक नाम की स्कूल में पढ़ने वाली सोलह वर्षीया बालिका से उसका परिचय हुआ। वह शेली के आकर्षक व्यक्तित्व पर इतनी मुग्ध हो उठी कि उसने उसे लिखा कि वह उसके बिना जीवित न रह सकेगी। वे दोनों प्रच्छन्न रूप से एडिनबरा चले गये और विवाह सूत्र में बँध गये। किन्तु उनका यह प्रेम दो वर्षों से अधिक न टिक सका और वैवाहिक जीवन का दुःखमय अन्त हुआ। हेरियट ने दुःखावेश में अपनी आत्महत्या कर ली और इस बीच उससे उत्पन्न अपनी दो संतति पर भी शेली अधिकार खो बैठा। उसकी द्वितीय पत्नी मेरी गॉडविन थी, जो स्वयं साहित्यिक अभिरुचि की विदुषी महिला थी।

इसके पश्चात् शेली के जीवन में एक और महत्वपूर्ण प्रणय-घटना घटी, जिसकी याद वह जीवन-पर्यन्त न भुला सका। एमिली विवियानी नाम की एक अत्यन्त सुकोमल सुकुमारी ने उसके जीवन में प्रवेश किया। उसके कुंचित केश, लजीली चितवन, शरीर के अंग-प्रत्यंग और यौवन-विलास में कुछ ऐसा अद्भुत आकर्षण था, जो ग्रीक सौन्दर्य से मिलता-जुलता था और देखने वालों के हृदय में एक अजीब नशा और मधुर गुदगुदी उत्पन्न करता था। एमिली ने अपने पिता द्वारा अभिप्रेत वर से विवाह करना अस्वीकार कर दिया था, अतएव उसने रुष्ट होकर उसे ऐसे स्थान में रख दिया था, जहाँ से उसे बाहर आने-जाने की सख्त मनाही थी। शेली को यह सब ज्ञात होने पर अत्यन्त दुःख हुआ और उसने उसे इस घृणित कारा से मुक्त करने की भरसक चेष्टा की। इसी बीच उन दोनों में कसमसाता, आवेशपूर्ण, तीव्र आकर्षण जाग्रत हुआ, जो 'एपिपशिडियॉन' (आत्मा की कविता) के अमर शब्दों में अनश्वर रूप से स्थापित हो गया। प्रेम के मादक क्षणों में कवि को ऐसा भान होता है मानों वह प्रेम के पंखों पर

चढ़कर किसी दूसरे अज्ञात लोक में उड़ा चला जा रहा है, जो विश्व के कोलाहल से अत्यन्त परे है।

"एमिली !

एक जहाज द्वीप की ओर बढ़ा जा रहा है।
हवा पर्वत-शृंग को स्पर्श करती हुई बह रही है।
समुद्र के विशाल, नील वक्ष पर सीधा मार्ग है।
किसी भी जहाज की धुरी ने आज तक इस मार्ग को चीर कर पार नहीं किया।
शांत द्वीप के इर्द-गिर्द समुद्र में घोंसला बनानेवाली चिड़ियाएँ उड़ती रहती हैं
और विश्वासघाती समुद्र की लहरें वहाँ तक पहुँच नहीं पातीं।
वहाँ के बसने वाले खुशदिल मल्लाह भी वीर और साहसी हैं।
मेरी आत्म-सखि ! बोल, क्या तू मेरे साथ वहाँ तक चलेगी ?
हमारी नाव उस समुद्री पक्षी की भाँति है, जिसका घोंसला दूर प्राची दिशा में नन्दन कानन में स्थित है।
आकाश के नीचे विचित्र प्रकार से लटका हुआ यह द्वीप स्वर्ग का भग्नावशेष सा प्रतीत होता है।
इजियन-नदी का नीला जल परिवर्तनशील ध्वनियों से भरा झलमलाता हुआ झाग सहित उसे स्पर्श कर रहा है।"

कवि चाहता है कि इस एकांत द्वीप में अपनी प्रेयसी के साथ वह निश्चिन्त होकर रहे, जिससे समस्त दुःख-क्लेश मिट जायें और उसके हृदय-दीपक को वह सदैव प्रकाशित करती रहे।

"किन्तु सबसे अधिक विलक्षण बात यह है कि इस निर्जन प्रदेश में एक सूना घर है। यह कब बनाया गया और किसके द्वारा बनाया गया इस बात को कोई द्वीप-निवासी नहीं जानता। यह कोई सुदृढ़ इमारत नहीं है, यद्यपि यह अपनी ऊँचाई से सारे जंगल को आच्छन्न किये हुए है। यह आमोद-गृह है और किसी बुद्धिमान् व दयालु समुद्री-राजा द्वारा, जब कि पाप का आविष्कार भी नहीं हुआ था, बनवाया गया था। उस प्राचीन समय का यह एक भव्य-स्मारक है। यह द्वीप और घर मेरा है और मैंने इस एकान्त-स्थल की रानी बनाने का तुम्हें निश्चय किया है। वहाँ हम प्रेम की बातें करेंगे, जब कि हमारे अन्तर्मन की संगीत-धारा इतनी मादक और मधुर गुदगुदी उत्पन्न करने वाली होगी, जो वाणी द्वारा व्यक्त न हो सकेगी। हम कुछ बोल न सकेंगे, हमारी भावभंगी और चेष्टायें हमारे मनोभावों को प्रकट करने में असमर्थ होंगी और शब्द निस्सृत होकर भीतर ही भीतर

घुट कर रम जायेंगे। हमारे हृदय साथ-साथ धड़केंगे और हमारे अधर मूक संभाषण का अभिनय करते हुए हमारी जलती आत्मा को तिरोहित कर लेंगे। हमारी नसों में जो सिहरन है, हमारे दिलों में जो गुबार है और हमारे अन्तरतम हृदय-प्रदेश से जो वासनात्मक स्रोत निस्सृत हो रहे हैं—वे प्रेम की पावन-धारा में उसी प्रकार उमड़ बह चलेंगे, जैसे सूर्य की रश्मियों में झलमलाते पर्वत-निर्झर बह उठते हैं। हम दोनों एक होंगे, एक शरीर, एक प्राण। दो इच्छा-शक्तियों के मध्य एक प्रेरणा। दो तमसाच्छन्न मस्तिष्कों के बीच एक संकल्प, एक अभिलाषा, एक जीवन, एक मृत्यु, एक स्वर्ग, एक नरक। हम साथ-साथ अमर होंगे और साथ-साथ ध्वस्त।"

अन्त में सहसा जब कवि को वास्तविकता का बोध होता है तो उसका हृदयाकाश निराशा के कुहरे से घिर कर अंधकारमय हो जाता है और एक दर्दीली टीस उसके हृदय से निकल पड़ती है।

"ओफ़! मेरा दुर्भाग्य!
वे नभचारी शब्द जिनके पंखों पर बैठकर मैं प्रेम के उच्च मनोलोक में भ्रमण कर रहा था, वे अग्नि की प्रचण्ड शिखायें और लौह-शृंखलाएँ बन कर मुझे जकड़े हुए हैं। मैं हाँफ रहा हूँ, नीचे धँसा जा रहा हूँ, काँप रहा हूँ और नष्ट हो रहा हूँ।"

पन्त द्वारा रचित 'ग्रन्थि' भी कवि की व्यक्तिगत प्रणय-वेदना की सहज उद्भूति है, जिसमें विफल प्रणयोन्माद और प्राणों की अजान तड़पन छिपी है। कवि का हृदय दुःख-दग्ध और चिन्ताओं से जर्जर है, तो भी आंतरिक-पीड़ा ज्वलित आभा बनकर फूट पड़ती है। 'ग्रन्थि' का कथानक बहुत छोटा है। संध्या समय कवि की नौका एक झील में डूब जाती है और कुछ क्षण के लिये वह निश्चेष्ट पड़ा रहता है। किन्तु पुनः सजग होते ही वह देखता है कि एक सुन्दरी युवती उसका सिर अपनी गोद में रक्खे हुए उसे एकटक बैठी निहार रही है। दोनों के हृदय प्यार, ममता और मूक संवेदना से भर जाते हैं, परस्पर आँखें चार होती हैं और उनके नयनों के दर्पण में स्नेह-प्रतिबिंब उभर आते हैं। कवि जिस अनुकूल जीवन-संगिनी का अन्वेषण कर रहा था वह उसे सहज ही मिल जाती है। किन्तु समाज के फौलादी-पंजे उसे अपने प्रेम-व्यापार में सफल नहीं होने देते। कवि उपेक्षित रह जाता है और उसकी प्रणयिनी का ग्रन्थि-बन्धन किसी दूसरे युवक से कर दिया जाता है। प्रथम परिचय के समय दोनों का दृष्टि-विनिमय कितना सजीव है।

"एक पल, मेरे प्रिया के दृग-पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे

चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानों प्रणय सम्बन्ध था।"

आगे की पंक्तियों में उसके हृदय के उद्भ्रान्त भाव छहर-छहर कर बाहर प्रस्फुटित होते हैं। प्रिया के स्पर्श से उसके अंग-प्रत्यंग में एक अजीब पुलक और मधुर सिहरन पैदा हो रही है।

"कौन मादक कर मुझे है छू रहा,
प्रिय ! तुम्हारी मूकता की आड़ में।"

कवि अपने प्यार और असंयमित भाव-स्रोत को रोक सकने में असमर्थ है। उसके हृदय-कोण में प्रेम की दर्दीली अनुभूति और तीव्र कसक है। निम्नलिखित पंक्तियों में प्रेम की कैसी रम्य-व्यंजना हुई है।

"यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की
जो अपांगों से अधिक है देखता
दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा।"

कवि ने अपने अल्प-जीवन काल में ही इतने कष्ट झेले हैं, इतनी तकलीफें उठाई हैं कि उसके प्राण दुखों की लू में सदैव झुलसते ही रहे। बाल्यावस्था में माता-पिता का वियोग, अविवाहित जीवन, आर्थिक-वैषम्य और साधन-विहीन व्यवस्था होने से उसे लगता है कि उसके भाग्य का लेखा अविराम बहते अश्रुओं से लिखा गया है। 'ग्रन्थि' में कवि ने अपने जीवन पर भी किंचित् प्रकाश डाला है। फिर उसकी वह असफल प्रेम-कहानी अंकित है—जबकि वह सर्वप्रथम प्रेम के पंखों पर बैठ कर ज्योत्स्ना-स्नात स्वप्निल-लोक में उड़ा चला जा रहा था और दुर्भाग्य के क्रूर थपेड़ों ने उसके पंख नोच कर उसे ज़मीन पर गिरा दिया था। अभी तो प्रेम-पौधा पनपा भी न था कि दुर्भाग्य की आंधी ने उसे झकझोर डाला। प्रभात-वेला में जो स्वर्णिम-रश्मि का आलोक उसके जीवन-पट पर बिखर गया था—वह संध्या की धूमिलता में तत्क्षण अदृश्य हो गया।

"प्रात सा जो दृश्य जीवन का नया
था खुला पहिले सुनहले स्पर्श से,
साँझ के मूर्च्छित प्रभा के पत्र पर
करुण-उपसंहार, हा, उसका मिला !"

कवि के हृदय-मन्दिर की आराध्य देवी, जिसे वह भूल से अपनी समझे बैठा था, देखते ही देखते किसी दूसरे की हो गई और सदैव के लिए उसके हृदय में हाहाकार बसा गई।

"हाय, मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रन्थि-बंधन हो गया, वह नवकुसुम
मधुप-सा मेरा हृदय लेकर, किसी—
अन्य मानस का विभूषण हो गया।"

प्रियतमा के वियोग में कवि का हृदय तड़प रहा है, तिलमिला रहा है और उसमें गहरी निराशा व वेदना व्याप्त है। उसे प्रकृति का अणु-अणु प्रेम-रस में डूबा हुआ दीख पड़ता है, किन्तु उसका अपना हृदय सूना और निर्जीव है।

"शैवलिनी! जाओ मिलो तुम सिन्धु से
अनिल आलिंगन करो तुम गगन का,
चन्द्रिके चूमो तरंगों के अधर,
उडुगनों गाओ पवन वीना बजा।
पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है।"

अन्त में प्रिया-मिलन की असफलता कैसी मर्म-भेदी निराशा का रूप धारण कर लेती है—देखिए—

"हा अभय भवितव्यते! किस प्रलय के
घोर तम से जन्म तेरा है हुआ।
तू सरल कोमल कुसुम दल में कहाँ
है छिपी रहती कठिन कंटक बनी।

\+ \+ \+ \+

स्वर्ण-मृग तेरा पिशाचिनि! हर छका
इष्ट कितनों के हृदय का है अहा!"

कहना न होगा कि 'ग्रन्थि' और 'एपिपशिडियॉन' दोनों में ही प्रेम की मार्मिक अभिव्यंजना, कला का निखरा रूप, हृदय की अंतरतम अनुभूतियों का अभिनव चित्रण, निराशा, दुःख, आकुल-वेदना और हृदय को उन्मत्त बना देने वाली भावना का जाग्रत स्वरूप है। कहीं प्रेम की शीतल धारा प्रवाहित हो रही है तो कहीं हृत्तल से विरहाग्नि की चिनगारियाँ छिटक-छिटक कर बाहर फूट पड़ती हैं। कहीं करुण उच्छ्वास हैं तो कहीं आँसू की बूँदें, कहीं उन्मुक्त-प्रेम की कलकल ध्वनि है तो कहीं आन्तरिक वेदना का करुण-क्रन्दन। दोनों ही प्रणय-ग्रन्थ उत्कृष्ट, निराशा-कल्पना से युक्त और परिष्कृत शृंगार-रसज्ञता से ओतप्रोत हैं।

'पल्लव' और 'प्रोमोथियस अनबाउण्ड'

शेली और पन्त के अत्यन्त करुण प्रणयोद्गार, जो अटपटे और अल्हड़पने से एक अनिर्वचनीय टीस और विवशता के साथ उनकी प्रारम्भिक कृतियों में फट पड़े थे—वे 'पल्लव' और 'प्रामोथियस अनबाउण्ड' में आकर दार्शनिक अन्तर्धारा और प्रेम की गहराई में परिणत हो गए। शेली की अब तक की रचनायें 'क्वीन मेब' (Queen Mab), 'एलास्टर' (Alastor) और 'दि रिवोल्ट ऑफ इस्लाम' (The Revolt of Islam) भावोन्माद, चित्रमयी कल्पना और उद्दीप्त भावुकता से ओतप्रोत थीं। उनमें गम्भीर-चिन्तन और जीवन के विराट-चित्र देखने को न मिले थे, किन्तु 'प्रोमोथियस अनबाउण्ड' में कल्पना की उड़ान सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अंतस्थ की भावनायें अत्यन्त परिपक्व और गंभीर होकर मौलिक रूप में प्रकट हुईं। ग्रीस देश के कलाकार एचिलस द्वारा जो 'प्रोमोथियस-बाउण्ड' नाटक की रचना हुई थी और उसका दूसरा भाग 'प्रोमोथियस अनबाउण्ड' विस्मृति के गर्त में समा गया था—उस स्थान की पूर्ति शेली का यह काव्य-नाटक करता है, यद्यपि ग्रीक-नाटक से इसका बहुत कम सादृश्य है। इसमें विश्व का अंतरतम संगीत, कल्पना का अद्भुत सृजन और मार्मिक अनुभूतियों का अनुपमेय एकीकरण है। शेली ने लिखा है, "रोम का स्वच्छ, निर्मल नीलाकाश, उल्लासमय वातावरण और वासन्तिक उन्माद, जो मस्तिष्क को बौखला देता है, इस नाट्य-ग्रन्थ की प्रेरणा है।" एचिलस के प्रोमोथियस की भाँति शेली के नाटक का नायक भी मनुष्य-मात्र का हितैषी होने के कारण पर्वत-शिखर पर क्रूर देवता द्वारा बन्दी बना लिया जाता है, किन्तु क्रोध के भयंकर विस्फोट और उत्तेजना में वह दहाड़ता है। आसुरी-शक्तियाँ उसके चारों ओर चक्कर काटती हैं और उन भावी मानवीय आपत्तियों के दृश्य उसकी दृष्टि के समक्ष उपस्थित करती हैं, जो आगामी युगों में मनुष्य जाति को अवांच्छित रूप से सहन करने पड़ेंगे। किन्तु शनैः शनैः दैवी-कोप नष्ट हो जाता है और सात्त्विक-शक्तियाँ, समुद्र-देवियाँ और दैव-वाणी उसे धीरज बँधाती हैं, सारे वातावरण को आह्लाद और औत्सुक्य से भर देती हैं और उसके चिन्तित मन में दिव्य दीप्ति बिखेर जाती हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में जीवन-व्यापी संघर्षों के वात्याचक्र में पड़े हुए प्रोमोथियस के हृदय का अन्तर्प्रवाह है।

"ओ पृथ्वी! ओ पर्वत! क्या तुमने मेरे दुःखों को महसूस नहीं किया?

ओ स्वर्ग! ओ सर्वव्यापी सूर्य! मैं तुमसे पूछता हूँ कि क्या तुमने मेरी मुसीबतें नहीं देखीं?

ओ समुद्र! जो नित्य ही अपनी शांत अथवा तूफानी छाती पर विस्तृत गगन के प्रसार की हिलती छाया को लिए रहता है, क्या तेरी बधिर तरंगों ने मेरी

करुण-गाथा नहीं सुनी ? आह ! मेरे चारों ओर विषाद ही विषाद और दुःख ही दुःख की काली घटायें छायी हुई हैं।"

× × ×

"बर्फ़ के श्वेत टुकड़े जो स्फटिक की भाँति कट कट कर मेरे शरीर पर गिर रहे हैं वे ऐसे लगते हैं जैसे असंख्य भाले मेरे मांस में चुभा दिए गए हों। चमकती जंजीरें मेरी अस्थियों को भेद कर शीताधिक्य से बदन में ऐसी ऐंठ गई हैं जैसे मुझे सचमुच निगल जायेंगी। भयानक शिकारी-पक्षी, जिनकी चोंच विष से बुझी हुई हैं, मेरे हृदय को चीर देने को आकुल हैं। वीभत्स और घृणित दृश्य मेरी आँखों में तैरते हुए दिखाई पड़ रहे हैं और किसी दूर देश के पिशाच एकत्रित होकर मेरा उपहास कर रहे हैं। पृथ्वी के गर्त में समाई दानवी शक्तियाँ मेरे ताज़े घावों को नोच-नोच कर फाड़ डालने को सन्नद्ध हैं, जबकि विशाल चट्टानें बार बार टकरा कर इतनी भीषण आवाज़ कर रही हैं जैसे कोई बड़ा भारी तूफ़ान, आँधी या भीषण उल्कापात हुआ हो।"

'प्रोमीथियस अनबाउण्ड' से उद्धृत 'स्पिरिट साँग' (Spirit Song) की कुछ अनुवादित पंक्तियाँ देखिए।

"प्रेम के स्वप्नों में विभोर मैं कवि के अधरों पर सोती हूँ। वह भी भौतिक-सुखों की पर्वाह न करके विचित्र आनन्दानुभूति में रमण करता है। विचारों के अरण्य में जो अजीब अजीब आकृतियाँ उसे नज़र आती हैं—उन्हें वह सुबह से शाम तक निरखा करता है। झील में सूर्य विम्ब झलमलाता है, विकसित माधवी-लता में मधुमक्खियाँ भिनभिना रही हैं, किन्तु वह कुछ भी नहीं देखता, उसे किसी बात की भी परवाह नहीं है। उसके द्वारा चित्रित पात्र जीवित मनुष्यों से भी अधिक स्वाभाविक हैं और उनमें शाश्वत कल्पना का अमर वैभव है।"

शैली की ही भाँति 'वीणा' और 'ग्रन्थि' के कवि पन्त ने भी अपनी इन प्रारम्भिक कृतियों में सावचेत होकर प्रत्येक वस्तु के मर्म में पैठने का प्रयास न किया था। वह अपनी नव-निर्मित सृष्टि और स्वकल्पित अर्थभूमियों की अनेक-रूपता में रंग-बिरंगे फूलों और मधुमय चित्रों को संश्लिष्ट करने में संलग्न था, उसकी दृष्टि गतिशीलता में ही जैसे मनोरंजक कलापूर्ण नर्त्तन कर रही थी। किन्तु 'पल्लव' में कवि का भावावेश, अतृप्त तृष्णा और उमंग भरी भावना बहुत कुछ प्रौढ़ और सुसंगत हो कर प्रकट हुई। दृश्य-जगत् के नाना रूपों एवं व्यापारों को वह किंचित् झांक कर नहीं, वरन् दृष्टि फैलाकर देखता है और जीवन-क्षेत्र में सतत अग्रसर होता जाता है। 'उच्छ्वास', 'आंसू', 'परिवर्तन', 'बादल, 'स्वप्न', 'मौन-निमंत्रण' आदि 'पल्लव' की प्रमुख कविताएँ हैं। 'छाया' की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं।

"अहो, कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई,
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि ! नल सा निष्ठुर कोई ?"

'मौन-निमंत्रण' में रहस्यात्मक-भावना और कोमल-कल्पना का अवस्थान है।

"देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास
न जाने सौरभ के मिस कौन
सन्देशा मुझे भेजता मौन !'

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि 'पल्लव' और 'प्रोमीथियस अनबाउण्ड' में कथा-साम्य न हो कर इन कवियों की अन्तर्मुखी वृत्तियों का साम्य है। दोनों कवि व्यापक चेतनाओं में इतने रम गये हैं और अपने विषय के सौन्दर्य से इतने अभिभूत हो गए हैं कि जीवन के स्थूल पहलू उनकी दृष्टि से ओझल हो गए हैं। प्राकृतिक तत्त्वों के साथ क्रीड़ा करते हुए इन दोनों अनासक्त कलाकारों ने सौन्दर्य के पार्थिव रूप को हटाकर उसके दृश्य-आवरण के भीतर छिपी रहने वाली दिव्य-आत्मा का दर्शन किया है। उनकी सूक्ष्म बुद्धि ने वस्तुतत्व को स्पर्श कर उभार उभार कर दर्शाया है और अपनी अमर लेखनी से हृदय के आलोड़न-विलोड़न और जीवन के मार्मिक मन्थन को प्रकट किया है। 'पल्लव' और 'प्रोमोथियस अनबाउण्ड' विश्व के ग्रन्थ रत्नों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

प्रकृति-चित्रण

इन दोनों कवियों ने प्रकृति के सौन्दर्य का अंकन भी अत्यन्त सभी रेखाओं से किया है। प्रकृति के व्यक्त प्रसार को देखकर दोनों की जिज्ञासा की तृप्ति होती है और जगत् की अनेकरूपता और विभिन्न चेष्टाओं में वे भगवान की मंगलमयी शक्ति का दर्शन करते हैं। स्वयं पन्त के शब्दों में, "कविता करने की प्रेरणा मुझे सब से पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकांत में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था; और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूँद कर लेटता था, तो वह दृश्य-पट, चुपचाप, मेरी आँखों

के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज में सुदूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित नील धूमिल कूर्मांचल की छायांकित पर्वत-श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजत-मुकुट हिमाचल को धारण की हुई हैं, और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाई हुई हैं, किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव संमोहन के आश्चर्य में डुबा कर, कुछ काल के लिए भुला सकती हैं। और यह शायद पर्वत-प्रान्त के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य की भावना, पर्वत की तरह, निश्चय रूप से, अवस्थित है।"

कहना न होगा कि शैली और पन्त ने कहीं-कहीं तो अपने प्राणों का समस्त रस उड़ेल कर सूखी वस्तुओं का सिंचन किया है, अपनी रंगीन और मधुमयी कल्पना से बेढंगी-वस्तुओं को सँवारा-सजाया है और अपनी अन्यतम सृजन-शक्ति से निर्जीव प्राणों में भी जान डाल दी है। निम्नलिखित पंक्तियों में सूर्य का कैसा सजीव चित्रण हुआ है।

"अभी गिरा रवि, ताम्रकलश सा,
गंगा के उस पार
क्लान्त पान्थ, जिह्वा विलोल
जल में रक्ताभ प्रसार।"

पंत प्रकृति-जगत् के एक जाग्रत प्रहरी हैं और हिमगिरिवासी होने के कारण वन, पर्वत, नदी नाले, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि प्रकृति के खुले क्षेत्र में उनकी कल्पना विचरती है। प्राकृतिक-उपादान उँगली के संकेत से उन्हें अपने पास बुलाते से ज्ञात होते हैं और चतुर्दिक् वातावरण की मिठी कुहुक उनकी चेतना को विमूर्च्छित सा कर जाती है। कवि आत्मविस्मृत सा विहंगिनी से पूछ बैठता है।

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणि! तूने कैसे पहिचाना?
कहाँ कहाँ हे बाल-विहंगिनि! पाया तूने यह गाना?"

कभी भ्रमरी से सानुरोध आग्रह करता है—

"सिखा दो ना हे मधुप कुमारि!
मुझे भी अपने मीठे गान!"

कभी कभी छायारूप जगत् में कवि की कल्पना इतनी विभोर हो जाती है कि अल्मोड़े की चित्रित घाटी भी उसे उड़ती हुई नज़र आती है।

"लो, चित्र शलभ सी पंख खोल
उड़ने को है चित्रित घाटी,

यह है अल्मोड़े का बसन्त
खिल पड़ी निखिल पर्वत पाटी !"

पंत के मस्तिष्क में प्रकृति सदैव एक प्रयोगशाला के मूर्त रूप में विद्यमान रहती है और उनकी सहज चेतना प्रयोग में सतत तत्पर। उनकी व्यंजनाओं में जड़-पदार्थ भी बोल उठे हैं और उन्होंने अपने अंतर्प्रेम को प्रकृति के साथ मिला कर एकाकार कर दिया है। उनकी प्रियतमा सदैव प्रकृति के अंचल में छिपी रहती है, जिसे खोजने के मिस वे उसकी तह पर तह उघाड़ते चलते हैं। 'चाँदनी' कविता में चाँदनी की कल्पना द्वारा एक नारी की भावभंगी का कैसा सजीव चित्र खींचा है।

"नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद हासिनी
मृदु करतल पर शशिमुख धर अनिमिष एकाकिनी।"

शेली के प्राकृतिक चित्र भी सूक्ष्म-कल्पना के साथ मिल कर सजीव हो उठे हैं और प्रकृति की गोचर सीमा में उसे अव्यक्त सत्ता का आभास कराते हैं। 'टु नाइट' (ToNight) कविता में कल्पना की मधुरता के साथ साथ अंतर्भावों का कैसा कोमल अंकन हुआ है।

'ओ रात्रि ! अपने को तारों मंडित नीली साड़ी में लपेट कर तू अपने काले घने लहराते बालों से दिन की आँखों को धूमिल कर दे और उसके मुख पर इतनी चुम्बनों की बौछार करदे कि वह परिश्रांत हो जाए। नगर, समुद्र और पृथ्वीतल को अपनी जादू की छड़ी से स्पर्श करती हुई तू जल्दी ही वापिस लौट आना। मैं तेरी प्रतीक्षा करूँगा।

जब मैं सोकर उठा तो देखा दिन निकल आया है। मैंने तेरे लिए एक ठंडी आह भरी। जब और भी प्रकाश फैल गया और ओसकण सूख गये, दोपहरी भार बनकर कोमल पुष्पों और वृक्षों पर लद गई तथा थका हुआ दिवस अप्रिय अतिथि की भाँति आश्रय खोजने के लिये मुड़ चला तो मैंने तेरे लिये एक ठण्डी आह भरी।

तेरा भाई 'मृत्यु' आया और चिल्ला कर कहने लगा 'क्या तुम मुझे पसन्द करोगे ?' तेरी बालिका 'निद्रा' भी अपनी उनींदी पलकों को उघाड़ कर मधुमक्खी की भाँति गुनगुनाई 'क्या मैं तुम्हारी बगल में सो जाऊँ ? मेरी उपस्थिति तुम्हें बुरी तो न लगेगी ?' मैंने उत्तर दिया, 'नहीं, मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं है।'

जब तेरा अन्त होगा, तब मृत्यु आएगी। जब तू भाग जाएगी तभी नींद का भी आगमन होगा। मैं किसी से वरदान की याचना न करूँगा। प्यारी रात ! मैं तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि तू जल्दी—बहुत जल्दी लौट कर आना।"

'दि स्काइ लार्क'(The Sky Lark),'दि वेस्ट विंड'(The West Wind) और 'दि क्लाउड'(The Cloud) में कवि की आत्म-भाव की परिधि इतनी व्यापक हो गई है कि वह मानव-हृदय की उर्मिल-वृत्तियों को गुदगुदा कर उसकी मेधा की सक्रिय शक्ति का अवलोकन कराती है। दृश्य-जगत् का सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रिया-कम्पन उसके नयन-द्वार से सीधा मानस पर आकर अंकित हो जाता है। पतझड़ के मौसम में 'अरनो' नदी के तट पर घूमते हुए कवि के मस्तिष्क में, पश्चिमी हवा के बगूले जो हरे, पीले, धूमिल, और गुलाबी पत्तों के ढेर के ढेर अपने साथ उड़ा कर इतस्ततः बिखेर जाते हैं, नवीन भावनाओं का उद्रेक कर रहे हैं।

"पीले, काले, मुरझाये और लाल पत्ते,
हवा-महामारी से जर्जर पत्र समूह,
ओ तू! जो उनके काले, धूमिल बिस्तरे पर विश्राम करती है।

× × ×

पंखदार बीज श्मशान-भूमि में रक्खे हुए शव की भाँति
तबतक शिथिल और निर्जीव पड़े रहेंगे जबतक कि तेरी बहिन बसन्त
उन्हें आकर जीवन-दान न देगी।

× × ×

सुप्त धरा पर उसकी प्राण-भेरी बज उठेगी
और प्यारी मधुर कलियों को हवा से सजग करती हुई उनके चटकीले
रंग और सुगन्ध से मैदान और पहाड़ियों को भर देगी।

× × ×

ओ भीषण वायु-देव! जो अप्रतिहत वेग से सर्वत्र घूम रहा है
और जिसमें संरक्षण और ध्वंस दोनों ही शक्तियाँ निहित हैं—
तू सुन, ज़रा सुन।"

पतझड़ की 'पछुवाई' हवा संरक्षक और विध्वंसक दोनों ही है। वह यदि हरीतिमा का अपहरण करती है तो समुद्र, आकाश और जंगल के कूड़े-कर्कट और मलिनता को स्वच्छ बनाती है तथा मनुष्य के हृदय को सुस्थिर और मज़बूत बनाती है। 'वेस्ट विंड' में शेली की बौद्धिक-चेतना पराकाष्ठा को पहुँच गई है। ज्यों-ज्यों कविता की ध्वन्यात्मक लय अग्रसर होती है उसकी कल्पना पृथ्वी, आकाश और समुद्र के ओर छोर को स्पर्श करती हुई अंतरिक्ष में वायु के साथ अठखेलियाँ करती है—

"ओ तू! मुझे लहर, पत्ता और बादल की भाँति उड़ा कर ले चल।"

जिस प्रकार व्यक्त रूप में संसार के लिए, उसी प्रकार अव्यक्त रूप में कवि की आत्मा के लिए भी यह हवा संरक्षक और विध्वंसक दोनों है। कवि उससे अनुरोध करता है:—

"मुझे भी तू अपनी वीणा बना ले जैसे कि तूने सारे जंगल को अपने वश में कर लिया है। क्या हुआ—यदि मेरे पत्ते झड़-झड़ कर नीचे गिर रहे हैं। तेरे महान् स्वरों का कोलाहल गम्भीर, रहस्यमय ध्वनियों का सृजन करेगा—चाहे वे स्वर उदासी से भरे क्यों न हों।

जैसे शिथिल, मुरझाये पत्तों को नव-जन्म देने के लिए तू उन्हें उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार मेरी निर्जीव, थोथी भावनाओं को छितरा कर समस्त पृथ्वीतल में बिखेर दे।"

आगे की पंक्तियों में कवि की व्यक्तिगत भावना विश्वव्यापी भावना में परिवर्तित हो जाती है। पतझड़ के साथ साथ पुरातनता का ह्रास और वसन्त के साथ साथ नवीनता का आगमन पीड़ित मानव-जाति के लिए सुख का संपादक है।

"ओ हवा!

यदि शीत ऋतु आ गई है तो क्या वसन्त दूर हो सकता है?"

बस, यहीं इस विलक्षण कविता का अन्त होता है। विश्व-साहित्य में इस कविता की तुलना में बहुत कम कविताएँ रक्खी जा सकती हैं।

शैली का 'स्काइलार्क' उसकी ऊर्ध्वगामी वृत्तियों का दिग्दर्शक और 'द क्लाउड' अध्यात्मचेता आत्मा की पुकार है। पंत की 'बादल', 'समुद्र' आदि कई कविताएँ शैली के अनुकरण पर लिखी गई हैं, किन्तु वे भाव और कल्पना की दृष्टि से मौलिक हैं और उनमें कोमल भावनाओं का सुन्दर चित्रण हुआ है।

अन्य कृतियाँ

पंत की प्रमुख कृति 'पल्लव' के पश्चात् 'गुंजन' और 'युगांत' में उनका गम्भीर चिन्तन और दार्शनिक-अन्तर्धारा का प्रवाह हमें देखने को मिलता है। 'पल्लव' में उनकी चित्रमयी कल्पना, जो आकर्षक एवं स्पृहणीय रूप में प्रस्फुटित हुई थी—वह 'गुंजन' में आकर सरस प्रौढ़ता में परिणत हो गई और 'युगांत' में सौन्दर्य-भावना का अन्त होकर एक नवीन प्राण-धारा का उद्रेक हुआ, जिसमें दार्शनिक-सत्य के साथ साथ गंभीर-चिंतन का भी समावेश था। बाहरी तूफानों और हलचलों से टक्कर लेने के पश्चात् कवि में आत्मस्थता आ गई थी और जीवन के प्रति भी सुख-दुःखों से परे उसका सम-दृष्टिकोण था।

"सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन,
फिर घन में ओझल हो शशि—
फिर शशि में ओझल हो घन।
जग-पीड़ित है अति दुख से
जग—पीड़ित है अति सुख से
मानव जग में बँट जावे
दुख सुख से औ' सुख दुख से।"

पंत द्वारा रचित 'ज्योत्स्ना' दार्शनिक-तत्वों से पूर्ण कल्पना-प्रधान नाटिका है। यह पाश्चात्य पद्धति पर कल्पित कथानक लेकर लिखी गई है, जिसमें अनूठा किन्तु सीमित कलावाद है। शेली ने भी 'दि विच ऑफ एटलस' (The Witch of Atlas) में बहुत ही मनोरंजक और आकर्षक ढंग से एक अत्यन्त सुन्दरी जादूगरनी की कहानी लिखी है, जो एक निर्झर के समीप पर्वत-गुफा में रहती थी। कीट्स की मृत्यु के पश्चात् लिखा हुआ शोकगीत 'एडोनेस' (Adonais) भी शेली की अमर कृति है।

परिवर्तित दृष्टिकोण

शेली और पंत के जीवन के कतिपय विभिन्न पहलू हैं—कोई परिष्कृत मधुर-रस से अभिषिक्त, कोई आत्मगत एवं आध्यात्मिक और कोई सामाजिक धरातल पर आधारित। उनकी अधिकतर कृतियाँ कोमल भावनाओं से उच्छ्वसित होकर चलती हैं, किन्तु कुछ में आध्यात्मिक चेतना निहित है। कभी छायावाद में आदर्श-वाद अपनी परिधि में लिपटा हुआ दृष्टिगत होता है और कभी वे जीवन के निकट आकर उसमें झाँकते हुए-से प्रतीत होते हैं। शेली आजन्म गोडविन की फिलॉसफ़ी से प्रभावित रहा, किन्तु प्लेटोनिज़्म में विशेष अभिरुचि होने से वह अपनी सौन्दर्य-चेता आत्मा का हनन न कर पाया। जब जब उसकी वस्तुवादी स्थूल दृष्टि प्रकृत-तत्वों को स्पर्श करती हुई यथार्थवाद की ओर झुकी, तब तब उसकी हृदय को रमाने वाली भावुकता उभर आई और वह तीव्र-अनुभूति एवं आंतरिक सिहरन को व्यक्त किए बिना नहीं रह सका। शेली का अन्तस्तल मानवतावादी है; किन्तु मस्तिष्क में तीव्र भावावेश होने के कारण वह व्यक्ति की अपेक्षा भावना से अधिक अनुप्राणित है। उसकी सृजनात्मक-बुद्धि मानवगत क्रिया-कलापों के आधारभूत तत्वों को स्पर्श करती हुई भी प्रेम और कल्पना की ऊर्ध्वगामी-वृत्तियों में जा अटकती है और उसी की चकाचौंध में खो जाती है। शेली में स्वातन्त्र्य-भावना, विश्व-बन्धुत्व और शोषितों के प्रति गहरा अनुराग और सहानुभूति है।

जहाँ कहीं और जब कभी भी उसका मानवतावादी दृष्टिकोण कविताओं में प्रस्फुटित हुआ है—उसमें गहरा आत्म विश्वास और अन्तर्मुखी चेतना का दर्शन होता है। 'दि मास्क ऑफ एनार्की' (The Masque of Anarchy), 'प्रोमीथियस अनबाउंड' (Prometheus Unbound), 'हेलास' (Hellas) और 'दि ओड टु दि वेस्ट विंड' (The Ode to The West Wind) आदि कविताएँ हमें उसकी प्रेम-कविताओं से भी अधिक प्रभावित करती हैं।

पंत भी समयाश्रित जीवन की कठोर परिस्थितियों से प्रभावित होकर 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में यथार्थ की प्रकृत-भूमि पर उतर आये हैं और एक नवीन दृष्टिकोण को लेकर प्रकट हुए हैं, जो पूर्णतः युग-प्रवृत्ति का निर्देशक है। 'वीणा' से लेकर 'युगांत' तक उन्होंने अपनी आंतरिक-भावनाओं को कल्पना के रंग में रँग कर अर्थ व्यञ्जना की थी, किन्तु अपनी इधर की नव-कृतियों में मृग-मरीचिका के प्रति अपने इस तीव्र आकर्षण को उन्होंने झटके के साथ अस्वीकार कर दिया और अतिशय भावपरकता में पगा हुआ उनका मन वस्तुगत-तत्त्व में पैठने की चेष्टा करता रहा। यद्यपि उनकी चित्रण की पट-भूमि निराला और प्रसाद की भाँति विस्तृत नहीं है, तथापि उनकी अन्तरिक्ष में विचरण करती हुई दृष्टि विकृत-मानवता पर भी यदा कदा आ टिकी है।

"खड़ा द्वार पर लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पंजर,
चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी,
हिलती हड्डी के ढाँचे पर।
उभरी नीली नसें जाल सी
सूखी ठठरी से हैं लिपटी,
पतझर में ठूँठे तरु से ज्यों
सूनी अमर बेल हो चिपटी।"

शेली की एक कविता का भी कुछ ऐसा ही मिलता-जुलता भाव है, जो जीवन और जगत् के मिथ्यात्व का बोध कराता है।

"मेरी एक ऐसे पथिक से भेंट हुई, जो किसी अज्ञात दूर देश से लौट रहा था। उसने बताया कि दो विशाल मानवाकार पत्थर के पैर-विहीन ढाँचे मरुस्थल में खड़े हैं। उनके पास ही एक ओर विरूप मानवाकार प्रस्तर-खण्ड पृथ्वी पर पड़ा है, जिसकी भयङ्कर चेष्टा, विकृत मुखाकृति और भाग्य-विडम्बना का विद्रूप उस मूर्त्ति में इतना स्पष्टतया अंकित है कि मूर्त्तिकार मानव-अन्तर्भावों की अतल गहराई में पैठकर आज भी अपनी कला की अमिट छाप लोगों की दृष्टि के समक्ष छोड़

गया है। उसके कलात्मक हाथों ने जीवन की अस्थिरता का उपहास किया है और उसकी सजग चेतना ने बड़प्पन के गर्व को तोड़ा है। प्रस्तर-खण्ड के नीचे खुदा हुआ है, 'मैं सम्राटों का सम्राट् ओजिमंडियास हूँ। महानुभावो! मुझे देखो और जीवन से निराश हो जाओ।' उस जर्जर, विशाल प्रस्तर-खण्ड के समीप और कुछ न था, केवल अथाह धूल का ढेर उसे चारों ओर से घेरे हुए था।"

पंत की नवीन कृतियाँ 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्ण-किरण' सामाजिक-चेतना और आत्म-परक-भावना से युक्त हैं। जीवन की चकाचौंध और रंगीनियों को निरखते-निरखते कवि की दृष्टि मानो इतनी श्रांत हो गई है कि वह सात्विक उदात्त-भावना में कुछ समय के लिये विश्राम चाहती है। कवि क्रांतिदर्शी हो गया है, उसकी अनुभूति पहले से अधिक जाग्रत है, भावना का परिष्कार हुआ है और चिंतन-प्रवृत्ति भी अपेक्षाकृत विकासोन्मुख और अन्तर्मुखी होती गई है। प्रेमोन्माद और यौवन की खुमारी से आँखें बन्द करके वह स्वस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत करना चाहता है और मानव-कल्याण की भावना से प्रेरित हो अपने युग के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन का नैतिक सदादर्शों पर महत्त्वांकन करता है। उसकी आकांक्षा है कि जन-जन में नवजीवन का संचार हो और अन्धकार में प्रकाश की किरणें फूट पड़ें।

"नवजीवन का वैभव जाग्रत हो जन गण में,
आत्मा का ऐश्वर्य अवतरित मानव-मन में।
रक्त सिक्त धरणी का हो दुःस्वप्न समापन
शान्ति प्रीति सुख का भू-स्वर्ग उठे सुर-मोहन।"

किन्तु पंत में इस नवीन दृष्टिकोण के अवतरित होने के बावजूद भी कल्पना-वैभव और रूप-रंगों के प्रति मोह का सुनहरा तार कभी टूटने न पाया। उनकी पहले की विस्मय-विमुग्ध दृष्टि तलस्पर्शी और शुद्ध आत्मानुभूति में पैठकर भी अनिर्वचनीय-सौंदर्य एवं शृंगारिक-उन्माद से पृथक् न हो सकी।

शैली और पन्त-दोनों ही भावी स्वप्न-स्रष्टा हैं। वे विहंग के स्वर्ण-पंख पर बैठ कर अन्तरिक्ष में विचरते हैं। अमर-सत्य के परीक्षण के लिये उन्होंने अमर कृतियों का सृजन किया है, जिन्हें काल के क्रूर थपेड़े भी अपने गर्भ में कभी समाहित न कर सकेंगे।

प्रद्युम्न कृष्ण

लेखक-परिचय

सुमित्रानन्दन पंत—काव्य कला और जीवन दर्शन

श्रीमती शचीरानी गुर्टू

द्वारा

लिखित और सम्पादित आलोचनात्मक ग्रन्थ

महादेवी वर्मा : काव्य-कला और जीवन-दर्शन :—श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य-ग्रन्थों पर प्रतिनिधि विद्वानों द्वारा लिखे गये समालोचनात्मक निबन्धों का संग्रह। प्रारम्भ में उनकी कला और जीवन-दर्शन की अपूर्व झांकी।

हिन्दी के आलोचक : हिन्दी के प्रमुख आलोचकों की आलोचना शैली की समीक्षा और उनके विराट् व्यक्तित्व का दर्शन।

साहित्य-दर्शन : (दो खण्डों में) देश-विदेश के प्रमुख कवि-कलाकारों, उपन्यासकारों और विश्व-विख्यात लेखकों की तुलनात्मक समीक्षा।

कला-दर्शन : विश्व के प्रमुख देशों की चित्रकला की समीक्षा और भारत के प्रतिनिधि चित्र-कलाकारों पर रेखा-चित्र और उनकी कला-समीक्षा।

ब्रज के सन्त कवि-कलाकर : कृष्ण और राधा-प्रेम भावों से अनुप्राणित प्रमुख सन्त कवि-कलाकारों की काव्य-कला की समीक्षा और उनका जीवन-दर्शन।

विश्व की महान् महिलाएँ : विश्व के सभी देशों की प्रतिनिधि महिलाओं पर सचित्र रेखा-चित्र।

टूटता धागा : श्रीमती गुर्टू की पन्द्रह मनोवैज्ञानिक कहानियों का संग्रह।

सुमित्रानंदन पंत

काव्य कला और जीवन दर्शन

संपादिका

शचीरानी गुर्टू एम० ए०

लेखिका—'साहित्य-दर्शन', 'कला-दर्शन', 'विश्व की महान् महिलाएँ', 'टूटता धागा', संपादिका—'महादेवी वर्मा'—काव्य-कला और जीवन-दर्शन', 'हिन्दी के आलोचक'

१९५१

आत्माराम एण्ड संस

पुस्तक-प्रकाशक तथा विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस,
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
दिल्ली

मूल्य ६)

मुद्रक
रामाधार
नया हिन्दुस्तान प्रेस, दिल्ली

प्राक्कथन

पंत की कविता का पाट बड़ा गहरा है। विकास-क्रम की दृष्टि से उनकी समग्र काव्य-कला को मुख्यतः यों रक्खा जा सकता है।

१. प्रारम्भ में अर्थात् 'वीणा' से 'गुंजन' तक उनकी कविता का मूल-भाव प्रकृति-प्रेम एवं ऐन्द्रिय उल्लास है, जिसमें वस्तु-सत्य के साथ-साथ आत्म-सत्य के समन्वय का प्रयास है।

२. 'गुंजन' के बाद 'युगांत' से आगे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' तक कवि की अनुभूति और जिज्ञासा-वृत्ति अधिक सजग और सचेष्ट हो उठी है। उसके भावोन्माद का अब प्रौढ़ विकास हुआ है और उसकी चिंतासरणि भाव-जगत् में पैठने की अपेक्षा वस्तु-जगत् में अधिक खुलकर विचरण करती है।

३. 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में कवि का सूक्ष्म-चेता मन मार्क्सवादी भौतिक संघर्षों से ऊबकर अध्यात्मवाद की ओर मुड़ा है।

४. और 'युगपथ', 'उत्तरा' आदि उसकी इधर की कृतियों में आत्मोन्मुख मनोभूमि अर्थात् उसके अवचेतन मन के साथ ऊर्ध्वमुखी वृत्तियों का समाहार है, जहाँ उसकी अंतर्भेदिनी दृष्टि स्थूल-तथ्यों पर उतराती हुई सूक्ष्म-सत्यों में रम गई है।

पंत की आरम्भिक कृतियों 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'गुंजन' आदि में कोमल भावानुभूति एवं रागात्मिका वृत्ति का प्राधान्य है। प्रकृति-जगत् और सौन्दर्य-जगत् के मध्य जो झलमल-झलमल आलोक-रेखा कवि को खिंची दीखती है उसी स्निग्ध, तरल तार में उसकी अनगिनत भावनाएँ गुँथी हुई हैं। प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में वह घण्टों बैठा अनुराग की उषः-आभा से अपने प्राणों के अणु-अणु को रस-विभोर करता रहा है और उसकी चिंतन शक्ति का सशक्त आधार अंतरिक्ष-पथ में किन्हीं दुरन्त, मोहमयी, अपार्थिव सूक्ष्म प्रक्रियाओं द्वारा उद्वेलित होता रहा है। कवि ने लिखा है, "पर्वत-प्रदेश के निर्मल चंचल-सौन्दर्य ने मेरे जीवन के चारों ओर अपने नीरव सौन्दर्य का जाल बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के [illegible] की तरह उठने लगी थीं, जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चंदोवे की तरह आँखों के सामने फहराया करता था। कितने ही इन्द्र-धनु मेरी कल्पना के पट पर रंगीन रेखाएँ खींच चुके थे, बिजलियाँ बचपन की आँखों को चकाचौंध कर चुकी थीं, मेघों के गर्जन मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ भागने के लिए

वहां ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाशचुंबी सौन्दर्य मेरे हृदय पर एक महान् संदेश की तरह, एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह तथा एक विराट् व्यापक आनन्द, सौन्दर्य तथा तपःपूत पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था।"

कवि के समक्ष प्रकृति हर मोड़ पर नए-नए रूपों में आ खड़ी हुई है। प्रारम्भ में उसके अन्तर्देश का उन्माद और उल्लास प्रकृति की सौन्दर्य-श्री से मुखरित होकर काव्य-धारा में प्रवहित होता है। उसके काव्य-सृजन के मूल-तत्व सत्यं-शिवं सुन्दरम्, जो उसके प्राणों में औत्सुक्य जगाते हैं, उस समय 'सुन्दर' से अधिक प्रभावित हैं। स्नेह और अनुराग भरे मीठे सपने, हृदय की मधुर सिहरन और किसी अज्ञात रूपसी का बिखरा रूप उसकी उद्भ्रांत चेतना को विमूर्च्छित करता रहा है। वातायन-पथ से उठने वाली शीतल, स्निग्ध, सौरभश्लथ समीर की हल्की-हल्की थपकियाँ, चतुर्दिक् बिखरी दृश्यावली, अवनि-अम्बर की अथाह सुषमा और जीवनमय उन्मद राग कवि की अरूप रुचियों से तद्रूप होकर उसके अंतर्बाह्य को एक विचित्र भंकृति से भर देती है और वह तन्मय होकर गा उठता है—

"मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार,

जिसके चरणों में पला ताल,
दर्पण सा फैला है विशाल।"

कुछ समय तक कवि का चिंतन इस हद तक प्रकृति में तदाकार हो गया है कि वह उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म धड़कन सुना करता है। प्राकृतिक-सुषमा में शराबोर उसका हृदय लहराता है और उसका सुख-दुःख, श्वास-सौरभ, विचार-भावनाएँ, यहाँ तक कि अपने अस्तित्व तक को वह उसमें विलय कर देना चाहता है। न जाने कब के, कहाँ के अमूर्त, अलक्ष्य, उलझे हुए सूत्र उसके अवचेतन मन में घनीभूत होकर प्रकृति की छाया-पथ में बिखर जाते हैं कि वह हठात् दूरत्व, पार्थक्य की कुहेलिका चीरकर उसके सीमाहीन सौन्दर्य में खो जाता है। प्रभात का धूसर आलोक और बाल-रवि की रश्मियों से रंजित प्रकृति का उन्मुक्त प्रसार तथा पक्षियों की मधुर ध्वनि अंतःप्रेरणा के क्षणों में उसकी सूक्ष्मतम अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर लेती है, जिसमें विभोर अंतर्भूत आनन्द की पूर्णता में उसका मूक स्वर उद्बुद्ध हो उठता है—

"स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग-कुल की कल-कण्ठ हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर
न जाने अलस पलक दल कौन
खोल देती तब मेरे मौन।"

समीरण का प्रत्येक हृत्कंपन जब अगाध जल को क्षुब्ध करता हुआ बुलबुलों को बिखेर देता है तो किसी अपरिसीम, अनवद्य रूपराशि की स्मृतियों को झकझोरती हुई लहरें चुपचाप कवि को अज्ञात संकेत करके बुलाती हैं—

"क्षुब्ध जल-शिखरों को जब बात
सिन्धु में मथकर फेनाकर
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन?"

यहाँ तक कि पंत की सूक्ष्म, सौन्दर्यग्राही वृत्ति छाया जैसी अरूप वस्तु में भी रमती है—

"किस रहस्यमय अभिनय की तुम
सजनि! यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है
किस विचित्रता का संसार।"

किन्तु 'गुंजन' में भौतिक यथार्थताओं से टकराकर कवि की किशोर भावना का सौन्दर्य-स्वप्न जैसे विशृंखल हो गया। अपनी अनुभूति की अनुपयोगिता से आहत होकर उसने अपने चिन्तन का क्षेत्र विकसित कर लिया और प्रकृति के माध्यम से असीम चेतन तक पहुँचने की जो एक अव्यक्त, अज्ञात लालसा उसके हृदय के भीतर कहीं छिपी थी उससे हठात् विमुख होकर जीवन के अशेष विफल-पथ पर वह सक्रिय चिन्हों की खोज में निकल पड़ा। छाया-वन की नीरव सघनता से आवृत्त उसकी सूक्ष्म-चेतना, जो भोर की अरुणिमा, सन्ध्या के धुन्ध और उच्च पर्वतों-शृंगों पर छीजते बर्फ़ की श्वेतिमा में रमना अधिक पसन्द करती थी, जो 'प्रत्येक हरी हरी पत्ती के हिलने में एक लय; प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम' और हरियाली की छोटी से छोटी फुनगी को छूकर आत्म-विभोर हो जाती थी, वह यथार्थ के आघात से मानव के चिरन्तन भाव-जगत् की ओर उन्मुख हुई।

"जीवन की लहर लहर से
हँस खेल खेल रे नाविक !"

कवि ने जीवन की सूक्ष्मता में पैठकर उसके चिरन्तन स्वरूप को हृदयंगम करने का प्रयत्न किया।

"महिमा के विशद जलधि में
हैं छोटे छोटे से कण,
अणु से विकसित जग-जीवन
लघु अणु का गुरुतम साधन।"

कवि सौन्दर्य-स्रष्टा से जीवन-द्रष्टा हो गया। उसकी कलात्मक चेतना विकसित होते होते प्रकृति के माध्यम से मानवात्मा में प्रविष्ट हुई और इन्हीं से अन्तर्भूत रूप-व्यापारों ने उसके हृदय पर मार्मिक प्रभाव डाल कर उसके भावों का प्रवर्तन किया। 'ज्योत्स्ना' में कवि ने लिखा—

"न्योछावर स्वर्ग इसी भू पर
देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन बन्धन !"

ज्यों ज्यों उसकी दृष्टि लोकोत्तर भाव में पैठती गई, त्यों-त्यों कवि सौंदर्य-लोक से हरी-भरी, ठोस पृथ्वी पर उतरता गया, यों मार्क्सवाद के भौतिक संघर्ष में उसकी वृत्तियाँ कभी न रमी। 'युगान्त,' 'युगवाणी,' 'ग्राम्या' में युग-जीवन और मानव-व्यक्तित्व प्राणान्वित हो उठा है। कवि छायावाद की सघनता से सामूहिक सुख-दुःखों एवं जीवन-वैषम्य में झाँकने को उत्सुक है—

"मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान प्रेत औ' छाया से रति !"

निष्पीड़ित मानवता के स्नेहल स्पर्श से उसमें नीरव क्रान्ति जगी और उसने जीवन का अधिक व्यापक और चिरन्तन स्वरूप आँका।

"मिट्टी से भी मटमैले तन
फटे, कुचैले, जीर्ण वसन—

× × ×

कोई खण्डित, कोई कुण्ठित
कृशबाहु पसलियाँ रेखांकित

टहनी सी टाँगे, बड़ा पेट
टेढ़े मेढ़े विकलांग घृणित

× × ×

लोटते धूलि में चिर परिचित।"

किन्तु कवि की कोमल आत्मा अधिक दिन तक इस बौद्धिक स्वीकृति से आश्वस्त न हो सकी। भौतिक संघातों से ऊबकर वह पुनः चिरन्तन सत्य और कल्पना के समानान्तर शाश्वत सनातन गुणों की ओर आकृष्ट हुआ। कदाचित् भीतरी आध्यात्मिक चेतना का दबाव इतना तीव्र हो गया था कि बाह्य की भौतिक सीमाएँ तोड़कर अन्ततः उसकी इधर की कृतियों में फूट पड़ा। 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में कवि की आत्मा का मुक्त उल्लास, साधना की तल्लीनता और शाश्वत जीवन-जागृति की स्फूर्ति है। उनमें जीवन की पूर्णता में स्वर्णिम-आभा और एक नया आलोक फूटता नज़र आता है।

"यह छाया भी है अविच्छिन्न
यह आँख - मिचौनी चिर सुन्दर
सुख-दुख के इन्द्रधनुष रंगों की
स्वप्न-सृष्टि अज्ञेय, अमर।"

'युगपथ', 'उत्तरा' आदि कवि की परवर्ती कृतियों में उसकी आत्म-भाव की परिधि व्यापक होती गई है। जीवन का स्थूल अर्थ, यथार्थता और अनुक्रम मानों मिट गया है, उसके स्तब्ध प्राण किसी [illegible], किसी अन्तर्भाव सत्य से अनुप्राणित हैं। कलाकार और मानव-चेतना में जो सहज विद्रोह उठ खड़ा हुआ था वह तिरोहित हो गया। जीवन के स्थूल पहलुओं से वह आज एक विशाल आत्मा की अन्तर्साक्षी में रम गया है।

जीवन-दर्शन

निःसन्देह, पंत की संपूर्ण साधना अंतर्भूत सत्य के आधार पर पार्थिव जीवन की सूक्ष्म, दार्शनिक परिणति में है। प्रारम्भ में उन्होंने जिन सुनहले स्वप्नों को संजोया वे जीवन के कठोर तल से टकराकर बिखर गए और पुनः विराट् का स्पर्श पाकर उनके सारे द्वन्द्व, सारे संघर्ष सीमा का व्यवधान मिटाकर सान्त से अनन्त में एकाकार हो गए। कभी प्राणों के उन्मद राग से उनके भीतर का मौन काँप उठा, कभी असम्बद्ध जीवन-प्रयोगों को आत्मसात् करके वे हतसंज्ञ हो उठे और कभी उन्होंने अपनी कला की सूक्ष्मता से व्यष्टि-व्यक्तित्व में समष्टि का सामंजस्य दर्शाया। उनके सम्पूर्ण कृतित्व में स्थान-स्थान पर

उनकी बाहरी और भीतरी वृत्तियों में असमंजस पैदा हो गया है, लौकिक और आत्मिक जीवन में कशमकश सी रही है। कवि के अन्तर्मन का ऊहापोह कभी अशरीरी, स्वप्नमय, लोकातीत भावनाओं में परिव्याप्त हो गया और कभी बाह्य परिस्थितियों एवं मानव-द्वन्द्वों से उसका अन्तर उद्वेलित हो उठा। कभी उसकी उद्भ्रांत चेतना निस्सीम सुषमा में खोगई और कभी जीवन के व्यापक सामंजस्य के मूक दर्शन में उसने उसकी आंखें मूँद ली।

वस्तुतः पंत की सुकोमल अंतर्वृत्तियों में जो कशमकश सी है—वह न सिर्फ आन्तरिक, वरन् बाह्य प्रेरणाओं के कारण भी है। साहित्य-क्षेत्र में आलोचकों के जो दो दल हैं, रूढ़िवादी और मार्क्सवादी—उन्होंने समय समय पर अपनी आलोचना से कवि के कोमल मन को झकझोरा है। वह स्वभावतः स्वप्नदर्शी होते हुए भी कुछ अन्तः-प्रेरणा और कुछ प्रगतिशील आलोचकों के प्रबल आग्रह से प्रगतिशील बना, किन्तु दूसरे आलोचकों के दल ने उसे स्वप्नदर्शी ही बने रहने की प्रेरणा दी। कवि का सरल मन अनेक स्थलों पर द्विविधाग्रस्त सा हो उठा है और उसकी निर्भ्रान्त धारणाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाई है। कवि द्वारा अपने व्यक्तित्व और कला की आलोचना, जो उसने स्वयं की है, पढ़ने से हमारे कथन की पुष्टि हो जाती है और मननपूर्वक पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि पर बाह्य-प्रेरणाओं का दबाव अपेक्षाकृत अधिक रहा है, यहाँ तक कि वह अपने जीवन और कृतित्व की आलोचना भी उस तटस्थता से न कर सका, जैसी कि एक आत्म-जागरूक कलाकार को करनी चाहिए। आलोचनाओं को पढ़ते हुए हमें ऐसा बार बार खटका है जैसे पंत जी ने अपने आलोचकों की आलोचना पढ़कर अपनी आलोचना लिखी हो। कदाचित् यह उनके मन की सरलता अथवा अधिक कोमल-वृत्ति के कारण हो उनमें अपनी आलोचना करते हुए कहीं कहीं आत्मश्लाघा का भाव आ गया है जैसे 'मैं शर्मीला और जनभीरु था' 'मैं प्रकृति को एकटक निहारा करता था' अथवा ऐसा ही भाव व्यंजित करने वाले अन्य वाक्य कि मैं यह था—वह था उसी के समकक्ष हैं जैसे कोई आत्म-जिज्ञासु, जीवन-द्रष्टा के मुख से यह कथन अशोभनीय है, 'देखो, मैं कितना सुन्दर हूँ।'

कहना न होगा कि 'वीणा' से 'उत्तरा' तक आते आते कवि ने एक गहरे पाट को लाँघा है। आज वह अनेक चक्करदार मोड़ों से निकल कर अपने अभीप्सित पथ पर आ गया है। अब उसे किधर मुड़ने की प्रेरणा होगी—यह कौन बता सकता है।

× × ×

ऊपर हमने संक्षेप में कवि की मूल प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराया है। प्रस्तुत ग्रंथ में उनकी काव्य-कला और जीवन-दर्शन पर विभिन्न विद्वानों ने अपने

अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। इधर प्रायः पंत की कृतियों को लेकर दो प्रमुख विचार धारा के आलोचकों में खींचातानी सी रही है। प्रस्तुत संग्रह में डॉक्टर रामविलास शर्मा का लेख मार्क्सवादी विचारधारा के आलोचकों का प्रतिनिधित्व करेगा।

कुछ वर्षों से यह विवाद का विषय रहा है कि साहित्य में चिरंतन सत्य की अभिव्यक्ति अधिक अभिप्रेत है अथवा तात्कालिक सामाजिक समस्याओं का ही चित्रित किया जाना। आज जब रोटी का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है और जीवन मरण की विभीषिका लपलपाती जिह्वा से रक्त चूँस रही है तो उससे आँखें मूँद फेरकर कोई कैसे उदासीन हो सकता है। किन्तु यह भी कैसे संभव है कि पेट की भूख ही सब कुछ है और आत्मा की भूख कुछ नहीं। कैसे कोई सामाजिक समस्याओं में ही परितोष पाकर निस्सीम सुषमा और प्रकृति के अनंत वैभव से आँखें मींचकर जी सकता है। साहित्य में सदैव से दोनों की कांक्षा रही है, दोनों ने अधिकार माँगा है, दोनों समानान्तर लीकों पर देखा गया है।

पंत की कविता शाश्वत-सत्य और युग-सत्य की सफल अभिव्यक्ति है। उन्होंने प्रकृति की रंगीनी में दिव्य, चिरंतन विराट्-रूप का दर्शन किया है, साथ ही सामाजिक जीवन की समस्याओं पर भी दृष्टि-निक्षेप किया है। अतएव उनके काव्य को हम चिरंतन सौंदर्य-बोध और युग-बोध का निगूढ़ सामंजस्य कह सकते हैं।

अन्त में, हम अपने उन सभी साहित्यिक बन्धुओं के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने प्रस्तुत संग्रह के लिए लेख देकर अपनी उदारता और सौजन्य का परिचय दिया है। विशेष रूप से भाई प्रभाकर माचवे ने अपने सत्परामर्श और श्री राहुल सांकृत्यायन, बच्चन, दि० के० वेडेकर और शमशेरबहादुर सिंह के लेख भेजकर इस पुस्तक को सुन्दर रूप देने में हमारी सहायता की है। उनकी मैं विशेष कृतज्ञ हूँ।

७/२३ दरियागंज, दिल्ली
शिवरात्रि, २००७ सम्वत्

शचीरानी गुर्टू

सुमित्रानंदन पंत

पंतजी अपनी जन्म-भूमि (अल्मोड़ा जिले) से प्रयाग-विश्व-विद्यालय में पढ़ने आये थे। तभी से आज तक प्रयाग में ही हैं। प्रयाग की पवित्र-भूमि से इन्हें बहुत प्रेम है। इनकी काव्य-कला और जीवन-दर्शन की झाँकी प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलेगी।

शिवचन्द्र नागर

प्रारंभिक शिक्षा मुरादाबाद में प्राप्त की। प्रयाग-विश्व-विद्यालय से एम० ए०, पुनः एल० एल० बी० किया। कहानी, कविता, गद्यगीत, संस्मरण, रेखा-चित्र आदि लिखते हैं। आजकल प्रयाग में रहकर विशेष स्वाध्याय-रत हैं।

राहुल सांकृत्यायन

महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन अनेकों भाषाओं के विद्वान् लेखक हैं। उपन्यास, दर्शन, साहित्य लिखते हैं। मास्को में अध्यापक भी रह चुके हैं। आजकल मसूरी में रह कर किसी विशेष ग्रन्थ-निर्माण में संलग्न हैं। भारतीय विद्वानों में आप का प्रमुख स्थान है।

बच्चन

श्री हरिवंशराय 'बच्चन' हिन्दी के प्रमुख कवियों में हैं। प्रारंभिक शिक्षा प्रयाग में प्राप्त की। प्रयाग-विश्व-विद्यालय से अंग्रेजी में एम० ए० किया। इनकी कविताएँ बड़ी लोकप्रिय हैं। आधुनिक हिन्दी-कवियों में निराला और पंत के बाद 'बच्चन' को ही लोकप्रियता प्राप्त हुई। आजकल प्रयाग विश्व-विद्यालय के अंग्रेजी-विभाग में अध्यापक हैं।

विनयमोहन शर्मा

मध्य-प्रान्त के प्रमुख विद्वान् समीक्षक आचार्य श्री विनयमोहन शर्मा नागपुर विश्व-विद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। कई भाषाओं के विद्वान् हैं। कविता, समालोचना लिखते हैं। इनकी कई समालोचनात्मक और काव्य-पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। समालोचना-क्षेत्र में आप पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

प्रभाकर माचवे

महाराष्ट्रीय होते हुए भी हिन्दी के पंडित हैं। अंग्रेज़ी और दर्शन में एम० ए० किया है। मराठी लेखकों में जितनी हिन्दी की सेवा इनके द्वारा हुई है, हिन्दी संसार इनका कृतज्ञ है। गद्यगीत, एकांकी नाटक, कहानी, समालोचना लिखते हैं। बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् हैं। कई भाषाएँ जानते हैं। महात्मा गान्धी के सम्पर्क में रह कर उनकी कृपा और आशीर्वाद प्राप्त कर चुके हैं। आजकल ऑल-इंडिया रेडियो के इलाहाबाद स्टेशन में कार्य करते हैं। हमें दुःख है कि भारत सरकार ने इनकी योग्यता के अनुरूप अभी कार्य नहीं सौंपा है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

बाल्यावस्था में जयशंकर प्रसाद, रायकृष्णदास से साहित्यिक प्रेरणा प्राप्त हुई। प्रारंभ में कविता लिखते रहे, बाद में समालोचना की ओर झुकाव हुआ। इनकी कई समालोचनात्मक पुस्तकें छपी हैं। समालोचना-क्षेत्र में इनका बड़ा सम्मान है। आजकल काशी में ही एकान्त साहित्य-साधना के साथ जीवन-यापन कर रहे हैं।

डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान

समालोचना लिखते हैं। इनकी कई समालोचनात्मक पुस्तकें छपी हैं। आजकल ईस्ट पंजाब यूनीवर्सिटी के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं। शिमला में रहते हैं।

कन्हैयालाल सहल

आजकल बिड़ला-कॉलेज (पिलानी) के हिन्दी-संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं। समालोचना लिखते हैं। इनकी कई समालोचनात्मक पुस्तकें छपी हैं।

गोपालकृष्ण कौल

नवयुग के सहायक सम्पादक हैं। कविता और समालोचना लिखते हैं।

रामचरण महेन्द्र

हरबर्ट कॉलेज (कोटा) के अंग्रेजी विभाग में अध्यापक हैं। कहानी, एकांकी नाटक, समालोचना लिखते हैं। आजकल एकांकी-नाटकों पर रिसर्च भी कर रहे हैं।

डॉक्टर देवराज

लखनऊ विश्व-विद्यालय में दर्शन के अध्यापक हैं। साहित्य, दर्शन पर ओजपूर्ण समालोचना लिखते हैं।

विश्वम्भर 'मानव'

आगरा विश्व-विद्यालय से हिन्दी में एम० ए० कर लेने पर आगरा-कॉलेज आगरा, गोकुलदास हिन्दू गर्ल्स कॉलेज मुरादाबाद, क्वीन्स कॉलेज काशी में अध्यापक थे। आजकल इलाहाबाद के रेडियो स्टेशन पर श्री पन्त के सहयोगी हैं। कविता, कहानी, एकांकी नाटक, समालोचना लिखते हैं। कई भाषाएँ जानते हैं। छायावाद, रहस्यवाद के विशेष व्याख्याकार हैं। इनकी कई समालोचनात्मक और काव्य-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

डॉक्टर सत्येन्द्र

आज से १६ वर्ष पूर्व जब कि हिन्दी-समालोचना-क्षेत्र में इने-गिने समालोचक थे; तभी सत्येन्द्र ने समालोचना-क्षेत्र में प्रवेश किया। ब्रजभाषा-साहित्य संस्कृति पर अनुसन्धान करने पर आगरा विश्व-विद्यालय ने इन्हें पीएच. डी. प्रदान किया। इनकी कई समालोचनात्मक पुस्तकें छपी हैं। आजकल जैन-कॉलेज आगरा में वाइस-प्रिंसिपल का कार्य कर रहे हैं।

कृष्णकुमार सिनहा

समालोचना लिखते हैं। साहित्य-समृद्धि में सहायक होंगे, ऐसी आशा है।

रघुवंशनारायण

समालोचना लिखते हैं।

शमशेर बहादुरसिंह

समालोचना, कहानी आदि लिखते हैं। प्रयाग में रहते हैं।

दि० के० बेडेकर

महाराष्ट्रीय हैं। नागपुर में रहते हैं। बड़ी ही स्वस्थ समालोचना करते हैं।

डॉक्टर नगेन्द्र

हिन्दी और अंग्रेजी में एम. ए. हैं। रीति-कालीन साहित्य पर अनुसन्धान किया था, इस पर आगरा विश्व-विद्यालय ने डी. लिट्. प्रदान किया। कविता और समालोचना लिखते हैं। इनकी कई समालोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।